प्रकाशक
समीक्षा-संसद्
की ओर से
सरस्वती-मंदिर
जतनबर, काशी

प्रथम संस्करण : १०००
मूल्य : ४)

मुद्रक—
विश्वनाथ भार्गव,
मनोहर प्रेस, जतनबर, काशी।

अनुक्रम

साहित्य और लोकजीवन १—३
भारतेंदु ४—२२
'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल' ४
'नाटक किस चिड़िया का नाम है' ६
नाटककार भारतेंदु १७
आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी २३—३५
द्विवेदीजी का कर्तृत्व २३
द्विवेदीजी का भाषा पर प्रभाव २६
महावीर-तीर्थ की यात्रा ३०
बाबू श्यामसुंदरदास ३६—३८
आचार्य रामचंद्र शुक्ल ३९—४९
जीवनवृत्त ३९
कार्य-कलाप ४२
हा मैथिके ! ४७
हरिऔधजी की लोकदृष्टि ५०—५३
गुप्तजी की साहित्य-साधना ५४—५८
वर्तमान काव्यधारा ५९—६६
रहस्य-स्वच्छंदता ५९
छाया-रहस्य ६२
महादेवीजी का रहस्य-काव्य ६७—६८
जयशंकर 'प्रसाद' ६९—८३
'अजातशत्रु' में अजातशत्रु की समस्या ६९
'स्कंद' और 'देवसेना' ७४
कहानी-कौशल ७९
प्रगतिवाद ८४—१०७
लक्षण और हेतु ८४
दो टाट ९०
मानवता ९४
रसभूमि ९८
स्वरूपभेद १०३

दिनकर	१०८—१२३
प्रबंध कविता—'कुरुक्षेत्र'	१०८
निबंध-कविता	११७
वीरकाव्य—हल्दीघाटी	१२४—१३१
स्केच या रेखामात्र निबंध	१३२—१३८
'पुस्तकालोचन'	१३९—१४४
कथा-कहानी	१४५—१६०
साहित्य में स्थान	१४५
'यथार्थ' का विचार	१५०
हास्य-विनोद	१५४
प्रेमचंदजी की प्रवृत्तियाँ	१५८
परिशिष्ट	१६१—२२९
द्रष्टा और स्रष्टा भारतेंदु	१६३
काव्य-पुरुष	१६९
'प्रसाद'—प्रकृति का उपयोग	१७५
—प्रसाद का कर्तृत्व	१८०
एकांकी नाटक	१८४
वक्रोक्ति और अभिव्यंजना	१९१
निबंध	१९८
हिंदी भाषा—त्रिविध रूप	२०३
—अंतःप्रांतीयता का प्रश्न	२०७
साहित्यिक पलायनवादी क्यों ?	२१२
साहित्य की सामाजिकता	२१७
साहित्य में व्यष्टि और समष्टि	२२४

हिंदी का सामयिक साहित्य

साहित्य और लोकजीवन

साहित्य का जीवन से अटूट संबंध है। जो साहित्य जीवन से विच्छिन्न होकर चलता है वह बहुत दिनों तक ठहर नहीं सकता। ज्यों ज्यों जीवन-धारा बल खाती, फैलती, सिकुड़ती, तीव्र होती, मंद पड़ती, स्वच्छ होती या गँदली होती हुई आगे बढ़ती है त्यों त्यों साहित्य-धारा भी अपने रूप बदलती चलती है। कभी जीवन-धारा आगे बढ़ जाती है और साहित्य-धारा पिछड़ जाती है; पर ऐसा नहीं हो सकता कि जीवन-धारा एकदम पृथक् रूप में बहती हो और साहित्य-धारा बहुत दिनों तक उससे पृथक् रूप में ही बनी रहे। यदि कभी ऐसे अवसर आ उपस्थित होते हैं तो दोनों धाराओं को जोड़नेवाले भी उत्पन्न हो जाते हैं, अनिश्चित काल तक दोनों की विच्छिन्नता रह ही नहीं सकती। जब जीवन-धारा के मोड़ने में कठिनाई उपस्थित होती है और वह बहुत दिनों में मुड़ पाती है तभी साहित्य-धारा भी पिछड़ी रह जाती है, क्योंकि जब तक उस धारा का रुख निश्चित नहीं हो पाता तब तक साहित्य-धारा अपनी पुरानी लीक पर ही चलती रहती है, किंतु ज्यों ही जीवन-धारा ने निश्चित रुख पकड़ने का आभास दिया नहीं, साहित्य-धारा को मोड़नेवाले तुरंत उसे उसका अनुगामी बनाने लगते हैं। ज्यों ही साहित्य-धारा मुड़ी, जीवन-धारा की गति तीव्र हो जाती है। साहित्य जीवन के आदर्शों को लेकर चलता अवश्य है, पर स्वरूप-निश्चय के अनंतर वह जीवन को अपने साथ ले चलता है, अपना अनुगामी भी बना लेता है।

इतना होने पर भी साहित्य-धारा का एक निश्चित पथ होता है, जीवन के स्थायी आदर्शों का रूप बिगड़ सकता है, उसमें ऐसे विकार उत्पन्न हो सकते हैं जिनसे ग्रस्त होकर उसकी धारा जीवन धारण करनेवालों को ही नष्ट-भ्रष्ट करने लग जाय, पर साहित्य के स्थायी आदर्श बदलते नहीं। उन्हीं आदर्शों को सामने रखकर वह जीवन का संस्कार करने लगता है और उसके विकार की औषध बन जाता है। साहित्य के आदर्श जीवन के विकार को सह नहीं सकते। यदि जीवन की तीव्र धारा की चपेट में कोई साहित्य अपने मूल आदर्शों से भी हटता हुआ दिखाई दे तो समझ लेना चाहिए कि साहित्य जीवन के किसी एक कोने से चिपट गया है। साहित्य की यह दासता अथवा विवशता बहुत दिनों तक नहीं रह सकती। गतिशील जीवन-धारा ज्यों ही तीव्र होती है

साहित्य अपने मूल आदर्शों को तुरंत अपने सामने रख लेता है। जीवन बहुरंगी होता है, साहित्य भी बहुरंगी होता है, पर वह जीवन का जो स्वरूप अपने आदर्श में झलकाना चाहता है वह जीवन का कोई एक कोना नहीं होता। उसके आदर्श में चाहे प्रतिबिंब एक कोने का ही पड़े, पर झलक मिलती है पूरे जीवन को। किसी दर्पण में सिर्फ किसी की उँगलियाँ देखकर उसके शरीर की पूरी कल्पना करना कठिन काम है, पर किसी का मुख देखकर उसके सारे शरीर की स्थूल आकृति आँखों में नाचने लगती है। साहित्य जीवन का जो प्रतिबिंब अपने आदर्श में झलकाता है वह मुख ही होता है, क्योंकि वह जीवन की पूरी कल्पना कराना चाहता है। यदि किसी साहित्य में जीवन-वपु की कोई उँगली, अँगूठा, हाथ, टाँग ही दिखाई पड़े तो समझ लेना चाहिए कि यह साहित्य की नहीं, साहित्यकार की गलती है।

जीवन में वर्ग, श्रेणियाँ, संप्रदाय आदि कितने ही हो सकते हैं, पर किसी एक वर्ग, एक श्रेणी या एक संप्रदाय को पूर्ण जीवन नहीं कह सकते। जीवन व्यष्टि में न होकर समष्टि में होता है। जिस प्रकार की विचार-धारा, भाव-धारा, व्यवहार-धारा समष्टि में से होकर बहती है वही जीवन-धारा है, वही लोक-धारा है। यदि व्यष्टि में ही समष्टि की इन धाराओं का प्रवाह लक्षित किया जाय तो वही व्यष्टि समष्टि के लिए प्रतीक बन जाती है। जीवन के भीतर समष्टि की ये धाराएँ जिस व्यापक एवं विस्तीर्ण क्षेत्र से होकर बहती हैं उसी का नाम है लोकजीवन। यही जीवन-वपु का मुख है। साहित्य के आदर्श में इसी स्वरूप की झाँकी मिलती है। किसी वर्ग, श्रेणी या संप्रदाय मात्र की झलक लोकजीवन की झलक कदापि नहीं हो सकती। साहित्य का उद्देश्य उससे कभी पूर्ण नहीं हो सकता, वह उस झलक को दिखाकर कभी सफल नहीं हो सकता। देश-भेद से लोकजीवन नहीं बदलता, स्वरूप-भेद मात्र हो जाता है। वर्ग आदि बदले हुए मिल सकते हैं, पर लोकजीवन की झाँकी मिलती जुलती होगी। कहीं की झाँकी प्रफुल्ल होगी और कहीं की उदास, कहीं की दर्पपूर्ण और कहीं की शिथिल, कहीं की क्रोधपूर्ण और कहीं की विनत, पर लोकजीवन की सभी झाँकियों में वे ही मानवी मूर्तियाँ होंगी। चेहरे की बनावट, रंग और माप का ही अंतर होगा। साहित्य यदि अपने दर्पण में मानवता की इस सर्वसामान्य झाँकी का आभास दे सके, लोकजीवन को अपने चित्रपट में खींच सके तो उसका काम हो गया।

सभी देशों में जीवन के जटिल प्रश्न, द्वंद्व या समस्याएँ स्वरूप-भेद से एक ही प्रकार की होती हैं। विश्वचक्र स्थूल रूप से एक सा ही प्रवर्तित होता रहता

है। पर विभिन्न देशों की संस्कृतियाँ भिन्न भिन्न हुआ करती हैं। जिस प्रकार स्वतंत्र देशों में धनी-निर्धन, विद्वान्-मूर्ख, सज्जन-असज्जन, कठोर-कोमल होते हैं उसी प्रकार परतंत्र देशों में भी, जिस प्रकार ऊँची-नीची श्रेणियाँ, बड़ी-छोटी कोटियाँ, बुद्धि एवं श्रम के वर्ग पश्चिमी देशों में हैं उसी प्रकार पूर्वी देशों में भी, जिस प्रकार माता-पिता, पुत्र, पति-पत्नी, पशु-पक्षी, लता-वृक्ष उत्तरी देशों में हैं उसी प्रकार दक्षिणी देशों में भी। पर संस्कृतियाँ सबकी भिन्न-भिन्न हो सकती हैं और हैं। जो संस्कृति अँगरेजों की है वह अरबों की नहीं, जो अरबों की है वह भारतीयों की नहीं। इसलिए लोकजीवन को लेकर चलनेवाला साहित्य सबसे पहले संस्कृति को देखता है। यदि संस्कृति को छोड़कर किसी देश का साहित्य चलता हो तो वह नकली हो जायगा। यदि अरबों के साहित्य में कोई भारतीयों की संस्कृति झलकाने लगे तो वह नकली या भ्रांत होगा। भारतीयों के साहित्य में यदि अँगरेजों या अरबों की संस्कृति झलकाई जाय तो ठीक इसी प्रकार यह भी भूल या धोखा होगा।

साहित्य की सच्ची धारा जिस प्रकार जीवन की सच्ची या मूल धारा से प्रेरित एवं उत्तेजित होती है उसी प्रकार यह जीवन-धारा के बहाव को बनाए रखने के लिए, उसमें एकत्र होनेवाले कूड़ा-करकट को, सड़ी-गली और बदबूदार चीजों को धारा के साथ बहा देने के लिए उसे तीव्र भी कर देती है। लोकजीवन की झाँकी के साथ-साथ संस्कृति की झाँकी कराना और बिगड़े हुए रूप को सँवारने का संकेत देना, या लगे हुए मैल को पोंछ डालने का इंगित करना भी उसका काम होता है। इसीलिए वह यथार्थ रूप को आदर्श के भीतर झलकाता है। अतः साहित्य की रचना में हाथ डालनेवालों का यह कर्तव्य होता है कि देश की संस्कृति और उसके आदर्श को न भूलें, लोकबाह्य जीवन को त्याग कर लोकजीवन को अपनी रचना का विषय बनाएँ। जीवन-धारा से विच्छिन्न होती हुई साहित्य-धारा को उससे मिलाए रखने का प्रयत्न करें और दोनों को मिलाकर कूड़ा-करकट दूर करके जीवन-धारा को निर्मल बनाएँ।

'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल'

निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल॥

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के इस कथन में विश्वास करनेवाला, इस राजनीति में सहृदय साहित्यिक के अतिरिक्त कोई न होगा। इसका हेतु यही है कि नीति दृष्टिपथ में बसे वर्तमान को ही देखती है और भविष्य की अँधेरी गुफा टटोलने का प्रयास करती है, पर सिर मोड़ कर अतीत की ओर देखने की सोचती। जो पीछे मुड़कर देखता है वही देख पाता है। भारत की प्राचीन पर दृष्टिपात कीजिए तो पता चले कि भारत की उन्नति का हेतु अपनी थी या नहीं; चाहे वह 'भारती' अमरभारती हो, संस्कृत हो, चाहे 'पाउअ' (प्राकृत भारती) हो, असंस्कृत हो, चाहे 'अवहट्ट भासा' (अपभ्रष्ट =अपभ्रंश भाषा) हो। भाषा की जितनी उन्नति थी देश की, जाति की, की भी उतनी ही उन्नति थी। यह कभी नहीं हुआ कि भाषा उन्नत हो देश अवनत, भाषा अवनत हो और देश-समाज उन्नत। संस्कृत की समृद्धि साथ देश की, समाज की समानांतर समृद्धि को देख लीजिए, मिला लीजिए। ज्यों भाषा की उन्नति या जब जब उसका उत्थान हुआ, अवनत समाज भी त हुआ। इस तर्कशील युग में यह बतलाना आवश्यक है कि ऐसा क्यों है। ऐसा हुआ है इसके उदाहरण तो प्राचीन इतिहास से सदा मिलेंगे सर्वत्र मिलेंगे। भारत ही में नहीं, बाहर भी। जिनके पास भाषा नहीं, उनके सभ्यता नहीं, संस्कृति नहीं। जिनके पास भाषा है उनकी सभ्यता है, ति है।

भाषा वह वरदान है जो मनुष्य को मिला है। पशुओं की भाषा नहीं, जान- की सभ्यता-संस्कृति नहीं। मनुष्य को यह वरदान मिला है आगे बढ़ने के , ज्ञानार्जन के लिए। पशु-पक्षियों को प्रकृति जितना विकसित कर देती है, रिक या बाह्य विकास कर देती है उसी से वे जीवन ढोते रहते हैं, प्रकृति से बढ़ नहीं पाते, भाषा-वाले मनुष्य को प्रकृति से आगे बढ़कर संस्कृति तक का अवसर मिलता है। मनुष्य के बाप दादे अतीत में जो कमाई करके रख

गए हैं, गँठियाकर धर गए हैं, ग्रंथ बनाकर संचित कर गए हैं उसका उपभोग वे भी आज कर रहे हैं। जानवरों की बपौती नहीं, बाप-दादों की कमाई नहीं, अपना जाँगर, अपना पेट। उनका समाज भी नहीं। स्वार्थ से आगे उनमें परार्थ-परमार्थ नहीं। मनुष्य ही में सब कुछ है, पशु 'स्व' से आगे कुछ न देखता है न समझ पाता है, मनुष्य 'पर' के लिए 'स्व' का त्याग करता देखा जाता है। यह सब कैसे वह करता है? ज्ञान होने से, भाषा होने से। जिनके पास भाषा नहीं उनके पास ज्ञान नहीं, उनका प्रसार नहीं। वे सभ्य नहीं। इसे यों भी कह सकते हैं कि जिनके पास भाषा है, उनके पास ज्ञान है। जितनी पुरानी भाषा, उतना ही अधिक ज्ञान, उतनी ही अधिक सभ्यता। जब से भाषा का आरंभ हुआ तभी से सभ्यता, सामाजिकता, संस्कृति का भी विकास हुआ। मनुष्य की उन्नति हुई। भारत का मान संसार में क्यों हुआ? भाषा के कारण, अपनी भाषा के ज्ञान के कारण। भारतीयों की जो भाषा प्राचीन युग में थी उसका ज्ञान परंपरागत सभी करते रहे। वैदिक भाषा को सभी रक्षित करते आए। वेद-ग्रंथ की जितनी शाखा-प्रशाखाएँ हुईं सबने उसे रक्षित रखा। लिखकर नहीं तो सुनकर, स्मरण रखकर—श्रुति से, स्मृति से। इतना प्राचीन वाङ्मय संसार की कोई पुरानी से पुरानी जाति रक्षित न रख सकी। भारत की प्रतिष्ठा उसकी भाषा के कारण, उसके ज्ञान के कारण है। किसी के बाप-दादों ने घी खाया हो तो वह अपना हाथ सुँघाकर यह प्रतीति किसी को नहीं करा सकता कि हमारे बाप-दादों ने घी खाया ही है। पर किसी के बाप-दादों ने ज्ञानामृत का पान किया हो, विद्यामृत को चक्खा हो तो वह ग्रंथों की गाँठ खोलकर कहेगा कि नाक बंद करो, आँखें खोलकर देख लो। भारत यही कह रहा है।

भारत में अपनी भाषा थी, अपना राज था। दैव-दुर्विपाक से राज अपना न रहा, पर भाषा अपनी रही; राष्ट्रभाषा तो सदा अपनी ही रही है, अपनी ही रहेगी। अपना राज न रहने पर राजभाषा कुछ समय के अनंतर बदली। पर साहित्य में राष्ट्रभाषा जो निर्माण करती रही उसके कारण पराधीनता के पाश में भी मुक्ति के लिए अवकाश बना रहा। पर संप्रति राजनीति के चक्कर में राष्ट्रभाषा क्या राजभाषा निज भाषा घोषित कर दी गई है, स्वतंत्रता मिल गई है, पर पराधीनता का बंधन अभी शीघ्र टूटनेवाला नहीं। भाषा और साहित्य की पराधीनता स्वतंत्र को पराधीन बना देती है। भाषा और साहित्य की स्वतंत्रता, पराधीन को स्वतंत्र कर सकती है। भारत इसका उदाहरण है, रहेगा। इस देश से विदेशी अंकुश हट जाने पर भी विदेशी भाषा और साहित्य

का अंकुश जब तक बना रहेगा', भारत स्वतंत्र होकर परतंत्र ही रहेगा। इसे गाँठ बाँधिए। 'निज भाषा का ज्ञान बिना हुए शूल' निकल न सकेगा।

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र हिंदी के जन्मदाता कहे जाते हैं। तो क्या भारतेंदु बाबू ने ही हिंदी को जन्म दिया, इसके पहले हिंदी न थी। हिंदी थी, 'हिंदी भाषा का व्यवहार किया जाय' इसके आंदोलन थे, हिंदी का साहित्य था। फिर हिंदी के जन्मदाता भारतेंदु कैसे हुए। बात यह है कि हिंदी, हिंदी-साहित्य और हिंदी-आंदोलन होने पर भी 'हिंदी का ज्ञान' न था। 'हिंदी का ज्ञान' भारतेंदु हरिश्चंद्र ने ही आधुनिक समय में सबको कराया। हिंदी को उन्होंने नया जन्म दिया। हिंदी की प्रवृत्ति उन्होंने बदली। हिंदी अपने 'निज' साँचे में ढली। इसीसे भारतेंदु हरिश्चंद्र उसके जन्मदाता कहे जाते हैं। उन्होंने जो आंदोलन चलाया वही साहित्य-क्षेत्र से उठाया गया शुद्ध आंदोलन था। इसके पूर्व हिंदी का जो आंदोलन था वह धर्म-गुरुओं द्वारा उठाया आंदोलन था, वे धर्म-गुरु चाहे विदेशी धर्म के पुरोहित हों चाहे देशी धर्म के समाजी-सनातनी हों, पुरातनी हों चाहे अद्यतन', वे धर्मप्रचार की दृष्टि से राष्ट्रभाषा की चर्चा करते थे, भावप्रसार की दृष्टि से नहीं। भाषा और साहित्य के समन्वय के साथ इस आंदोलन का आरंभ भारतेंदु हरिश्चंद्र के ही समय से हुआ। हिंदी के ज्ञान का आरंभ वहीं से हुआ।

भारतेंदु के अनंतर पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी ने उसकी ओर अपनी दृष्टि डाली। देश-विदेश की सारी सामग्री उसमें संचित कर देने का उन्होंने व्रत लिया। इसकी प्रतिष्ठा, इसका श्रीगणेश भी भारतेंदु ही कर गए थे, पर वे शीघ्र काल-कवलित हो गए, इससे अपने उठाए कार्य को चरमावस्था तक न पहुँचा सके। द्विवेदीजी ने हिंदी-साहित्य में सब प्रकार की प्रभूत सामग्री एकत्र की, भाषा को साधु भाषा बनाकर उसकी उन्नति की। पर द्विवेदीजी के प्रयास का जो सत्प्रभाव पड़ना चाहिए था वह न पड़ा, अपने अतीत की ओर न देख, अँगरेजी वर्तमान की ओर देखने की बान पड़ने लगी। भारतेंदु के समय में हिंदी का आधुनिक भांडार भरने की जो प्रक्रिया आरंभ हुई थी उसमें संस्कृत, बँगला और अँगरेजी की ओर झुकाव अधिक था। यह ठीक है कि आधुनिक साहित्य का निर्माण बँगला में हिंदी के पहले से ही हो रहा था, हो चुका था। आधुनिक का अर्थ और कुछ नहीं अँगरेजी की देखा-देखी नूतन प्रवृत्तियों की ओर जाना था। बँगला उधर गई, हिंदी उधर गई। अँगरेजी भाषा में आकर्षण था। कारण स्पष्ट है, उसमें लाक्षणिक प्रयोगों का बाहुल्य है। भारतीय भाषाओं से उसमें यह विशेषता है। संस्कृत से लेकर

हिंदी तथा अन्य सभी संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश से संबद्ध भाषाओं में व्यंजना का प्राधान्य है। यहाँ तक कि फारसी की अनुरागिणी उर्दू में भी लाक्षणिकता अथवा मुहावरेबंदिश की विशेष प्रवृत्ति होते हुए भी लाक्षणिक भाव-भंगिमा का प्राधान्य नहीं। व्यंजनात्मकता की अभिरुचि उसमें भी है। अतः लाक्षणिकता की ओर बढ़ना आवश्यक जान पड़ा। उर्दू में जो लाक्षणिकता है वह रूढ़ है, बँधी हुई है। बँधे नियमों का त्याग करके नए प्रयोग करने पर एक प्रकार की रोक लगी है।

लाक्षणिक वैलक्षण्य अँगरेजी में सबसे अधिक है। 'हिंदी का ज्ञान' न रखनेवाले जो इस लाक्षणिकता पर टूटे तो हिंदी अँगरेजी होने लगी। आज हिंदी जो अँगरेजी की दासी बनी है उसका यही कारण है। हिंदी का स्वच्छंद विकास न होने में अँगरेजी की नकल ने भारी बाधा पहुँचाई। भारतेंदु-युग के लेखकों की हिंदी और आधुनिक हिंदी को सामने रखकर मिला देखिए। एक में हिंदीपन है, दूसरी में अँगरेजीपन। समाचार-पत्रों ने तो अँगरेजी से शब्दानुवाद कर करके हिंदी की ऐसी रीढ़ मारी है कि उसके खड़े होने में समय लगेगा। खड़ी बोली बैठ गई है, अँगरेजी की मार से, उसके भार से। आज जो पर्यायवाची शब्द बन रहे हैं उनमें हिंदीपन क्यों नहीं मिलता। उत्तर है—अँगरेजी की मार से। हिंदी का स्वच्छंद विकास रुक गया। कोई नया प्रयोग हिंदी का अपना खोजने से मिलेगा। अँगरेजी के प्रयोगों का शब्दानुवाद पंक्ति-पंक्ति में मिल जाएगा। हिंदी का, निज भाषा का ज्ञान नहीं रह गया। पहले हिंदी के लेखक बँगला के, गुजराती के, मराठी के अनुवाद करते थे, उनमें न बँगलापन आता था, न गुजरातीपन, न मराठीपन। हाँ, बँगला के, गुजराती के, मराठी के अनेक शब्द आए, चले, आज भी चलते हैं। हिंदी अपनापन लिए रही। अजी अब तो अँगरेजी का मोह छोड़ो। यदि कुछ दूसरा पन लेना ही है तो क्यों नहीं बँगलापन, गुजरातीपन, मराठीपन, तमिलपन को अपनाते। जिन भाषाओं के संपर्क में हिंदी बहुत दिनों से रही, जिनके बीच उसे रहना है। अँगरेजी से, विदेशी से अपना गला छुड़ा लो, देशी को गले लगाओ। हिंदी को सच्ची भारती बनाओ। अन्य-भाषा-भाषी यदि यह समझते हैं कि हम पर हिंदी का साम्राज्य लद रहा है तो क्यों नहीं उन्हीं का साम्राज्य हिंदी पर लदने देते। इससे हिंदी की कोई क्षति न होगी। उसका बल बढ़ेगा। उसकी समन्वय-साधना दृढ़ होगी। भारतीय भाषाओं का मूल एक है, फिर हिंदी के विकास में उनका सहयोग, उनका लदाव कभी बाधक न होगा। क्यों नहीं कह दिया जाता कि हिंदी बँगला, मराठी, गुजराती,

तमिल, तेलगू, कन्नड़, मलयालम आदि सभी भारतीय भाषाओं का विकास अपना विकास समझती है। बँगला का विकास हिंदी का ही विकास है, तमिल का विकास हिंदी का ही विकास है आदि आदि। हिंदी जिस सांस्कृतिक एकता का प्रतीक है, क्या उससे भिन्न किसी संस्कृति के संवर्धन में देशी भाषाएँ संलग्न हैं या हो सकती हैं। कदापि नहीं। फिर एक के विकास से दूसरे का विकास क्यों नहीं। भावुकता नहीं, तर्क की साखी से कहा जा सकता है। इसी से भारतेंदु की उक्ति आज भी ज्यों की त्यों है—

निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।

'निज' को पहचानो, उसकी व्याप्ति को जानो। पर को त्यागो।

'नाटक किस चिड़िया का नाम है'

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने अपने सुप्रचलित नाटक 'सत्यहरिश्चंद्र' में सूत्रधार के द्वारा कहलाया है, 'अहा! आज की संध्या भी धन्य है कि इतने गुणज्ञ और रसिक लोग एकत्र हैं और सबकी इच्छा है कि हिंदी भाषा का कोई नवीन नाटक देखें। धन्य है विद्या का प्रकाश कि जहाँ के लोग नाटक किस चिड़िया का नाम है इतना भी नहीं जानते थे, वहाँ अब लोगों की इच्छा इधर प्रवृत्त तो हुई, परंतु हा खेद की बात है कि जो बड़े बड़े लोग हैं और जिनके किए कुछ हो सकता है वे ऐसी अंधपरंपरा में फँसे हैं और ऐसे बेपरवाह और अभिमानी हैं कि नये गुणियों की कहीं पूछ ही नहीं है। केवल उन्हीं की चाह और उन्हीं की बात है, जिन्हें झूठी खैरखाही दिखाना वा लंबा चौड़ा गाल बजाना आता है। (कुछ सोचकर) क्या हुआ, ढंग पर चला जायगा तो यों भी बहुत कुछ हो रहेगा। काल बड़ा बली है, धीरे धीरे सब आप ही कर देगा'।

सूत्रधार के इस उद्गार से कई बातें स्पष्ट होती हैं। एक तो यह कि जिस समय हरिश्चंद्र नाटक-रचना में प्रवृत्त हुए उस समय नाटक से जन-समुदाय या साहित्यिक वर्ग पृथक् हो गया था। साहित्य के नाम पर कविता मिलती थी। पर काव्य के जो भेदोपभेद भारत में ही बहुत प्राचीन काल में स्वीकृत हो चुके थे, जिन शाखाओं में अनेकानेक रचनाएँ हो चुकी थीं वे उस समय नहीं थीं, उनका स्वरूपबोध भी लोगों में नहीं रह गया था। दूसरे यह कि जो लोग साहित्य का मर्म समझनेवाले थे, जो साहित्य की विभिन्न शाखाओं में निर्माण कर या करा सकते थे वे भी उससे पराङ्मुख थे। साहित्य की ओर से हमारा सक्षम वर्ग भी उदास था। हिंदी भाषा का स्वर तीव्र होने लगा था, पर साहित्य की चिंता करनेवाले कम थे। तीसरे यह कि वे इस आशा और विश्वास से नाटक-निर्माण में संलग्न हुए थे कि ऐसा समय अवश्य आएगा जब इस क्षेत्र में पर्याप्त उन्नति हो जायगी।

यहाँ इसका विचार कर लेने से कि इस प्रकार की परिस्थिति क्यों उत्पन्न हुई और किन कठिनाइयों के बीच हरिश्चंद्र नाट्यनिर्माण में प्रवृत्त हुए और उनके द्वारा इसी क्षेत्र में क्या क्या हुआ तथा भविष्य के संबंध में उनकी आशा पूरी हुई या नहीं, हम उनके नाट्य-क्षेत्र में किए गए प्रयत्न का पूरा

खेला-जोला से सकेंगे। हरिश्चंद्र के पूर्व के हिंदी-साहित्य को देखते हैं और भारतीय वाङ्मय में संस्कृत की प्रभूत ग्रंथराशि को निरखते हैं तो यह बात चक्कर में डाल देती है कि जिस देश में भास, कालिदास, भवभूति ऐसे नाटककार हो गए हों, जिस देश में नाट्य-विधान के संबंध में अत्यंत प्राचीन काल में 'नाट्यशास्त्र' ऐसा ग्रंथ लिखा गया हो, फिर दशरूपक, नाट्यदर्पण और साहित्य-दर्पण ऐसे ग्रंथों में उसके विधान की विस्तृत व्याख्याएँ हुई हों उस देश के परवर्ती वाङ्मय में श्रव्यकाव्य के नाम पर कविता तो होती चले, पर दृश्यकाव्य के नाम पर रचनाएँ ही न मिलें। संस्कृत में नाटकों का निर्माण तो चौदहवीं शती तक होता आया। प्राकृत में निर्माण होने की आवश्यकता इसलिए भी नहीं पड़ी कि संस्कृत-नाटकों में प्राकृत भाषा के लिए स्थान था। भरत मुनि ने जो आज्ञा दे रखी थी उसका पालन नाटककार करते चले आ रहे थे। स्त्रियाँ और अविकसित विद्या-बुद्धि के पात्र नाटकों में प्राकृत ही बोलते हैं। जो संस्कृत बोल नहीं पाते थे वे संस्कृत समझ लेते थे। जो संस्कृत बोलते और समझते थे वे प्राकृत भी समझते थे। नाटकों की प्राकृत भी विद्वानों के विचार से साहित्यिक प्राकृत थी अर्थात् प्राकृत-व्याकरण के नियमों को सामने रखकर संस्कृत-पदावली से प्राकृत में उतारी हुई थी। उससे भाषा का प्रकृत स्वरूप-बोध भले ही न हो पर प्राकृतवालों का प्रयोजन तो चरितार्थ हो ही जाता था। इतने से भी जिनका संतोष नहीं होता था वे प्राकृत-नाटक लिखते ही थे। राजशेखर की कर्पूरमंजरी से ही इसका प्रमाण मिल जाता है। प्राकृत में जितना वाङ्मय प्रस्तुत हुआ वह भी मिलता नहीं, न जाने कितने ग्रंथ नष्ट हो गए। उनमें और भी अनेक ग्रंथ रहे होंगे। जिस भाषा की कोमलता, मधुरता का उद्घोष करते संस्कृत के जानकार पर प्राकृत के पारखी थकते नहीं। संस्कृत की परुषता तक जब उन्होंने स्वीकार की तो ऐसी मधुर भाषा में और भी निर्माण हुआ होगा, उसमें नाटकों का भी प्रणयन रहा होगा यह कल्पना सहज ही की जा सकती है। पर प्राकृत के अनंतर अपभ्रंशकाल से नाटकों का पता नहीं चलता।

नाटक का संबंध यदि केवल साहित्य से होता तो यह भी मान लेते कि अपभ्रंश में निर्माण करनेवाले कम हो गए होंगे, दरबारों में संस्कृत भाषा का मान रहा होगा, अतः लोगों ने नाटक नहीं बनाए। पर नाटक का संबंध जीवन से है, जनता से है। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में स्पष्ट कह दिया है कि 'सार्ववर्णिक' नाट्यवेद का आविर्भाव हो रहा है। ऐसी स्थिति में जीवन में भी नाटकों की आवश्यकता रही होगी। वह कहाँ चली गई। क्यों उसने नाटकों

की, उसके कष्टों की पुकार नहीं सुनाई। ऐसी अनेक उलझनें हैं जो विचार को फँसा लेती हैं और उन्हें शीघ्र छुटकारा नहीं मिलता। पर इस उलझन को बिना सुलझाए भी काम नहीं चलता। जिज्ञासा जब 'क्यों' कहकर उठ जाती है तो वह 'यों' के रूप में समाधान पाए बिना शांत नहीं होती। 'यों' जितना ही ठीक और सतर्क होगा उतनी ही उसकी परितुष्टि कर सकेगा। जो लोग यह समझते हैं कि हमारी जो परंपरा चली आ रही थी उसका विकास होना अवश्यंभावी था उन्हें गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए कि वास्तविक और प्राकृतिक सत्य पर परदा नहीं डाला जा सकता। इसपर विचार करने के लिए यदि हम फिर भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के निकट आकर खड़े हो जायँ तो कदाचित् सरलता से इसे समझ सकेंगे।

भारतेंदुजी नाटक की ओर क्यों प्रवृत्त हुए। उसमें तात्कालिक हेतु क्या था। इसका कोई भी तुरंत यही उत्तर देगा कि अँगरेजी साहित्य के संपर्क के कारण उन्हें यह प्रेरणा मिली। इस देश में अँगरेजों के आने से नई विचारधारा आई, उनका साहित्य आया। उन्होंने यहाँ शासन करना आरंभ किया। हमारी आँखें खुलने लगीं, वे भी हमारे संपर्क, निकट संपर्क में आए। हमने भी उनकी आँखें खोलीं। विभिन्न देशों में रहनेवालों के संपर्क में आने से आदान-प्रदान होता ही है, कोई अधिक लेता है कोई कम। लेता अवश्य है, देता भी अवश्य है। यह तो दोनों की शक्ति, सामर्थ्य, महत्ता आदि पर आश्रित है कि 'कितना'। जिस युग की चर्चा हो रही थी उस युग में भी बाहर से जातियाँ आईं, ऐसा इतिहास के पंडित कहते हैं, प्रत्यक्ष दिखाई भी देता है। कहते हैं कि अपभ्रंश भाषा बहुत पहले से थी, पर आभीरों का महत्त्व बढ़ जाने से, उनके शक्तिशाली हो जाने से उसका विशेष उत्थान हुआ। यह उनकी भाषा थी, या उनके द्वारा यहाँ की बिगाड़ी हुई भाषा थी। व्याकरण भी 'आभीरादिगिरः' कहकर इसका समर्थन करते हैं। ये कौन थे इस बखेड़े में पड़ना यहाँ ठीक नहीं, पर यह तो इतिहास-वाले ही कहते हैं कि इनके पास कोई साहित्य न था। जो था वह साधारण था। उसमें साहित्य की शाखाओं के विस्तृत विचार और विधान के लिए विशेष न था। तब नाटकों का निर्माण कहाँ से हो। कुछ कथाएँ, कुछ फुटकल रचनाएँ हो गईं और होने लगीं, यही बहुत हुआ। धीरे धीरे देशी भाषाएँ उठ खड़ी हुईं और उनमें पृथक् पृथक् निर्माण होने लगा। वे नाट्य-प्रवृत्ति का काम नाच कूदकर चला लेते थे। 'नाट्य' न सही, नृत्य और नृत्त से ही काम निकल जाता था।

दूसरी जाति मुसलमानों की आई। इनके पास साहित्य था, संस्कृति थी, न

जाने कितनी आकर्षण की वस्तुएँ थीं, कहीं जोर-जबर्दस्ती से, कहीं लोभ-लालच से, कहीं प्यार-पीर से इन्होंने जनता को और फिर साहित्य को प्रभावित करना आरंभ किया। पर इनके साहित्य में श्रव्य तो था, दृश्य न था। प्रेम था, लौकिक भी अलौकिक भी, इश्कमजाजी भी और इश्कहकीकी भी, पर अन्य अनेक भावों का वह विस्तृत आभोग न था जो संस्कृत भाषा और उसके साहित्य में था। फल यह हुआ कि देशी भाषा के साहित्य को उससे 'नाट्य' की प्रेरणा न मिली। प्रेम की अवश्य मिली। हिंदी-साहित्य के मध्यकाल में शृंगार के प्राधान्य का कारण फारसी-साहित्य का प्रेमपरक होना है जिसके संपर्क में उसे आना पड़ा। भारतीयता का अभिमान छोड़कर इस कटु सत्य को स्वीकार करना अनिवार्य है। यह दूसरी बात है कि हिंदी-साहित्य ने उस प्रभाव को आत्मसात् कर लिया। जो लोग यह समझते हैं कि मुसलमानों और उनके साहित्य के संसर्ग के कारण नाट्य-प्रवृत्ति को धक्का नहीं लगा, प्रत्युत संतों की मुक्तक रचना के कारण साहित्य में यह प्रवृत्ति नहीं आ सकी, उनसे यही कहना है कि यदि संतों से तात्पर्य कबीर आदि से हो तो उनका साहित्य पर क्या प्रभाव पड़ा इसे बताने का वे कष्ट उठाएँ और उनकी रचना साहित्य में परिगणित भी हो सकती है इसपर गंभीरतापूर्वक विचार करें। यदि संतों से तात्पर्य सूरदास, तुलसीदास आदि से हो तो यह कहना पड़ता है कि रासलीला कृष्णभक्तों के यहाँ भी थी और तुलसीदास ने तो अपने 'मानस' को श्रव्यकाव्य से किस प्रकार दृश्यकाव्य में परिणत कर दिया इसका प्रमाण उत्तर भारत में छाई हुई रामलीला ही है। वास्तविक बात यह है कि अँगरेजी-साहित्य के संपर्क से नाटक-प्रणयन की प्रवृत्ति जैसे बँगला, हिंदी और फिर अन्य देशी भाषा गुजराती, मराठी आदि तथा उर्दू में 'इंदर सभा' आदि के रूप में जगी वैसी प्रेरणा फारसी से नहीं मिली। संस्कृत का जो प्रभाव मध्यकाल के साहित्य पर नाट्य-विधान की दृष्टि से पड़ा है, उसपर तो आलोचकों ने अभी ध्यान ही नहीं दिया। संस्कृत के नाट्य-विधान का साहित्य पर कोई प्रभाव न पड़ा हो सो बात नहीं है। मुसलमानी युग में, मुसलमानी शासन में, नाट्य-प्रवृत्ति इसलिए नहीं जग पाई कि उनके धर्म के भीतर नाटक खेलना अपराध था। उनके श्रव्यकाव्य में भी नाटकीय प्रवृत्तियाँ नहीं हैं। पर भारतीय परंपरा से जिन्होंने अपने ग्रंथों को जोड़ा है उनके श्रव्यकाव्यों में भी नाट्य-प्रवृत्तियाँ आ ही गई हैं।

केशवदास जी संस्कृत के इतने बड़े पंडित थे कि उन्हें 'भाखा' में लिखने में संकोच होता था, उनके कुल के दास भी 'भाखा' बोलना नहीं जानते थे,

संस्कृत बोलते थे। संस्कृत की सारी परंपरा समेटकर वे 'रामचंद्रचंद्रिका' लिखने बैठे। उसमें नाट्य-विधान की कमी नहीं। सारी पुस्तक संवादों से भरी है। उनके अन्य प्रबंधबद्ध काव्य संवादों के नाटकीय विधान से लबालब भरे हैं। वीरचरित्र, जहाँगीरजसचंद्रिका इसके प्रमाण हैं। विज्ञानगीता तो प्रबोधचंद्रोदय के अनुवाद के रूप में है ही। रामलीला में तुलसी का 'मानस' प्रधान है, उसी के आधार पर लीलाएँ होती हैं, पर केशव के कवित्त-सवैये, रघुराजसिंह के रामस्वयंवर के छंद उत्तर भारत में सर्वत्र सुने जाते हैं। और भी अनेक कवियों के लिखे संवादों को देखना हो तो 'रामकथामृत' नामक ग्रंथ देखना चाहिए। उसमें दस-पंद्रह कवियों के संवाद संगृहीत हैं। नाटक में संवाद मुख्य होता है। उसका सारा ढाँचा संवाद में होता है। मध्यकाल में 'संवाद' नाटक का स्थानापन्न हो गया। संवाद, चर्चा और वार्ता के नाम से रीतिकाल के कवियों ने बहुत सी रचनाएँ की हैं। नरहरि ने अनेक चर्चाएँ लिखी हैं। उस समय के दरबारी कवि यदि किसी विषय की कथाबद्ध प्रतिष्ठा करते थे तो संवाद से ही काम लेते थे। जो रचना संवादों में होती थी उसका नाम नाटक हो जाता था। यह प्रवृत्ति साहित्य में ही नहीं, धर्म-बुद्धि से ग्रंथ लिखनेवालों में भी थी। 'समयसार' नाटक को यदि कोई नाटक कह देता है तो समालोचक उसे डाँटने लगते हैं और इतिहास और अनुसंधान का दंभ तुरंत कह देता है कि यह तो जैनधर्म की पुस्तक है। हुआ करे। नाटक नाम उसके साथ क्यों लगाया गया। क्या कभी इसका भी विचार किया गया। इसलिए उसका नाम नाटक पड़ा कि उसमें सब बातें संवाद के रूप में हैं। सभासार, करुणाभरण नाटक सब इसी प्रकार के हैं। संस्कृत के दो चार नाटकों का अनुवाद भी हिंदी में हुआ। सबमें यही संवाद मात्र है। उस समय संवाद में रचना करना 'नाटक' लिखना हो गया था। हिंदी में गद्य का विकास नहीं हुआ, जो लिखा गया वह पद्य में। साहित्य-स्रष्टाओं की संतुष्टि संवाद लिखकर हो गई। इन संवादों की रीतिकाव्य में कमी नहीं है। लक्षण-ग्रंथ लिखनेवालों में भी ये संवाद मिलते हैं। जनता कृष्णलीला, रामलीला आदि से संतोष कर रही थी। दरबारों में प्रवीणराय, नवरंगराय आदि के नृत्य-नाट्य होते रहते थे। कुछ बादशाह 'कन्हैया' बनकर होली, रासक्रीड़ा, करते थे। भारतीय नाट्य इस प्रकार छिन्न-भिन्न होकर साहित्य और जीवन में पड़ा हुआ था। पुराने नाटकों के लिखने की प्रवृत्ति जगाने के लिए प्रेरणा मिलती ही न थी। रंगमंच भी न थे जिनपर वे खेले जाते। साहित्य नटवर श्रीकृष्ण की लीला गा रहा था। संक्षेप में यह कि संवाद और लीला तो थी, पर न नाटक थे, न रंगमंच था। यहाँ के लोग नाटक को दो ही चिड़ियों का नाम समझ

सकते थे—संवाद और लीला। लीला में भी 'नाटक' की भावना नहीं आती थी। उसमें धर्म-बुद्धि आ लगती थी और नाटकों को वह पावन नाम नहीं मिल सकता था या पावन लीला नाटक नहीं कही जा सकती थी। अतः संवाद ही एक ऐसी चिड़िया थी जिसे वे नाटक कहते थे; समझते थे, संतोष कर लेते थे। आनंदरघुनंदन, यहाँ तक कि नहुष नाटक भी कोरा संवाद है, ब्रजभाषा, का काव्यात्मक गद्य बीच बीच में अवश्य थोड़ा सा मिल जाता है। वस्तु, नेता, रस, अर्थप्रकृति, कार्यावस्था और सर्वोपरि संधिविधान के लिए इस पद्यात्मक युग में कोई अवकाश नहीं रह गया था।

अँगरेजी-साहित्य के संपर्क से नाटक की ओर दृष्टि देते ही भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने दो काम किए। एक तो उन्होंने कई नाटकों के अनुवाद किए; संस्कृत से, प्राकृत से और बँगला से। संस्कृत और प्राकृत से अनुवाद तो उन्होंने नाटक के अतीत स्वरूप को समझाने के लिए किए थे, पर बँगला से अनुवाद इसलिए किए कि अँगरेजी के प्रभाव से विभाषा में किस प्रकार की नाट्य-रचना हो रही है इसे भी हिंदी के लेखक देख लें। सीधे अँगरेजी से भी उन्होंने अनुवाद करके उसका स्वरूप भी सामने रख दिया। नाटक के संबंध में उनकी धारणा यही थी कि भारतीय परंपरा के साथ हिंदी में अँगरेजी की उपयुक्त विधियाँ ले ली जायँ। भारतीय और पश्चिमी नाट्य-प्रवृत्ति में जो अंतर है वह यही कि भारतीय परंपरा रसपरक है और पश्चिमी शील-चारित्र्यपरक। उन्होंने नाटक का विधान समझाने के लिए 'नाटक' नामक जो निबंध लिखा है उसमें स्पष्ट कह दिया है कि रस और चरित्र-विधान दोनों पर दृष्टि रखकर चलना चाहिए।

अभिनय के विचार से संस्कृतवालों का 'अंक' उन्होंने नए ढंग से अपने मौलिक नाटकों में रखा है अर्थात् उसे 'गर्भांक' में विभाजित किया है। संस्कृत-नाटकों में एक अंक में एक ही दृश्य होता था। अँगरेजी में एक अंक में अनेक दृश्य होते हैं। भारतेंदुजी को अभिनय की दृष्टि से अँगरेजी वाला (दूसरा) विधान प्रिय था। उन्होंने इसी का अनुधावन किया है और करने की सलाह भी दी है। नाटकों में पात्रों की वेश-भूषा के संबंध में भी उन्होंने निर्देश दिए हैं। संस्कृत-नाटकों में इसका विधान न था। अँगरेजी के नाटकों में भी यह प्रायः नहीं रहा करता। ऐसा करने का कारण यही था कि जो 'नाटक चिड़िया' की ओर प्रवृत्त हों उन्हें कुछ सहारा मिले। नाटक खेलने में उनसे सहायता मिले, साज-सामान जुटाने में अधिक सोचने-विचारने के लिए व्यग्र न होना पड़े। वस्तुतः हरिश्चंद्र ने हिंदी में नाट्यनिर्माण की प्रस्तावना

की थी। जो मार्ग उन्होंने दिखाया था उसका संवर्धन आगे चलकर 'प्रसाद' जी ने किया। भारतीय नाट्यशास्त्र का उपर्युक्त (संशोधन के अतिरिक्त) प्रायः ज्यों का त्यों रूप भारतेंदु ने रखा। संस्कृत के नाटक गद्य-पद्यात्मक होते थे, उनके नाटक भी ऐसे होते थे। गद्य में खड़ी बोली और पद्य में ब्रजभाषा है। चरित्रों की व्यक्तिगत विशेषताओं के उद्‌घाटन पर उनकी दृष्टि अवश्य थी, पर रस का विचार उन्होंने अधिक रखा है। 'प्रसाद' के नाटकों में भी रस और शील दोनों पर दृष्टि है पर उनकी दृष्टि शील पर अधिक और रस पर अपेक्षाकृत कम है। भारतेंदु की 'चंद्रावली' में नाटिका के तत्त्व शास्त्रसंमत मिलेंगे। चंद्रावली का व्यक्तित्व उभरकर भी रस सीमा में ही है। प्रसाद की 'राज्यश्री' में रस खोजने में श्रम करना पड़ेगा, पर उसकी व्यक्तिगत विशेषताएँ प्रस्फुट हैं, रस-सीमा के बाहर। भारतेंदु रस-सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सके, चारित्र्य का विकास भी उसकी विस्तृत सीमा के भीतर ही है। नायिका-नायक के ढले ढलाए साँचे से वे आगे बढ़े अवश्य। उनके व्यक्ति शास्त्रीय साँचे के एक से खिलौने नहीं है, उनमें व्यक्तित्व झलका, वे 'नेता' तत्त्व से, पात्र-व्यक्ति-चरित्र की ओर अवश्य बढ़े, पर रस की सीमा को पार करके नहीं। प्रसाद ने रस की सीमा पार करके अपने पात्रों को उसके बाहर भी दिखाया है। रस पर भी दृष्टि रखी है और उससे बाहर आकर शील-वैचित्र्य भी दिखाया है। 'स्कंदगुप्त' में वह विधान बहुत स्पष्ट है। रस की समाप्ति हो जाने पर स्कंद और देवसेना के शील-वैलक्षण्य को दिखाने के लिए उन्होंने उन्हें ऊँचे उठाकर दिखाया है, जिस त्याग के विभ्रम को लोग शांत रस समझ बैठे हैं। प्रसाद के बाद रस पर दृष्टि रखनेवालों का पता नहीं चलता। चारित्र्य और समस्या का उद्‌घोष बहुतों में मिलेगा।

भारतेंदु-मंडल के कर्ताओं ने नाटक लिखे, नाटकों के अनुवाद किए, नाटक-मंडलियाँ चलाईं, स्वयं अभिनय किया। प्रसाद तक आते आते 'नाटक' की चिड़िया परिचित हो गई, पर प्रसाद को रंगमंच पर किसी भूमिका में नहीं देखा गया। आज के नाटककार भी स्वयं अभिनय नहीं करते। नाटक की चिड़िया भारतीय पिंजड़े से निकलकर विलायती हवा खा रही है। बड़े नाटक लिखने का हौसला छोड़कर लोग एकांकी अधिक लिखने लगे हैं। पुराने नाट्य-विधान को गूढ़, अव्यावहारिक, असंशोध्य समझकर या अज्ञान के कारण उसे त्याग कर लोग पश्चिमी हवा में पर फैलाए उड़ रहे हैं। बँगला, मराठी आदि समृद्ध भाषाओं में रंगमंच हैं। पहली में अँगरेजी का प्रधान आधार लेकर, दूसरी में संस्कृत का मुख्य रूप से

अवलंबन करके, पर हिंदी में रहे सहे रंगमंच भी नष्ट-भ्रष्ट हो रहे हैं। साहित्य-स्रष्टाओं का कोई योग नहीं। भारतेंदु की आशा तो अवश्य पूरी हो गई, पर भारत की 'नाटक की चिड़िया' रंगशाला से थियेटर में, रस की सामाजिक लोकभूमि से चरित्र की व्यक्तिबद्ध भूमि पर फुदकने लगी। नाटक किस चिड़िया का नाम है इसे तो हिंदीवाले जान गए, पर चिड़िया से परिचय उन्होंने अपने-पन का नहीं बढ़ाया, वे भी उसी के साथ उड़ते चले गए। अपने अड्डे पर उसे आने के लिए परचाने का चारा उनके पास नहीं, उसे बाहर से मँगाना पड़ता है।

नाटकों से पद्य उड़ चुका है। प्रसाद ने फारसी रंगमंचों की देखादेखी गीत रखे, जो प्रायः ऊपर से चिपकाए लगते हैं, नाटक के अविभाज्य अंग नहीं हैं। इस गान के लिए गान-प्रिय पात्रों, वेश्याओं, गायनाचार्यों आदि की कल्पना-योजना भी करनी पड़ी है। भारतेंदु की रचना में पद्य काव्यात्मक अंश के रूप में मिलेंगे। प्रसाद ने ऐसे स्थलों पर काव्यात्मक गद्य रखा है, पर नाटक का प्राचीन विधान बनाए रखा है। उनके बाद यह विधान भी हट गया। भारतेंदु ने भवभूति आदि की पद्धति पर स्थल और प्रकृति के वर्णन भी नाटक में धर दिए हैं। प्रसाद में कहीं कहीं वर्णनोन्मुख प्रवृत्ति मिल जाती है, पर आगे के रूपककार या रूपकबाज इसे छोड़ बैठे। आजकल भारतेंदु की वह प्रवृत्ति जो उन्होंने नाटकों में वेश-भूषा का निर्देश करने में दिखाई थी, अँगरेजी ढंग पर रंग-निर्देश के अंतर्गत थोड़ी थोड़ी दिखाई पड़ जाती है, वह उनके दिखाए मार्ग पर नहीं है, अँगरेजी साहित्य के सुझाए सोपान के कारण है। भारतेंदु के नाटक अभिनेय थे, प्रसाद के अभिनेय नहीं माने जाते, पर घटा-बढ़ाकर अभिनय कई का हुआ। अब नाटक प्रायः सामने आया करते हैं, पर उनका अभिनय होता नहीं। क्वचित् होता है तो बँगला से अनूदित द्विजेंद्रलाल के नाटकों का। भारतेंदु के समय में हम पिछड़े हुए थे। पर उन्होंने और उनके मंडल ने तुरंत हमें सबके साथ दौड़ा दिया। आज हम दौड़ सबके साथ रहे हैं, पर क्यों दौड़ रहे हैं, कैसे दौड़ें इसे भूलकर। भारतेंदु 'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल' समझकर चल रहे थे। हमारी भाषा उन्नत हो रही है। पर भारतेंदु के समय में देश परतंत्र था, भाषा-साहित्य स्वाधीन थे; आज देश स्वतंत्र है, भाषा-साहित्य पराधीन हैं।

नाटककार भारतेंदु

भरित नेह नव नीर नित, बरसत सुरस अथोर।
जयति अपूरब घन कोऊ, लखि नाचत मन मोर॥

यह दोहा स्वर्गीय भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्रजी का है और यह उन्हें इतना प्यारा था कि उन्होंने अपने कई नाटकों का आरंभ इसी से किया है। आज मैं भी उनका स्मरण इसी दोहे से करता हूँ। वे हिंदी-नाटकों के जन्मदाता कहे जाते हैं। जन्मदाता कहने का अर्थ यही है कि उनके पहले हिंदी में ऐसे नाटकों की कमी क्या, पता ही नहीं था जो समय के मेल में दिखलाई पड़ते। पुरानी हिंदी में कविता तो बहुत लिखी गई, पर नाटक नहीं लिखे गए। यदि किसी को नाटक लिखने की सूझती भी थी तो वह संस्कृत के पिछले काँटे के नाटकों का पद्य में उल्था कर डालता था। पुरानी हिंदी की उपभाषाओं ब्रज, अवधी, बुंदेली, राजस्थानी, मैथिली सबमें गद्य लिखने का चलन नहीं हुआ था। नाटक में ब्रजभाषा गद्य से काम सबसे पहले भारतेंदुजी के पिता बाबू गोपालचंद्रजी ने अपने 'नहुष नाटक' में लिया था। संवत् १९२५ में जब भारतेंदु ने नाटक लिखना आरंभ किया तब तक अँगरेजी नाटकों की धूम मचने लग गई थी। बँगला में भी नाटक लिखे जा चुके थे। पर हिंदी-नाटक थे ही नहीं। इसी से भारतेंदु ने नाटकों पर अधिक ध्यान दिया। नाटक खेला भी जा सकता है इसलिए यह मानी हुई बात है कि उसका मन पर बहुत प्रभाव पड़ता है।

अँगरेजी के नाटकों और यहाँ के पुराने नाटकों में बड़ा अंतर था। पुराने नाटक शास्त्र के नियमों में बँधे रहते थे। उनमें रस का अधिक ध्यान रखा जाता था। उनमें कथा बहुधा पुराणों से ली जाती थी। नए नाटक रंगशाला की आवश्यकता का अधिक विचार रखकर लिखे जाते थे। रस के स्थान पर पात्रों के चरित्र पर अधिक दृष्टि रखी जाती थी। कथा दिन-रात के जीवन से चुनी जाती थी। उसमें अंक कई टुकड़ों में बँटे रहते थे जैसा पुराने नाटकों में नहीं होता था। भारतेंदु यह भली भाँति जानते थे कि पुराने ढर्रे के नाटक इस समय रोचक नहीं हो सकते। इसी से उन्होंने बीच का रास्ता पकड़ा। ऐसे पुराने नियमों को

हटाया जिनकी अब आवश्यकता न थी। नयापन वहाँ तक ओढ़ लिया जहाँ तक अपनापन ढका नहीं। नाटकों के बड़े बड़े खंडों अर्थात् अंकों के टुकड़े किए जिनका नाम 'गर्भांक' रखा। आजकल इन्हें 'दृश्य' कहते हैं। केवल पुराण और इतिहास की कथा पर ही नहीं, समाज की नई नई कथाओं पर भी नाटक लिखे। उन्होंने संस्कृत, अँगरेजी और बँगला के बीसियों बड़े बड़े पोथे देखकर 'नाटक' नाम की एक पुस्तक लिखी जिसमें इस बात का विचार किया गया है कि हिंदी में नाटक किस तरह लिखना चाहिए। इस पुस्तक में उन्होंने साफ साफ लिखा है कि नाटकों में पुरानेपन और नएपन का मेल होना चाहिए।

भारतेंदु ने अपने 'सत्यहरिश्चंद्र नाटक' में लिखा है कि यहाँ के लोग यह भी नहीं जानते कि नाटक किस चिड़िया का नाम है। इसलिए उन्होंने लोगों को यह बतलाना आवश्यक समझा कि अपने यहाँ कैसे कैसे नाटक थे और आज दुनिया में कैसे कैसे नाटक लिखे जाते हैं। इसी से उन्होंने संस्कृत और प्राकृत भाषा के अच्छे अच्छे पुराने नाटकों का अनुवाद किया था। एक ओर उन्होंने मुद्राराक्षस, रत्नावली, धनंजयविजय, पाखंडविडंबन का संस्कृत से और कर्पूरमंजरी का प्राकृत से अनुवाद किया और दूसरी ओर अँगरेजी से शेक्सपियर के 'मरचेंट आव् वेनिस' का 'दुर्लभ-बंधु' के नाम से उल्था किया। हिंदीवालों के सुभीते के लिए विलायती अनजाने नामों को देशी साँचे में ढाल दिया। जैसे 'वेनिस' का नाम वंशनगर, पोर्शिया का पुरश्री, वस्सेनियों का वसंत, शाइलाक का शैलाक्ष। ये नाम बँगला ढंग के हैं। इन्होंने बँगला के दो नाटकों का सहारा लेकर विद्यासुंदर और भारतजननी नाटक लिखे। पहला महाराज यतींद्रमोहन ठाकुर के नाटक की छाया पर बना है। भारतेंदु ने सबसे पहले यही नाटक लिखा था। दूसरा नाटक बँगला के 'भारतमाता' ग्रंथ का अनुवाद है। पहले यह अनुवाद इनके एक मित्र कर लाए थे जिसकी काट-छाँट करते करते ऊबकर इन्होंने नया नाटक ही बना डाला।

इन्होंने कई मौलिक नाटक भी लिखे हैं, जिनके नाम ये हैं—वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, चंद्रावली, विषस्य विषमौषधम्, भारतदुर्दशा, नीलदेवी, अंधेर-नगरी, प्रेमजोगिनी, सतीप्रताप (अधूरा)। इन नाटकों में कई मेल मिलते हैं। बड़े छोटे सभी तरह के नाटक हैं। बड़े नाटकों में गहरी बातों की छानबीन है और छोटे नाटकों में हँसी, व्यंग्य, अचरज, घृणा आदि के भाव दिखलाए गए हैं। व्यंग्य करने में तो कभी ये चूकते ही न थे। बच्चों के लिए लिखे गए नाटक में कभी कभी व्यंग्य अनोखे ढंग का दिखलाई पड़ता है। अंधेरनगरी में देखिए कैसी चुटकी ली गई है—

चूरन नाटकवाले खाते।
इसकी नकल पचाकर लाते।
चूरन सभी महाजन खाते।
जिससे जमा हजम कर जाते।
चूरन खाते एडिटर जात।
जिनके पेट पचे नहिं बात।

आज विलायती एकांकी नाटकों को हिंदीवाले वरदान समझ रहे हैं। पर भारत में छोटे छोटे बीसियों तरह के नाटक होते थे जिनके ढरें पर भारतेंदु ने अपने कई नाटक लिखे हैं। भारतदुर्दशा नाटक में देश की दुर्दशा का चित्र खींचा गया है। भारत के आलस्य का इसमें बहुत ही हृदय वेधनेवाला चित्र है। आलस्य कहता है—

'एक बारी में हमारे दो चेले लेटे थे और राह से एक सवार जाता था। पहले ने पुकारा—भाई सवार, सवार! यह पक्का आम टपककर मेरी छाती पर पड़ा है जरा मेरे मुँह में तो डाल। सवार ने कहा—अजी तुम बड़े आलसी हो। तुम्हारी छाती पर आम पड़ा है सिर्फ हाथ से उठाकर मुँह में डालने में यह आलस है। दूसरा बोला ठीक है साहब यह बड़ा ही आलसी है। रातभर कुत्ता मेरा मुँह चाटा किया और यह पास ही पड़ा था पर इसने न हाँका'।

नीलदेवी में भारत की वीरता और नारी की शक्ति का अद्भुत वर्णन है। यह इतिहास की कथा लेकर लिखा गया है। इनके नाटकों में सब तरह की कथाएँ तो मिलती ही हैं, कई रस भी मिलते हैं—शृंगार, हास्य, करुण, वीर आदि। ये रस, भाव बहुत ही मार्मिक शब्दों में रखे गए हैं। सतीप्रताप में सावित्री विलाप करती है—

'अरे अभी तो अच्छे बिच्छे हमसे बिदा होकर आए थे अभी यह क्या दशा हो गई। अरे कोई दौड़े रे किसी वैद्य गुणी को बुलाओ, हाय हाय कौन बैठा है जो मेरी इस विपत्ति में सहायता करेगा। हे दीनानाथ, तुम्हारे रहते मैं अबला इस घोर वन में अनाथों की तरह लूटी जाती हूँ। मुझे बचाओ'।

भारतेंदुजी ने कविता का तत्त्व नाटकों से हटाया नहीं है जैसा आजकल के नाटकों में विलायती नकल पर किया जा रहा है। इनके नाटकों में देशी ढरें पर नदी, वृक्ष, नगर, देश, स्थान आदि के मनोहर वर्णन भी रखे गए हैं।

भारतेंदुजी ने सबसे अधिक ध्यान भाषा का रखा है। पद्य में पुरानी ब्रज-भाषा ही है और गद्य में नई खड़ी बोली। नाटक के पद्यों में अधिक मधुरता

का कारण व्रजभाषा की स्वाभाविक मिठास भी है। गद्य में भाषा वैसी ही है जैसा उसका बोलनेवाला पात्र है। पंडित पात्र की भाषा संस्कृत मिली हिंदी है और साधारण पात्र की भाषा बोलचाल की। अविकसित बुद्धिवाले लोगों के मुँह से देशी बोली भी बुलवाई गई है, जैसे सत्यहरिश्चंद्र नाटक में डोम का नौकर बनारसी बोली में बात करता है। बच्चों की बोली तुतली और स्त्रियों की घरेलू रखी गई है। देखिए शैव्या अपने पुत्र रोहिताश्व के लिए किन शब्दों में रोती है—

'हाय मेरा बोलता हुआ सुग्गा कहाँ उड़ गया। बेटा अभी तो बोल रहे थे, अभी क्या हो गया। हाय मेरा घर आज किसने उजाड़ दिया। हाय मेरी कोख में किसने आग लगा दी। हाय मेरा कलेजा किसने निकाल लिया। अरे अब मैं किसका मुँह देख के जिऊँगी रे। अरे आज किस बैरी की छाती ठंढी भई रे।'

प्रेमजोगिनी में काशी की अलग अलग झलक दिखाने के लिए मराठी, गुजराती, पंडे पुजेरियों की अपने ढंग की बोली, बनारसी बोली, खड़ी बोली सबका प्रयोग किया गया है। देखिए प्रेमजोगिनी में काशी की निंदा करनेवाले परदेशी से झूरी सिंह कहता है—

'झूरी—ए चिढ़िया बावली के परदेसी फरदेसी! काशी की बहुत निंदा मत करो। मुँह बरसैये, का कहें कि साहिब मजिस्टर हैं नाहीं तो निंदा करना निकास देते।

परदेसी—निकास क्यों देते। तुमने क्या किसी का ठीका लिया है।

झूरी—हाँ, हाँ ठीका लिया है मटियाबुर्ज।

परदेसी—तो क्या हम झूठ कहते हैं।

झूरी—राम राम तू भला कबो झूठ बोलबो। तू तो निरे पोथी के बेठन हौ।

परदेसी—बेठन क्या।

झूरी—बे ते मत करो गप्पों के, नाहीं तो तोरी अरबी फारसी निकास देबे।'

इससे जाना जा सकता है कि उनकी निरख-परख और सूझ-बूझ कैसी थी। बात यह थी कि ये सब तरह से अपनी भाषा का खजाना भरना चाहते थे। ये जीवन भर अपना यह ध्येय पूरा करते रहे कि

निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल॥

भारतेंदु के नाटक भली भांति खेले जा सकते हैं। एक बैठक में देखे दिखाए जा सकते हैं। इन्होंने क्या बातचीत, क्या भाषण दोनों की बड़ी चतुरता

से नाटक में जोश है। लंबी बात भी ऐसी चलती और रोचक-शैली में है कि सुननेवाले का मन उलटे अधिक लगता है। बात यह है कि उनका अनुभव बहुत था और जिस तरह उन्होंने नाटक लिखे उसी तरह उनके खेलने का भी प्रबंध किया था। स्वयं भारतेंदुजी खेल में स्वाँग भरते थे और इस विद्या में भी बहुत चतुर थे। नाटक में दृश्यों को अधिकतर ऐसे ही क्रम से रखा है कि खेलनेवालों को उसमें सब तरह से सुभीता हो। संस्कृत के जिन नाटकों में उन्होंने फेरफार कर दिया है उनमें भी यह बात आ गई है, जैसे सत्यहरिश्चंद्र नाटक में जो संस्कृत के 'चंडकौशिक नाटक' के सहारे लिखा गया है। ये नाटकों में मनोरंजन की जगह निकाल लिया करते थे। गंभीर विषय के नाटकों में भी ये मनोरंजन ले नहीं चूकते थे।

जिस समय भारतेंदुजी ने नाटक लिखने आरंभ किए उस समय देश में सुधार की पुकार मची हुई थी। इसी से अपने नाटकों में इन्होंने कई तरह के विषय रखे हैं। विधवा-विवाह, मांस खाने का निषेध, रजवाड़ों में कुचक्र, पोंगा-पंथियों की भद्द, नई रोशनी के बाबुओं की मिट्टी पलीद आदि कई चलती बातों का लेखा-जोखा पाया जाता है। केवल स्वयं ही ये ऐसा काम नहीं कर रहे थे, इन्होंने अपनी मंडली भी बना ली थी। अपने मित्रों को भी ये नए नए विषयों पर नाटक लिखने के लिए प्रेरित किया करते थे। सर्वश्री राधाकृष्णदास, प्रतापनारायण मिश्र, रामकृष्ण वर्मा, बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन उसी समय के लेखक हैं, जिन्होंने मौलिक नाटक भी लिखे और अनुवाद भी किए। यही नहीं इन्होंने नाटक खेलने का प्रबंध भी कर रखा था। सबसे पहले काशी में ही संवत् १९२५ में पंडित शीतलाप्रसाद त्रिपाठी का 'जानकीमंगल' नाटक 'बनारस थियेटर' में खेला गया था। देखादेखी प्रयाग और कानपुर में भी सर्वश्री बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र के उद्योग से हिंदी के नाटक खेले गए। पंडित प्रतापनारायण मिश्र तो स्त्री-पात्रों का भी स्वाँग भरते थे। वे बड़े विनोदी जीव थे। एक बार वे अपने पिताजी से नाटक खेलने के सिलसिले में यह आज्ञा लेने गए थे कि यदि आपकी आज्ञा हो तो नाटक में स्त्री बनने के लिए आपके जीते जी अपनी मूँछें मुड़वा लूँ।

इससे ज्ञात हो जाता है कि भारतेंदुजी ने हिंदी में नाटकों का चलन चलाने के लिए कैसा उद्योग किया था। आगे चलकर हिंदी के बहुत से नाटककार उनका खोला हुआ मार्ग छोड़ बैठे। यदि सब लोग उनका रास्ता पकड़ते तो जैसा विलायती रोग नाटकों को लगता जा रहा है वैसा न लगता। आज हिंदी में कई नाटक-मंडलियाँ होतीं और खेलने लायक नाटकों का रोना न रह जाता।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

१

द्विवेदीजीका कर्तृत्व

भाषा के परिष्कार में द्विवेदीजी ने जैसा काम किया वैसा काम एक ही व्यक्ति ने किसी भी भाषा में न किया होगा। जितना युद्ध उन्होंने अकेले शरीर से किया, उतना किसी हिंदी के महारथी ने न किया होगा। हिंदी की इतनी अधिक उन्नति का सबसे अधिक श्रेय उसी महावीर को है। जिस समय उन्होंने अपनी लेखनी उठाई थी उस समय 'हिंदी' 'स्टुपिड हिंदी' कही जाती थी। क्या आज किसी की हिम्मत है कि वह हिंदी को इन शब्दों में संबोधित कर सके। हिंदी की वर्तमान उन्नति में दो बहुत ही शक्तिशाली महापुरुषों ने योग दिया—एक भारतेंदु हरिश्चंद्र ने और दूसरे द्विवेदीजी ने।

भारतेंदु हरिश्चंद्र ने नामानुरूप व्रत का पालन किया। हिंदी जिस विदेशी पोशाक में भ्रष्ट होती जा रही थी उसे हटाकर उसे देशी बाना पहनाया, सत्य का व्रत उन्होंने लिया, उसके बाद कभी उससे डिगे नहीं। सत्य का मुख सुवर्ण-मय पात्र से ढका कहा जाता है, हरिश्चंद्र ने उस आवरण को हटा दिया। धूम मच गई हिंदी की, आर्यभाषा की, नागरी की; पर भाषा का देशी बाना ही बना रहा, उसका वर्णविन्यास और रूपविन्यास द्विवेदीजी के इस देश में पदन्यास के बाद हुआ। एक एक अक्षर, मात्रा, विराम तक का ध्यान रखनेवाले थे द्विवेदीजी। 'सरस्वती' का संपादन सन् १९२० ई० में द्विवेदीजी ने छोड़ा। पर जहाँ द्विवेदीजी ने भाषा को छोड़ा था, वहीं वह अब भी बनी हुई है। उलटे उनके विश्राम ले लेने या वानप्रस्थ ग्रहण कर लेने के बाद से भाषा एक दूसरा ही 'ड्रेस' पहनने लगी है। हिंदी के केवल एक ही व्यक्ति का विशेष रूप से ध्यान उधर गया है। पर उसका संस्कार शीघ्र होता नहीं दिखाई देता।

यह तो हुई भाषा की बात। विषय का विचार कीजिए तो पता चलेगा कि द्विवेदीजी ने हिंदी को सभी प्रकार के विषयों से भरापूरा करने का मार्ग खोल दिया। भारतेंदुजी ने हिंदी-साहित्य को आगे बढ़ाकर जीवन के साथ कर दिया था, तो द्विवेदीजी ने हिंदी को विश्वालोक में ला खड़ा किया। हिंदी की पत्रि-काओं में जो आज दिन विविध विषय पाए जाते हैं वह द्विवेदीजी का ही खोला

हुआ रास्ता है। पर जिस सुरुचि और सावधानी के साथ उन्होंने इसका प्रवर्तन किया था, क्या वही अब भी पत्रिकाओं में है। उस समय की 'सरस्वती' की कोटि की एक भी पत्रिका इस समय हिंदी में नहीं है।

गद्य की भाँति पद्य में भी उन्होंने वैसा ही मार्ग प्रशस्त किया। ब्रजभाषा बहुत दिनों से व्यवहार में चली आती थी, पर खड़ी बोली की ओर कवि लोग नहीं झुकते थे। जो भाषा गद्य में चलती हो उससे एक अलग भाषा पद्य में चले यह दुरंगी नीति द्विवेदीजी को पसंद नहीं आई। उन्होंने खड़ी बोली का समर्थन पद्य में भी दृढ़ता के साथ करना आरंभ किया। 'ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली' का झगड़ा बहुत दिनों तक हिंदी-न्यायालय में चलता रहा, पर उन्होंने अपना दावा नहीं लौटाया, नहीं लौटाया। कितने ही कवियों की पीठ ठोंकी, स्वयं उसी में कविता करने लगे। आज ब्रजभाषा की कविता वृद्धों तक ही परिमित है।

यह समालोचना का युग माना जाता है। अवश्य ही समालोचना की शैली पहले से बहुत बदल गई है। पर इसे भी आगे बढ़ानेवाले द्विवेदीजी हैं। समालोचना तो उनके युद्ध का विशेष अस्त्र थी। समालोचना करने में उनकी विवेक-बुद्धि इतनी विचक्षण थी कि उन्होंने छोटे छोटे पैंफलेटों तक की बड़ी और कड़ी टीकाएँ कीं। हिंदी-साहित्य पर जिसका प्रभाव जैसा पड़नेवाला होता था उसका वैसे ही परिमाण में वे आलोचन करते थे। उनके सामने आकार मुख्य नहीं था, प्रभाव मुख्य था। अपने महान् उद्देश्य के सामने उन्होंने बड़े बड़े संप्रदायों, बड़ी बड़ी संस्थाओं, बड़े बड़े अधिकारियों और बड़े बड़े व्यक्तियों की परवाह नहीं की। आघात करने और सहने में वे सचमुच महावीर थे।

आचार्य द्विवेदीजी वस्तुतः आचार्य थे। आचार्य का कार्य मार्गप्रदर्शन होता है। साहित्य में जितने आचार्य होते हैं वे शुद्ध साहित्य का अधिक निर्माण नहीं करते—रीति की प्रतिष्ठा करते हैं। संस्कृत के अभिनवगुप्तपादाचार्य, मम्मटाचार्य आदि ने रीति की प्रस्थापना में जितना श्रम किया, काव्यनिर्माण में उतना नहीं। द्विवेदीजी ने हिंदी में भी रीति की प्रस्थापना का ही कार्य किया, साहित्य-निर्माण करनेवाले तो दूसरे थे जिन्हें उन्होंने लेखक और कवि बना दिया। इसलिए यदि द्विवेदीजी की मौलिक रचनाओं की खोज में कोई हैरान होकर यह मालूम करना चाहे कि उन्होंने क्या नया लिखा तो वह बहुत बड़े धोखे में रहेगा। संस्कृत में अभिनवगुप्तपादाचार्य, मम्मटाचार्य आदि का मान कालिदास, भवभूति आदि से कम नहीं है, बहुत अधिक है। द्विवेदीजी का

हिंदी में वैसा ही स्थान मानना पड़ेगा। वे आचार्य थे, इतना ही कहना उनके स्वरूप का पूरा परिचय देना होगा।

यहाँ तक उनके कार्य का निदर्शन हुआ, अब उनके स्वभाव की भी झलक देखिए। द्विवेदीजी सचमुच 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' चरित्रवाले लोकोत्तर पुरुष थे। उच्छृंखलता न उन्हें साहित्य में पसंद थी, न जीवन में। वे दुष्टों के कट्टर शत्रु थे, बड़े निर्भीक और प्रभावशाली। कर्मक्षेत्र में वे बराबर वज्र रहे, पर क्षेत्रत्याग के अनंतर वे बड़े ही कोमल हो गए। ऐसा भासित होता है कि उनकी उग्रता आरोपित थी, वे जान बूझकर अपने को कड़ा बनाए रहते थे, हृदय से बड़े कोमल थे। जिन द्विवेदीजी ने संपादन-काल में पुस्तकों की छोटी छोटी त्रुटियों के लिए लेखकों और प्रकाशकों को लथेड़ा था, विश्राम ग्रहण करने पर उन्होंने सबकी मुक्तकंठ से प्रशंसा आरंभ कर दी। जिसने केवल अपना चित्र छापकर पुस्तक को सचित्र लिखने की धृष्टता करनेवालों को कड़ी ताड़ना दी, जिसने एक फार्म भूल से कम लग जाने के कारण प्रकाशक को बड़ी फटकार बताई, जिसने सजिल्द और अजिल्द दो प्रकार की पुस्तकें निकाल कर संपादक के पास अजिल्द भेजनेवाले की कंजूसी की खबर ली, उसी व्यक्ति ने ऐरे खैरे नत्थू खैरे पँचकल्यानी सभी लेखकों की प्रशंसा के पुल बाँधना क्यों आरंभ कर दिया। पहले वे संपादक थे, उग्रता का बाना त्याग कर उन्होंने अपनी प्रकृतिस्थ कोमलता ऊपर की। दौलतपुर (महावीर-तीर्थ) की यात्रा के अवसर पर लेखक के इस विषय में नम्रतापूर्वक पूछने पर द्विवेदीजी ने उत्तर दिया था—

उमा, जे रामचरनरत, बिगत-काम-मद-क्रोध।
निज प्रभुमय, देखहिं जगत, का सन करहिं विरोध॥

पिछले दिनों द्विवेदीजी संन्यासाश्रम में थे। ससार के सभी छोटे बड़े उनकी निगाह में एक हो गए थे। उनकी सच्ची कोमल प्रकृति अपने सात्त्विक रूप में प्रकट हो गई थी। इसका कितने ही दूकानदार लेखकों ने बहुत बुरा लाभ उठाया। पर यह भी हमारी आपकी दृष्टि में। द्विवेदीजी उस समय अपने कर्मक्षेत्र से ऊपर उठकर संन्यासक्षेत्र में थे, उनके लिए वही उचित था।

द्विवेदीजी के कर्मक्षेत्र से हटते ही हिंदी में जैसा विप्लव, जैसी उच्छृंखलता उठ खड़ी हुई उसका अनुभव हिंदी के सभी शुभचिंतक कर रहे हैं, पर महावीरजी की सी शक्ति, उनकी मुष्टिका का सा प्रभाव किसी में नहीं दिखाई देता। किसी हिंदी-वीर में साहस नहीं कि इस अराजकता को अपने बल से दबा सके। जबतक द्विवेदीजी का अनुकरण करनेवाला कोई दबंग समालोचक सामने नहीं आता तबतक हिंदी में न जाने कितना कूड़ा करकट जमा होता जाएगा।

२

द्विवेदीजी का भाषा पर प्रभाव

आधुनिक हिंदी भाषा पर फोर्ट विलियम कालिज में बैठे बैठे भाषा का स्वरूप गढ़नेवाले लल्लूजीलाल और पं० सदल मिश्र का उतना प्रभाव नहीं है जितना उनके पश्चात् भाषा के कंटकाकीर्ण मार्ग को स्वच्छ बनानेवाले भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र और पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी का। लल्लूजीलाल जैसी भाषा गढ़ रहे थे वह तो एकदम गद्य के स्वरूप के विरुद्ध थी। पं० सदल मिश्र ने भाषा का जो रूप सामने रखा वह व्यावहारिक और स्वच्छ तो था, पर भाषा का जो प्रकृत प्रवाह मुंशी सदासुख लाल में देख पड़ा था, वह इस गढ़े हुए रूप में कहाँ। भारतेंदु बाबू जब हिंदी-क्षेत्र गोड़ने के लिए अपनी कुदाली लेकर उतरे तो उन्होंने उस स्वाभाविक स्वरूप को सामने रखा। भारतेंदु के पहले भाषा अपने उखड़े हुए रूप में चल रही थी। उसे बँधे हुए रूप में चलने लायक उन्होंने भली भाँति बना दिया। भारतेंदु के समय में और उनके अस्त होने के पश्चात् भी उनकी मित्रमंडली उन्हीं के आदर्श पर भाषा के स्वरूप का व्यवहार करती रही। राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिंद' ने जो अस्वाभाविक गंगाजमुनी धारा बहाने का प्रयत्न किया था उसमें स्नान करने की कौन कहे, उसका स्पर्श भी किसी ने नहीं किया। भारतेंदु के प्रकाश से हिंदी-जगत् उनके अस्त होने पर भी आलोकित होता रहा।

यद्यपि भाषा के रूप का विकास भारतेंदुजी के समय में भली भाँति हो चुका था, उसकी अभिव्यंजन-शक्ति पहले से बहुत बढ़ गई थी, पर उसका शरीर अव्यवस्थित ही पड़ा रह गया। शब्द-संघटन और व्याकरण के अनुशासन द्वारा उसे व्यवस्थित करने की आकांक्षा बनी ही रही। यह कार्य द्विवेदीजी ने किया। भाषा की 'अनस्थिरता' दूर की गई और उसे व्याकरण के विधान द्वारा परिष्कृत किया गया। जिस समय द्विवेदीजी हिंदी के क्षेत्र में अपनी कलम करनेवाली कलम लेकर उतरे उस समय कितना वितंडावाद उठ खड़ा हुआ था इसे हिंदी-गद्य-साहित्य का थोड़ा सा इतिहास जाननेवाले भी जानते हैं। यद्यपि पं० गोविंद-नारायणजी मिश्र ऐसे प्रकांड विद्वानों ने अपनी प्रतिभा के द्वारा 'सटाऊ सिद्धांत' का भरपूर समर्थन किया, और कलकत्ते के वायुमंडल में अपना प्रभाव भी छोड़ गए, पर कौन कह सकता है कि कलकत्ते के पत्रों पर द्विवेदीजी की भाषा का

प्रभाव नहीं है। मिश्रजी ने केवल अपना 'सटाऊ सिद्धांत' ही छोड़ा है, उनकी भाषा का प्रभाव न तो कलकत्ते में है और न अन्यत्र कहीं। पर द्विवेदीजी की भाषा से सारा हिंदी-जगत् प्रभावित है। दो चार अपवादों की बात मैं नहीं कहता। अपनी व्यक्तिगत शैली रखनेवाले कुछ विशिष्ट शैलीकारों को भी अलग करना पड़ेगा। किंतु शेष हिंदी-जगत् द्विवेदीजी के ही भाषा के आदर्श को लेकर आगे बढ़ा है और बढ़ रहा है।

हम यह मानने के लिए तैयार हैं कि द्विवेदीजी ने हिंदी भाषा पर अपना जैसा प्रभाव दिखाया वैसा हिंदी-साहित्य पर नहीं, पर साथ ही वैसा कहने-वालों को यह भी देखना चाहिए कि उस समय भाषा अपना स्वरूप ही स्थिर करने और उसे सुव्यवस्थित करने में लगी थी, साहित्य की ओर बढ़ने का उतना अधिक अवकाश ही नहीं था। द्विवेदीजी तो उस समय हिंदी-जगत् को यह दिखा देना चाहते थे कि हिंदी की अभिव्यंजन-शक्ति कम नहीं है, उससे काम लेने का ढंग आना चाहिए। यही कारण था कि उन्होंने प्रत्येक विषय पर अपनी लेखनी चलाई और उसे भली भाँति पूर्ण किया। उस समय इसी की आवश्यकता थी। व्यवहार में आनेवाले प्रयोजनीय संस्कृत-शब्दों को ग्रहण कर अव्यावहारिक अरबी-फारसी के विदेशी शब्दों से गला छुड़ाना आवश्यक था।

हमारे उक्त कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि द्विवेदीजी ने विदेशी शब्दों को अछूत समझा है। उन्होंने केवल अव्यावहारिक शब्दों को ग्रहण नहीं किया। हिंदी भाषा की रीति-नीति के कायल शब्द उनकी भाषा में बराबर प्रयुक्त हुए हैं, स्वदेशी ढाँचे में ढले हुए विदेशी शब्दों को सभी ने अपनाया है। कुछ लोगों ने विदेशी के बहिष्कार और स्वदेशी के अत्यधिक प्रयोग को ही हिंदी भाषा का वास्तविक स्वरूप समझा। कुछ लोग तो अपरिचित संस्कृत-शब्दों का बाहुल्य दिखाकर शैलीकार बनने का भी दम भरने लगे। खालिस संस्कृत-शब्दों के व्यवहार का ही नाम 'शैली' नहीं है। शैली के लिए व्यक्तिगत विशेषताएँ आवश्यक होती हैं। जो लेखक अपने को धोखा देकर बनावटी भाषा के प्रयोग द्वारा विशिष्ट लेखक बनने की हठधर्मी करते हैं, उन्हें द्विवेदीजी की भाषा का अध्ययन करना चाहिए। आधुनिक युग में भाषा सरल से सरल करने का उद्योग अँगरेजी-साहित्य में भी हो रहा है। इसका कारण है भाषा में स्वाभाविकता लाने का उद्योग। इस बात को द्विवेदीजी ने बहुत पहले ही समझ लिया था। हमारे विचार से द्विवेदीजी की और उनका अनुगमन करनेवाले लेखकों की ही भाषा का यह प्रभाव है या हो सकता है कि हिंदी राष्ट्रभाषा से राजभाषा हो गई।

भाषा को व्यापक बनाने के लिए उसमें प्रसाद-गुण लाना बहुत आवश्यक है। द्विवेदीजी ने गंभीर विषय को अपने प्रसाद-गुण से ही बढ़ाया है। उनकी सी-सरल भाषा लिखने में हिंदी के अन्य शैलीकार आजतक सफल नहीं हुए हैं। भाषा का सरल स्वरूप सामने रखने के लिए शब्दों का चुनाव और शब्द-संघटन का सरल होना तो आवश्यक होता ही है, विचार-परंपरा को भी सुलझे हुए रूप में सामने रखना पड़ता है। द्विवेदीजी ने कहीं भी क्लिष्ट कल्पना और उलझी हुई विचार-परंपरा से अपने लेखों की सरलता नहीं नष्ट की। इधर सरल से सरल विषयों को भी कुछ लोग शब्द-जाल और उलझे हुए अस्पष्ट विचारों द्वारा क्लिष्ट बनाकर हिंदी-जगत् में धाक जमाने की चेष्टा कर रहे हैं। यह बहुत खटके की बात है।

कुछ लोग हिंदी को स्वतंत्र भाषा रहने नहीं देना चाहते। वे संस्कृत या उर्दू के अनावश्यक लदाव द्वारा हिंदी को लँगड़ी बनाने की चेष्टा किया करते हैं। ऐसे लोगों को जान लेना चाहिए कि संस्कृत में आधुनिक ढंग के गद्य का विकास ही नहीं हुआ। वस्तुतः हिंदी-गद्य का विकास उसके प्रतिवर्तन में ही है। उर्दू को लोग अरबी और फारसी का बाना पहनाकर विकृत कर रहे हैं, इसलिए उर्दू के प्रयोगों से भी हिंदी का स्वरूप नहीं निखर सकता। हिंदी में अपनी स्वतंत्र विशेषताएँ हैं, इसमें अपनी स्वतंत्र अभिव्यंजन-शक्ति है। धीरे धीरे इसकी ओर लेखकों का ध्यान जा रहा है और वे अपने प्रयोगों द्वारा हिंदी को सुसंपन्न कर रहे हैं। द्विवेदीजी की भाषा में न तो संस्कृत का सामासिक जंगल है और न उर्दू की कलाबाजियाँ। उनकी भाषा हिंदी का ठेठ प्रकृत रूप लिए हुए है। केवल शब्दों का प्रयोग ही भाषा नहीं है, वाक्यों की बनावट ही भाषा का असली रूप है। हिंदी में नई नई उद्भावनाएँ करके द्विवेदीजी ने हिंदी की व्यापकता को सर्वमान्य बना दिया है। जो लोग हिंदी की स्वच्छंदता के कायल नहीं हैं, उन्हें ठंढे दिल से द्विवेदीजी और पं० रामचंद्र शुक्ल की भाषा का मनन करना चाहिए।

केवल गद्य ही में नहीं, पद्य में भी द्विवेदीजी ने अपना प्रभाव छोड़ा है। खड़ी बोली गद्य की ही भाषा बनकर सामने आई है, इसलिए उसमें पद्यों में प्रयुक्त होने योग्य परिपूर्ण विशेषताएँ नहीं हैं। यही कारण था कि भारतेंदु बाबू ने पद्यों में परम्परा-प्राप्त ब्रजभाषा को ही स्थान दिया था। द्विवेदीजी ने खड़ी बोली को पद्य के लिए भी ग्रहण किया और कितने ही होनहार कवियों को उसमें पद्य लिखने के लिए प्रोत्साहित भी किया। अवश्य ही उस समय लोगों ने भाषा में पद्यात्मक विशेषताओं के लाने का पूरा प्रयत्न नहीं किया, किंतु धीरे धीरे स्वतः

वे विशेषताएँ आती जा रही हैं। द्विवेदी-मंडल के लोगों ने हिंदी के प्राचीन लाक्षणिक प्रयोगों की ओर आँख नहीं उठाई, अन्यथा खड़ी बोली को पद्य के लिए असमर्थ भाषा बतलाने की जो आवाज उठा करती थी, वह उठने ही न पाती। इस ओर द्विवेदीजी के प्रभाव-साम्राज्य के बाहर के लोगों ने कुछ चेष्टा अवश्य की है—जैसे पं० अयोध्यासिंहजी उपाध्याय और पं० श्रीधर पाठक, किंतु ऐसे लोगों में लाक्षणिक प्रयोग स्वतः आ गए हैं। यदि इसके लिए थोड़ा उद्योग किया जाता, तो 'खड़ी बोली' पद्य की संपन्न भाषा बहुत पहले बन जाती। फिर भी द्विवेदीजी के ही उद्योग और प्रोत्साहन का यह परिणाम है कि श्री मैथिलीशरण गुप्त ऐसे भारत-प्रसिद्ध कवि, बाबू गोपालशरणसिंह ऐसे सत्कवि और पं० रामचरित उपाध्याय ऐसे पंडित-कवि हिंदी में दिखाई पड़े।

अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। खड़ी बोली के गद्य और पद्य दोनों द्विवेदीजी से प्रभावित हो चुके हैं। जब से उन्होंने कर्म-क्षेत्र से संन्यास-ग्रहण किया तब से भाषा का स्वरूप मनमाना होने लगा। जबतक द्विवेदीजी क्षेत्र में डटे थे, भाषा के विषय में पर्याप्त वादविवाद भी चला करता था और उसका स्वरूप भी व्यवस्थित होकर ही सामने आता था। उनके अलग होते ही हिंदी में निरंकुशता का साम्राज्य बढ़ा। स्वप्निल आभा, नीरव ध्वनि और अनंत की पुकार होने लगी। कोई 'रोटी' छीनकर 'हलवा' खाने लगा और कोई चूल्हे पर चढ़ा 'तवा' ले भागा।

३

महावीर-तीर्थ की यात्रा

कार्तिक महीने के कृष्ण पक्ष में किसी दिन पूज्यपाद पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी का एक पत्र काशी के प्रसिद्ध कलाविद् राय कृष्णदासजी के यहाँ आया, जिससे पता चला कि द्विवेदीजी की तबियत इधर कुछ खराब रहा करती है, आँखों से भी कम दिखाई पड़ता है। उन दिनों राष्ट्रीय कवि बाबू मैथिलीशरणजी भी यहीं थे। उन लोगों ने द्विवेदीजी के यहाँ जाने की उत्कट इच्छा काशी के उत्साही नवयुवक सहृदय मुरारीलालजी केडिया[1] के समक्ष प्रकट की। निश्चय हुआ, तीनों व्यक्ति चलें। पर मुरारीलालजी व्यापारी व्यक्ति हैं। धनतेरस आनेवाली थी, कोठी में उन्हें 'नया बसना' करना था, इसलिए कई दिनों का समय नहीं दे सकते थे। गुप्तजी ने द्विवेदीजी के स्थान (दौलतपुर) जाने का सीधा मार्ग रायबरेली होकर ठीक किया था। वहाँ से तकिया होकर दौलतपुर जाने का रास्ता कुछ सीधा पड़ता है, नदी पार करने का झमेला नहीं। पर उस रास्ते से जाने में कम से कम तीन दिन लगते थे। केडियाजी चाहते थे, चौबीस या अड़तालीस घंटे में यदि आने जाने का कोई रास्ता निकल आए तो अच्छा हो। जुकाम हो जाने के कारण राय साहब को दो दिन के लिए यात्रा टालनी पड़ी। गुप्तजी किसी विशेष काम से लखनऊ

१—केडियाजी काशी के धनी एवं उत्साही नवयुवक हैं। आपने अपने पिताजी के नाम पर 'श्रीरामरत्न-पुस्तक-भवन' नाम का एक पुस्तकालय स्थापित कर रखा है, जिसमें चुनी हुई हिंदी, अँगरेजी, संस्कृत आदि भाषाओं की चार-पाँच हजार पुस्तकें हैं। हिंदी-पुस्तकों का दूसरा अच्छा संग्रह काशी में नागरी-प्रचारिणी के आर्यभाषा-पुस्तकालय के बाद, यही है। इसमें पुरातत्त्व-विभाग भी है, जिसमें प्राचीन मूर्तियों, सिक्कों, चित्रों आदि का भी अच्छा संग्रह है। आप नागरीप्रचारिणी सभा के अर्थमंत्री भी रह चुके हैं और हैं। हिंदी की कुछ पुस्तकें भी आपने प्रकाशित की हैं। आपके पुस्तकालय की पुस्तकों के व्यवहार के लिए कोई शुल्क नहीं लगता। हिंदी के नाम पर आप बहुत कुछ किया करते हैं, और हिंदी पढ़ने के लिए आनेवाले दक्षिणी विद्यार्थियों की सहायता भी करते हैं।

चले गए थे। धनतेरस को लौट आना आवश्यक था। कालिज से मुझे छुट्टी थी, लगभग बृहस्पतिवार को शाम के समय किसी जरूरी काम से, संभवतः काशी हिंदी-साहित्य-विद्यालय के संबंध में, केडियाजी से मिलने गया, क्योंकि केडियाजी विद्यालय के मंत्री थे। उन्होंने मुझसे जब बहुत आग्रह किया तो मैंने उनसे कहा—चलता तो मैं भी, पर मुझे 'पाली'वाला पढ़ने की जल्दी है। हाँ, समय का निकास अवश्य बता सकता हूँ।

मैंने झट्टे ही टाइम-टेबुल हाथ में ले लिया। पंद्रह बीस मिनट तक मैं उसके पृष्ठ खोलकर आँखें गड़ाता और फिर ध्यान की मुद्रा में कुछ गिनने का अभ्यास सा करता रहा। अंत में मैंने कहा—"रास्ता निकल आया, सिर्फ चौबीस घंटे लगेंगे। सिर्फ़ मेल से होकर जाना चाहिए।"

केडियाजी उछल पड़े। उसी दिन रात में एक बजे काशी से चलकर दूसरे दिन दस बजे रात तक लौट आने का प्रोग्राम बन गया। उन्होंने मुझे ज़ोर से पकड़कर झकझोर दिया, और कहा—"पंडितजी, अब तो आपको भी चलना होगा, यह हो नहीं सकता। आप जब पढ़ रहे थे तब द्विवेदीजी की छात्रवृत्ति आपको मिलती थी, वे अपने पत्र में आपका बराबर स्मरण करते हैं। आपको देखकर वे अत्यंत प्रसन्न होंगे।"

कोई घंटे भर तक मान-मनौवल होती रही। अंत में मुझे केडियाजी का मन रखना ही पड़ा, महर्षि-दर्शन की लालसा ने मुझे भी विवश कर दिया। केडियाजी से विदा होकर मैं कोई नौ बजे रात को घर लौटा। रात में एक बजे जब मोटर की प्रतीक्षा में घूमते हुए केडियाजी को और मुझे राय साहब ने देखा तो बड़े आश्चर्य में पड़े। उन्होंने नमस्कार के बाद छूटते ही कहा—"आप भी आ गए। बड़ा अच्छा हुआ।" उस रात के सन्नाटे में मोटर अपने ड्राइवर के साथ सो गई थी। देर देखकर इक्कों को वाहन बनाना पड़ा। पर थोड़ी दूर जाते ही अकचकाकर उठी हुई और आँखें फाड़कर हम लोगों को खोजती हुई वह दौड़ती आती दिखाई पड़ी। सब लोग उस पर जा बैठे। देर हो रही थी, इसलिए सामान लोगों ने अपनी गोद में रखा, सिर पर रखा, छाती से लगाया। शुभबंध में बँधे हुए बिस्तरे को लिए हुए राय साहब ने पूछने पर उत्तर दिया—"बड़ा आराम है।"

जब हम लोग मुगलसराय पहुँचे तो तूफान मेल पैंतालीस मिनट लेट था। केडियाजी की उत्सुकता और उत्कंठा उस समय देखने ही योग्य थी। पूर्व की ओर से कोई इंजिन भी आता दिखाई पड़ता तो चौंककर कहने लगते—"गाड़ी आ गई।" उनकी घोष-ध्वनि ने मुसाफिरों से कई बार उठा-बैठी की कसरत उस

शीत में अनायास ही करा ली। राम राम करते जब गाड़ी आई तो तिल रखने की कौन कहे, राई रखने की भी जगह न थी। मैं लपककर खिड़की से घुसा तो मेरी धोती दबकर चीं बोल गई। किसी प्रकार सामान ठूँसा गया, और सब लोग पिल पड़े। रास्ते में बिस्तर के मोढ़े पर केडियाजी बैठे। राय साहब ने अपनी कला की बदौलत जगह बना ही ली। अंत में केडियाजी को भी हम लोगों ने 'छुँ छिगुनी पहुँचा गिलत' की नीति से अपने बीच, हृदय की भाँति ही, सुरक्षित कर लिया।

सवेरे जब गाड़ी फतेहपुर पहुँची, तो राय साहब ने वहाँ फूले हुए जलेबे देखे। पता नहीं, ब्राह्मी के अक्षरों की सी बनावट देखकर या जुकाम के कारण कम भोजन करने की वजह से पेट की प्रार्थना पर उन्होंने बड़ी प्रशंसा करते हुए खरीदने का उपक्रम कर ही तो लिया। उन्होंने फरमाया—"काशी में जलेबी ठीक नहीं उठाते (फुलाते), यहाँ उठती खूब है।" यह कहने के साथ ही खोंचे से सचमुच जलेबे उठ चुके थे। वहाँ हम लोग सटल में सवार हुए। ज्यों ही सटल कंसपुर गुगौली पहुँचा, स्टेशन पर एक खिचड़ी दाढ़ीवाला चेहरा पगड़ी बाँधे और दूसरा चिकनी मिट्टी के करारे की फिसलन सा, टोपी पहने, दिखाई पड़ा। हम लोगों को यह गुमान ही न था कि गुप्तजी कंसपुर गुगौली आ जाएँगे, और उनके साथ प्रकाशकों के युगप्रवर्तक श्री दुलारेलालजी भार्गव भी होंगे। राय साहब ने गुप्तजी को एक पत्र में लिख दिया था कि हम लोग बिंदकी रोड शुक्रवार के सवेरे पहुँचेंगे। हम उनकी संभावना उसी स्टेशन पर कर रहे थे। यहाँ उन्हें देखकर हम लोगों ने कहा, यहीं उतरना चाहिए। पर जब वे दोनों व्यक्ति हमारे डिब्बे में स्वयं घुस आए और कहा कि बड़े लोगों की अगवानी करने हम यहाँ तक चले आए हैं तो एक बार अट्टहास से डिब्बा हिल उठा।

बिंदकी रोड उतरने पर पता चला कि गुप्तजी ने दो बैलगाड़ियाँ पहले से ही ठीक कर रखी हैं। एक बैलगाड़ी पर राय साहब, गुप्तजी और केडियाजी बैठे, दूसरी पर मैं और दुलारेलालजी। राय साहब का नौकर गणेश भी हमीं लोगों की गाड़ी में बैठ गया। गाड़ी पर बैठते ही मैंने तो अपना बनारसी बाना निकाला। कुर्ता, टोपी और सदरी एक अँगोछे में लपेटकर रख दी, और दूसरा अँगोछा ओढ़ लिया। मेरे शरीर पर सिर्फ खद्दर की एक गंजी थी। पर और लोग उसी पोशाक में डटे रहे। मुझे क्या मालूम था कि ये लोग द्विवेदीजी के यहाँ पहले पहल जा रहे हैं। कम से कम गुप्तजी के संबंध में मेरा दृढ़ निश्चय था कि वे पहले कभी वहाँ अवश्य गए होंगे, और बैलगाड़ी की धूल वहाँ फाँकनी पड़ी होगी। रास्ते में पता चला कि महावीर-आश्रम के सभी

यात्री पहले पहल ही दौलतपुर जा रहे हैं। धूप हल्की थी, कुछ बादल भी थे, रास्ते में सुरखाब, जलकुक्कुट तथा वन-विहंगों के गान और झूलों पर मुग्ध होते हुए हम लोग चले जा रहे थे कि एकाएक एक सँकरे रास्ते में अगली बैलगाड़ी का एक बैल छटककर बाहर हो गया। उसे एक लड़का हाँक रहा था। पिछली गाड़ी पर गुप्तजी आदि थे। उसका सारथि जब उसे ठीक करने के लिए अगली गाड़ी हाँकने लगा तब हमारे राष्ट्रीय कवि पिछली गाड़ी के सारथि बन बैठे। उनकी पगड़ी, दाढ़ी और मूँछों पर धूल लोट रही थी। उन्होंने एक हाथ में पगही ली और दूसरे में औंगी। उस समय कैमरा न होने से सबके हृदय में एक कसक हुई। यदि गुप्तजी के उस चित्र को हम लोग अपने हृदय में ही न रखकर लोगों के सामने या राय साहब अथवा केडियाजी के संग्रहालय में कहीं टाँगने का सौभाग्य प्राप्त कर सकते तो भारतीय कवि-पुंगव के उस दृश्य से न जाने कितने दिनों तक, समय समय पर, वह मोहक स्मृति जगती रहती। उनके हृदय की कोमलता, सरलता और वेश की सादगी सामने आते ही हमारे हृदय को और भी निर्मल, भावप्रवण बनाती रहती; पर करते क्या।

दोपहर ढलते ढलते हम लोग चार कोस का रास्ता तय करके बक्सर घाट पहुँचे। पार उतरकर शौच, स्नान, भोजन आदि से छुट्टी मिली। पता चला, कमलाकिशोरजी (द्विवेदीजी के भांजे) कल से ही परेशान हैं, और अभी अभी लहँगी घाट की ओर गए हैं। यह घाट द्विवेदीजी के गाँव की सीध में पड़ता है, और कंसपुर गुगौली से सीधे आने पर सबसे करीब रास्ता इसी घाट होकर है। अंत में दो बैलगाड़ियों में हम लोग लदे। दुलारेलालजी ने चबेना करना आरंभ किया। जब हम लोग गाँव के निकट पहुँचे तो एक सामानवाली बैलगाड़ी तो लीक-लीक भेज दी गई, और हम लोग शायर, शूर, सपूत की भाँति लीक छोड़कर पैदल चले। हम लोग गाँव में पहुँचे ही थे कि वह गाड़ी भी आ गई, पर केडियाजी के 'थरमस' की टोपी न जाने कहाँ रास्ते में उतर गई। जिस थरमस ने गरम पूरियों और तरकारी से लोगों को उस सफर में बासी होने पर भी ताजी का स्वाद दिया था, उसका शिरस्त्राण ही गायब। खैर, दरवाजे पर हम लोग चारपाइयों पर जा बैठे। द्विवेदीजी को खबर की गई, थोड़ी ही देर में उनके कमरे का दरवाजा खुला, और वह विशाल विभूति हम लोगों के दृष्टिपथ में थी। देखते ही उन्होंने 'स्वागतं ते महाभाग' का मधुरालाप किया। सबने झुककर चरण छुए। बाहर चौकी पर द्विवेदीजी अपनी सिंहध्वनि से जा बैठे।

भेंट-सामग्री उनके सामने रखी गई। और लोगों ने मिठाई तथा फलों की भेंट की, पर मैंने 'पत्र' ही से आरंभ किया। अपनी दो पुस्तकें दीं। सबसे

पहले मेरा परिचय पूछा गया, और प्रश्नोत्तर भी प्रारंभ हो गया। द्विवेदीजी ने पूछा—"तुमने 'पद्माकर-पंचामृत' निकाला है, सुनाओ तो पद्माकर की कोई कविता।" मैं बड़े असमंजस में पड़ा। पद्माकर शृंगार के श्रेष्ठ कवियों में से हैं, और उनकी शृंगार की कविता सुनाई जाय, तो बड़ों के समक्ष प्रगल्भता प्रकट हो। द्विवेदीजी की चित्तवृत्ति और अवस्था पर दृष्टि गई, तो मुझे 'प्रबोध-पचासा' के कवित्त याद आए। मैंने 'उकुति अनेक ही पै एकहू कही न परै' कवित्त पढ़कर सुनाया। द्विवेदीजी भाव-धारा में मग्न हो गए, आँखों से टप-टप आँसू गिरने लगे। पर प्रकृतिस्थ होते ही उन्होंने कहा—" 'एक ही सेज पै सोवत हैं पद्माकर दोऊ महासुख मानें' पर तुमने पद्माकर के कान नहीं एँठे।" मैं क्या कहता पर "हाँ, भूमिका में दबी जबान इस पर भी कुछ लिखने की धृष्टता की है" कहकर छुट्टी पाई। अब दुलारेलालजी की पारी थी। द्विवेदीजी ने उनके बारे में पूछा, और उनका नाम सुनते ही बोले—"दुलारेलालजी, जिनका डंका बजता है?" इतना कहते कहते द्विवेदीजी को अपने संपादक-जीवन का स्मरण हो आया। उन्होंने कहा—"क्या कहूँ, संपादकों की दुर्दशा के समाचार पढ़ता हूँ तो रोने लगता हूँ। संपादकाचार्य रुद्रदत्तजी भूखों मर गए। मेरा तो कलेजा फट जाता है।" कुछ क्षणों तक फिर द्विवेदीजी की आँखें बरसती रहीं। पुनः प्रकृतिस्थ होने पर उन्होंने राय साहब से पूछा—"क्यों, चले हो टंडनजी[1] की वकालत करने। अच्छा, करो वकालत।" राय साहब ने नम्रता-पूर्वक उत्तर दिया—"हम लोग आ रहे थे, तो उन्होंने यह कार्य सौंप दिया है, आपकी अवस्था देखते हुए हम लोग क्या कह सकते हैं।"

अब नागरीप्रचारिणी सभा, काशी की चर्चा छिड़ी। सभावालों की नीति और उदासीनता पर द्विवेदीजी केवल अपनी व्यथा भर व्यक्त करके रह गए। उन्होंने कहा—"अब मुझे क्या। लोग मुझे दोष देते हैं कि मैं सबकी प्रशंसा कर दिया करता हूँ। पर मेरा वह समय निकल गया। अब तो

उमा जे राम-चरन-रत, विगत-काम-मद-क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत, का सन करहिं विरोध।"

क्षण भर इसी भाव-धारा में बहने के बाद द्विवेदीजी ने गुप्तजी की ओर मुँह फेरा, और व्यंग्य किया—"क्यों, महाकवियों और महाजनों को यात्रा करने का फल

१—तात्पर्य बाबू पुरुषोत्तमदासजी टंडन से था। टंडनजी की आज्ञा थी कि पूज्य द्विवेदीजी से सम्मेलन का सभापतित्व स्वीकार कर लेने के संबंध में प्रार्थना की जाय।

मिल गया ? मना करते थे कि हमारा गाँव जंगल में है, यहाँ कष्ट मिलेगा, पर मानता कौन है।" गुरुजी ने 'दन दिगम न लागा' कहकर नम्रता प्रकट की।

अंधकार की चढ़ाई हो चली थी, इसलिए हम लोगों ने द्विवेदीजी से आराम करने का आग्रह किया, पर जो अतिथि-सत्कार में सदा से उदार हृदय का परिचय देता आया हो वह वृद्धावस्था में उसके संस्कार के कारण भला अपनी शारीरिक चिंता की परवा क्यों करने लगा। द्विवेदीजी फिर भी बैठे ही रहे। अब उनके स्वास्थ्य के संबंध में प्रश्न आरंभ हुए। उत्तरों का सारांश यह कि द्विवेदीजी की स्मृति पहले से कुछ क्षीण हो गई है। रात में पूरी नींद नहीं आती। सामान्य चिंता से भी उन्हें अनिद्रता का कष्ट भोगना पड़ता है। अगर उन्हें पता चल जाय कि प्रातः घर में पिसा हुआ आटा तैयार नहीं तो उसकी चिंता ही उन्हें इतना व्यग्र कर देती है कि रात भर नींद नहीं आती। हाथ काँपता है। पीठ की धन्वा कुछ झुक गई है। चलते समय किसी के सहारे की जरूरत पड़ती है। पर इतना होने पर भी द्विवेदीजी दो वक्त, सुबह और शाम, गाँव के बाहर चक्कर लगा लेते हैं। खेतों को देख आते हैं, वृक्षों की देख-भाल कर लिया करते हैं। खेतों का कोना कोना, वृक्षों की डाली डाली उनकी आँखों में नाचती रहती है। अगर एक फल भी कहीं से टूट जाय, तो उन्हें पता लग जाता है। घर के एक एक प्राणी, एक एक जीव की चिंता उन्हें रहती है। घूमकर लौटते समय सुग्गे के लिए भुट्टा लाना नहीं भूलते, क्योंकि चने खाने की अपेक्षा वह भुट्टा बड़े प्रेम, स्वाद और तल्लीनता से खाता है।

बाबू श्यामसुंदरदास

हिंदी भाषा और साहित्य का जो उत्थान भारतेंदु-युग में हुआ वह प्रतिष्ठा का आरंभिक प्रयत्न मात्र था। उस युग में इस बात की चिंता विशेष थी कि कामचलाऊ भाषा (खड़ी बोली) में साहित्य की पद्येतर विभिन्न शाखाओं में प्रणयन का श्रीगणेश हो जाय। भाषा के स्वरूप को निखारकर पूर्णतया कार्यक्षम बनाना और साहित्य की विभिन्न शाखाओं में प्रणयन की वृद्धि के साथ ही साथ उसके शास्त्रपक्ष की व्यवस्था करना शेष था। इस व्यवस्था के लिए हिंदी को दो महारथी मिले, एक पंडित महावीरप्रसादजी द्विवेदी और दूसरे बाबू श्यामसुंदरदासजी; संक्षेप में द्विवेदीजी और बाबू साहब। भाषा को सुव्यवस्थित तथा उसे साहित्येतर अन्य वाङ्मयों के उपयोग के लिए भी समर्थ बनाने का बहुत सा कार्य तो द्विवेदीजी ने किया और शुद्ध साहित्य की दृष्टि से भाषा-पक्ष के विचार के साथ ही साथ साहित्य के संवर्धन के लिए शास्त्र-पक्ष के विधि-विधान का निरूपण करने-कराने का महत्त्वपूर्ण कार्य बाबू साहब ने संपन्न किया।

द्विवेदीजी की दृष्टि अधिकतर वर्तमान पर ही रही। यही कारण था कि उन्होंने खड़ी बोली को पद्य के क्षेत्र में भी बड़े वीरत्व के साथ उतारा और ब्रजभाषा को विसर्जित करने-कराने का भरपूर आंदोलन किया। पर बाबू साहब की दृष्टि अतीत और वर्तमान दोनों पर समान थी। उन्होंने वर्तमान की आवश्यकताओं की पूर्ति का तो पूरा प्रयास किया ही, साथ ही वे साहित्य का अतीत भी सामने ले आए। हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज से हिंदी-साहित्य का इतिहास प्रस्तुत करने की परिपूर्ण सामग्री तो मिली ही, साहित्य का समृद्ध अतीत भी सामने आया, जिससे बहुत बड़ा लाभ हुआ। हिंदी भाषा एवं साहित्य की ओर उन्मुख होनेवाले यह समझा करते थे कि हिंदी बोलचाल की भाषा मात्र है, उसका अपना कोई बहुत प्रौढ़ साहित्य नहीं है। द्विवेदीजी द्वारा उठाए गए खड़ी बोली के आंदोलन से भी लोग ऐसा समझने लग गए थे। वे यह बूझने का कष्ट उठाने नहीं जाते थे कि जिस हिंदी की चर्चा चल रही है वह युक्तप्रांत (उत्तर प्रदेश), बिहार, मध्यप्रदेश, मध्यभारत, राजपूताना और पंजाब की तो कच्ची बोली है और सारे देश की पक्की बोली या राष्ट्रभाषा। अतः जिस प्रदेश की यह कच्ची बोली है उसके अतीत जीवन में जो कुछ भी इसमें निर्मित हुआ है वह उसी की संपत्ति है। यह

सब हिंदी ही है। हिंदी का अधिकार सूर और तुलसी पर ही नहीं है, कबीर और जायसी ही उसकी अटपटी बानी और प्रेम-पीर कहनेवाले नहीं हैं, भूषण ही उसका वीर हुंकार सुनानेवाले नहीं हैं, देव, मतिराम, दास, पद्माकर आदि ही उसमें 'राधिका-कन्हाई का सुमिरन' करनेवाले नहीं हैं, विद्यापति भी उसी प्रदेश में धीरे धीरे 'दछिन पवन' बहानेवाले हैं, नामदेव, दादू आदि भी उसी में अपनी 'बानी' भन गए हैं, केशव, गुमान, खुमान आदि भी उसी भाषा के प्रबंधकार हैं, चंद्र, नरपति नाल्ह उसी की वीरगाथा का डंका पीटते चले आ रहे हैं। मीरा ने उसी के गीतों में संतों के साथ बैठकर लोक-लाज खोई थी, नानक, गोविंद आदि ने भी उसी में अपने शब्द सुनाए हैं, ग्रंथ खोले हैं।

बाबू साहब के प्रयत्न से उन सब लोगों ने जाना कि हिंदी के अतीत काल का भांडार इतना बड़ा है कि उसकी समता करनेवाला और कोई भारतीय साहित्य-भांडार नहीं है। कहीं लोग अपनी डेढ़ चावल की खिचड़ी अलग पकाने का भले ही आयोजन कर रहे हों, पर 'भाषा' ने कभी 'अलगौझे' की बात अपनी 'बानी' में नहीं कही। वह हिंदी रही, भाषा रही, उसमें व्रज भी मिली, मागधी भी, अमर (संस्कृत) भी, नाग (अपभ्रंश) भी। यहाँ तक कि सहज पारसी भी। यह नहीं कि कठोर 'पारसी' क्या, अरबी तक को मिला लेने के लिए उसे 'हिंदुस्तानी' नाम दिया जाय। सोच लीजिए मेल-मिलाप तब आपसे आप था या हिंदुस्तानी के द्वारा जबर्दस्ती कराने का प्रयास था। बाबू साहब इन सब बातों को भली भाँति जानते बूझते थे। अतः उन्होंने अपने प्रयास से लोगों की आँखें खोल दीं।

बाबू साहब खत्री थे और सच्चे अर्थ में खत्री (क्षत्रिय) थे। क्षत्रियत्व उनके एक एक कार्य से झलकता है। भाषा और साहित्य के परिपोष के लिए उन्होंने नागरीप्रचारिणी सभा की लता पनपाई, उसे पल्लवित, पुष्पित और फलित किया, हिंदी के प्रसार के लिए हिंदी-साहित्य-संमेलन की स्थापना का सुझाव रखा, 'सरस्वती' तथा 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' के प्रकाशन की योजना प्रस्तुत की, हिंदू विश्वविद्यालय में सबसे प्रथम उच्च कक्षा में स्वच्छंद हिंदी-विषय की स्थापना तथा व्यवस्था-विधान का कार्य संपन्न किया। हिंदी का वृहत् कोश, उसका बड़ा और प्रामाणिक व्याकरण, साहित्य तथा भाषा दोनों के इतिहास लिखे-लिखाए, हिंदी आलोचना का ऊँचा मानदंड करने के लिए पं० रामचंद्र शुक्ल ऐसे विद्वान् को प्रेरित किया। भारतेंदु-युग में नाटकों के प्रदर्शन के लिए मंडली-व्यवस्था की बात तो अवश्य सुनाई पड़ती है, पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन का भी प्रबंध दिखाई देता है, पर उसके प्रचार के उपयुक्त साधनों का

संभार तब तक नहीं हो सका था, उस समय के कर्ता अधिकतर कारयित्री प्रतिभा-संपन्न ही दिखाई पड़ते हैं, वर्तमान समय के कर्ता भी अधिकतर कर्ता ही हैं। कर्ता होते हुए भी कोई प्रबंधकर्ता है ? 'बाबू साहब' की ओर दृष्टि जाने पर तो कहना ही पड़ता है कि ऐसा व्यक्ति 'न भूतः' और इसके आगे दृष्टि डालने पर इधर उधर कई युगों तक 'न भविष्यति' भी मानना पड़ता है।

उनका 'बाबू साहब' नाम भी अर्थतः ठीक था। द्विवेदीजी जिस प्रकार 'पंडित' ही रहे, जीवन की सादगी लिए 'ब्राह्मण' के प्रतीक ही बने रहे, उसी प्रकार 'बाबू साहब' बोली-बानी से, चाल-ढाल से, तन-मन से, कर्म-धर्म से यहाँ तक कि अपनी पुस्तकों की सज-धज से अर्थात् सभी दृष्टियों से 'बाबू साहब' थे। उन्होंने अपने पौरुष से हिंदी की जड़ जमाई या यों कहिए कि परंपरया वर्तमान हिंदी की जड़ वे स्वयं थे और साथ ही उनके पुरुषार्थ की पूर्ण अभिव्यक्ति उनके पहनावे, उनकी रहन-सहन से भी होती रहती थी। हिंदी के संबंध में उन्होंने कभी भूलकर स्वप्न में भी कहीं झुकने का नाम नहीं लिया। अतः वे शब्दतः नहीं अर्थतः भी 'बाबू साहब' थे। फिर वे 'राय साहब' भी थे और 'डाक्टर' भी थे, इसे कौन नहीं जानता।

यही कारण था कि वे बहुत बड़े संपादक थे, क्या प्राचीन पुस्तकों के, क्या नवीन के, क्या पुस्तक-मालाओं के, क्या पत्र-पत्रिका के। उन दिनों ऐसे अच्छे, सर्वकला-निष्णात संपादक की बहुत बड़ी आवश्यकता थी, जो सब दृष्टियों से भाषा और साहित्य का संपादन कर सके। क्या यह स्मरण दिलाने की आवश्यकता है कि ऐसे संपादक के क्षेत्र-संन्यास ले लेने या दिवंगत हो जाने के अनंतर जब इधर उधर दृष्टि दौड़ाई जाती है तो स्पष्ट दिखाई देता है कि साहित्य की संवर्धना के जितने मार्ग उन्होंने निकाल दिए, वहीं आकर 'गति', या संतोष न हो तो 'प्रगति' कहिए, रुक गई और 'दीठि को और कहूँ नहिं ठौर'। बाबू साहब लेखक भी थे, अध्यापक भी थे, आलोचक भी थे इसे तो सभी जानते हैं।

अंत में यही कहना पड़ता है कि जो कमी एकांतसेवी स्वच्छ-दृष्टि-संपन्न समालोचक आचार्य रामचंद्र शुक्ल में थी उसकी पूर्ति समाजसेवी प्रबंधपटु साहित्य-मर्मज्ञ भाषावैज्ञानिक बाबू श्यामसुंदरदास ने की। जो अभाव लोकसेवी, दूरदर्शी, अग्रसोची आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी में था उसका सद्भाव सभा-संगठन के संवर्द्धक प्रत्युत्पन्नमति श्यामसुंदरदासजी में था और जो गुण काव्यकर्ता रसिक नाट्यकलास्पर्शी प्रातिभ भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र में नहीं था, वह शिक्षा-दीक्षा के मनीषी, सुधारक, बहुविध-विद्या-विभाग के प्रभविष्णु भावक 'बाबू साहब' में था।

१

जीवन-वृत्त

हिंदी के सर्वश्रेष्ठ आलोचक, भारतीय काव्य-समीक्षा-क्षेत्र में नूतन चिंतन-दृष्टि के प्रतिष्ठापक स्वर्गीय आचार्य रामचंद्र शुक्ल से सारा हिंदी-संसार परिचित है। इन्होंने सं० १९४१ की शरद् पूर्णिमा को जन्मग्रहण किया था इसीलिए 'रामचंद्र' नामकरण भी साभिप्राय हुआ। इनके पूर्वज 'भेंडी' (गोरखपुर) के निवासी थे। कहा जाता है कि इनके पूर्वजों ने एक अत्याचारी इमाम को इसलिए मार डाला था कि वह किसी ब्राह्मण-कन्या से बलपूर्वक निकाह कर लेने पर उद्यत था। इनके पिता पंडित चंद्रबली जी शुक्ल को नगर (बस्ती) की रानी साहिबा ने 'अगोना' नामक ग्राम (बस्ती) में कुछ भूमि देकर घर भी बनवा दिया था। यहीं शुक्लजी का जन्म हुआ था। जब इनके पिता हमीरपुर की राठ तहसील में सुपरवाइज़र कानूनगो थे तब ये भी अपनी शैशवावस्था में उन्हीं के साथ वहाँ रहते और हिंदी-उर्दू पढ़ते थे। पंडित गंगाप्रसाद ने इनका विद्यारंभ संस्कार वहीं कराया था। जब पिताजी की बदली मिर्ज़ापुर को हुई तो ये सं० १९४९ में मिर्ज़ापुर आ गए। इसी बीच इनकी माताजी का देहावसान हो गया। मिर्ज़ापुर के तुलसी स्कूल में ये भरती हो गए। इनका विवाह सं० १९५२ में काशी के पंडित रामफल जी ज्योतिषी की पुत्री से हुआ। लड़कपन से ही शुक्लजी को प्रकृति के खुले रूपदर्शन की चाट लग गई थी। इनके पड़ोस में रहनेवाले पंडित विंध्येश्वरीप्रसाद, जो संस्कृत के अध्यापक थे, छात्रों को साथ लेकर प्रायः पहाड़ियों और वनों में भ्रमण करने के लिए जाया करते थे। शुक्लजी भी उनके साथ हो लिया करते थे। पंडितजी अति मधुर स्वर से वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि के प्रकृति-वर्णन-विषयक पद्य पढ़ते और पढ़वाते थे। शुक्लजी का कहना था कि प्रकृति के प्राणभूत स्थल पर ही संस्कृत श्लोकों का स्वारस्य ठीक ठीक मिल पाता है। जिस वन्य जीवन में उनका निर्माण हुआ है उसी के बीच उनकी शक्ति और रमणीयता का पूरा उद्घाटन होता है।

सं० १९५२ में लंदन मिशन स्कूल से इन्होंने एंट्रेंस की परीक्षा पास की और बाद में प्रयाग की कायस्थ पाठशाला में एफ़० ए० तक अध्ययन किया। सं० १९६२ में इन्होंने मिर्ज़ापुर के मिशन स्कूल में नौकरी कर ली और वहाँ

ड्राइंग मास्टर हो गए। शुक्लजी की सुंदर लिखावट और जमे हुए अक्षर इनकी इस कला के पूर्ण परिचायक थे। पेंसिल से ये प्रायः लेटकर लिखा करते थे। फिर भी इनकी लिखावट बड़ी ही साफ़ और बिंदु-विसर्ग के सुस्पष्ट उल्लेखपूर्वक मिलती है। सं० १९६३ में इन्होंने कानून में वकालत की परीक्षा भी दी थी। एक बार काशी आने पर हिंदी के आधुनिक काल के चलते-फिरते इतिहास स्वर्गीय पंडित केदारनाथ पाठक से मिले, जिनके सहयोग से इन्हें हिंदी के अनेक ग्रंथों का आलोड़न करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। सं० १९६५ में उन्हीं की प्रेरणा से ये काशी नागरीप्रचारिणी सभा से निकलनेवाले 'हिंदी-शब्दसागर' के संपादन-विभाग में काम करने लगे। इन्हीं दिनों इन्होंने 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' का कई वर्षों तक संपादन किया था जिसमें 'मनोवेग' पर गंभीर चिंतन का प्रमाण उपस्थित करनेवाले निबंध प्रकाशित हुए थे। उनकी प्रौढ़ता का आभास इसीसे मिल सकता है कि उस समय शुक्लजी ने उन निबंधों में साहित्य-शास्त्र की जो स्थापना की थी उसका पालन ये अपने जीवन के अंतिम काल तक करते रहे। उनमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। बाद में हिंदू कालिज में अध्यापक नियुक्त हुए और जब हिंदी की उच्च शिक्षा की व्यवस्था काशी विश्व-विद्यालय में हुई तब इन्होंने उसके अध्यक्ष बाबू श्यामसुंदरदास के साथ उसकी पूरी योजना प्रस्तुत की। सं० १९९३ में बाबू साहब के अवकाश-ग्रहण करने पर ये विश्वविद्यालय के हिंदी-विभाग के अध्यक्ष नियुक्त किए गए, जिसपर अंत तक रहे। संवत् १९९७ की माघ शुक्ल ६ को इनका देहावसान हुआ।

शुक्लजी को एक बार शीतज्वर हुआ जिसकी परवा न करने से इन्हें दमे (तमकश्वास) की शिकायत हो गई। दमे के कारण जाड़े के दिनों में इन्हें प्रायः उसके आक्रमण से कष्ट भोगना पड़ता था। गरमी के दिनों में तो मैंने इन्हें पहाड़ी झरनों में घंटों स्नान करते देखा है। ये कहा भी करते थे कि दमा जाड़ों में ही तंग करता है—प्रायः प्रकृति में शीतोष्ण का सहसा परिवर्तन होने पर। ये प्रकृति के कितने उपासक थे इसका पता इतने से ही चल सकता है कि प्रति-वर्ष मिर्जापुर के रमणीक स्थलों में घूमने बराबर जाया करते थे। एक बार ये 'मेघदूत' के श्लोकों का अनुगमन करते हुए उसमें वर्णित सभी प्राकृतिक स्थानों का निरीक्षण करने भी निकले थे। लोगों के मना करने पर भी अमरकंटक के घोर वन में, सिंह-भालू आदि से सेवित प्रदेश में, घूमने गए थे जहाँ दिन में भी रात्रि का सा अंधकार छाया रहता है।

इन्होंने विभिन्न भाषाओं से अनुवाद भी किए हैं और हिंदी में प्राचीन ग्रंथों के संपादन के साथ गद्य-पद्य की मौलिक रचनाएँ भी प्रस्तुत की हैं। कल्पना का

आनंद (एडिसन के 'एसे आन दि इमैजिनेशन' का अनुवाद), मेगास्थनीज का भारतवर्षीय विवरण, शशांक (राखालदास बंद्योपाध्याय के बँगला ग्रंथ का अनुवाद जिसमें इन्होंने पुरातत्व की नूतन खोज के फलस्वरूप कुछ अध्याय अपनी ओर से बढ़ाए हैं), जीवन के आनंद, राज्यप्रबंध-शिक्षा आदि इनके अनुवाद-ग्रंथ हैं। इन्होंने तुलसी-ग्रंथावली का संपादन किया, उसमें प्रस्तावना लिखी, जो बाद में 'गोस्वामी तुलसीदास' नाम से स्वतंत्र पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुई। सूरदास के भ्रमर-गीतों का 'भ्रमरगीत-सार' के नाम से संपादन किया, जिसमें सूरदास पर एक आलोचनात्मक निबंध भी भूमिका रूप में जोड़ा। जायसी-ग्रंथावली में मूल ग्रंथ से भी बड़ी इनकी लिखी विस्तृत भूमिका है। इन्होंने 'काव्य में रहस्यवाद' पुस्तक लिखी। 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' पर 'माधुरी' में बहुत बड़ा निबंध लिखा जिसे एक पुस्तक ही समझना चाहिए। चौबीसवें हिंदी-साहित्य-संमेलन की साहित्य-परिषद् के अध्यक्ष-पद से साहित्य के स्वरूप का विवेचन करते हुए जो भाषण दिया वह भी एक पुस्तक ही है। 'हिंदी-साहित्य का इतिहास' पहले शब्द-सागर की भूमिका के रूप में छपा, बाद में पुस्तकाकार। दूसरे संस्करण में इसे इन्होंने बहुत प्रवर्धित कर दिया है। 'बुद्धचरित' का पद्यानुवाद इन्होंने 'लाइट आव् एशिया' के आधार पर किया—ब्रजभाषा में। खड़ी बोली में 'हृदय का मधुर भार' आदि इनकी बहुत सी मनोहर रचनाएँ हैं। इनके निबंधों का संग्रह 'चिंतामणि' के नाम से हुआ है, जिसके दो भाग प्रकाशित हो चुके हैं। इन्होंने आरंभ में अँगरेजी में बहुत से निबंध लिखे थे, जिनमें हिंदी के स्वरूप का विवेचन किया गया है। इनका 'सूरदास' नामक अधूरा ग्रंथ इनकी मृत्यु के अनंतर प्रकाशित हुआ और अब 'रस-मीमांसा' भी प्रकाशित हो गई है। इन्होंने कुछ कहानियों और एक नाटक का भी प्रणयन किया था।

इन्होंने दुर्गाकुंड पर खुले मैदान में खेतों के बीच प्रचुर धन व्यय करके अपना घर भी बनवाया था जिसमें भारतीय वास्तु-विद्या के अनुसार निर्माण का कार्य हुआ है। इसमें गरमी और सरदी से बचाव के लिए दुसरी दीवारें बनाई गई हैं। इस स्थान पर नागरीप्रचारिणी सभा की ओर से शिलारोपण भी हुआ है। इनकी धर्मपत्नी का भी निधन इनकी मृत्यु के एक वर्ष बाद हो गया था। शुक्लजी की तीन विवाहिता पुत्रियाँ हैं और दो पुत्र श्रीकेशवचंद्र और श्रीगोकुलचंद्र। शुक्लजी 'मानदंड' नाम से साहित्य-समीक्षा का एक पत्र भी प्रकाशित कराना चाहते थे।

२

कार्य-कलाप

शुक्लजी लड़कपन से ही हिंदी की ओर प्रवृत्त थे। विद्यार्थी-जीवन में ही विद्या की ओर इनकी ऐसी रुचि हो गई थी कि रात-रात भर पुस्तकें पढ़ते रह जाते थे। इनके साथी इसके लिए इनकी हँसी भी उड़ाया करते थे। वाङ्मय के दोनों पक्षों पर इनका समान अधिकार था अर्थात् ये काव्य और शास्त्र दोनों के कर्ता थे। इसी के साथ यदि भाषा को भी मिला लें तो काव्य, शास्त्र और भाषा तीनों पर आप समान अधिकार के साथ युवावस्था से ही लिखते आ रहे थे।

काव्य की जितनी शाखाएँ हैं उन सबमें इन्होंने अपनी प्रतिभा दिखाई। कविता भी लिखी, नाटक भी लिखा, कहानी भी लिखी। ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में इनकी कविताएँ हैं। ब्रजभाषा में तो इन्होंने 'बुद्धचरित' नामक महाकाव्य ही लिखा है, जिसमें प्रबंध-काव्य की सामग्री तो है ही, ब्रजभाषा का ऐसा प्रसन्न और परिमार्जित स्वरूप भी दिखाई देता है जैसा हिंदी में आजतक नहीं दिखाई पड़ा था। पर खड़ी बोली के कोलाहल में ब्रजभाषा की ओर से कवि लोग ऐसे मुड़े कि उस स्वरूप पर ध्यान देना तो दूर की बात है, ब्रजभाषा में रचना करना ही त्याग रहे हैं। इन्होंने खड़ी बोली में कुछ मुक्तक और पद्य-निबंध लिखे हैं। 'हास्यविनोद' नाम का इन्होंने एक नाटक पूरा लिख डाला था, पर इनके एक मित्र उसे पढ़कर इतना हँसे कि हँसते हँसते उसे फाड़ ही डाला। फिर इन्होंने ऐतिहासिक नाटक 'पृथ्वीराज' लिखना आरंभ किया, पर वह पूरा न हो सका, दो अंकों के बाद अधूरा ही रह गया। हिंदी में साहित्यिक मौलिक कहानियों का आरंभ शुक्लजी की 'ग्यारह वर्ष का समय' नामक कहानी से होता है, जो सं० १९६० में 'सरस्वती' से प्रकाशित हुई थी।

शास्त्र-पक्ष अर्थात् समीक्षा पर भी इनके फुटकल निबंध बहुत पहले ही प्रकाशित होने लगे थे, और वे जिस रूप में पहले थे उसी रूप में अब भी हैं। तात्पर्य यह कि शुक्लजी ने बहुत आरंभ में ही विचारों की ऐसी प्रौढ़ता प्राप्त कर ली थी जिससे उन्हें २५, ३० वर्ष के दीर्घकाल के अनंतर भी अपने पुराने निबंधों में कोई परिवर्तन या संशोधन करने की आवश्यकता नहीं पड़ी। ऐसी थी उनकी प्रत्यभिज्ञा और प्रतिभा। 'कविता क्या है', 'भारतेंदु की समीक्षा' आदि निबंध उसी समय के हैं।

अब देखना चाहिए कि शुक्लजी ने हिंदी में कौन सा ऐसा काम किया जिसके कारण हिंदी की नीवँ दृढ़ और पुष्ट हुई। हिंदी में काव्य-पक्ष को प्रस्तुत करनेवाले तो बहुत से दिखाई पड़े, उनमें ऐसे ऐसे प्रतिभावान् भी हुए जिन्होंने हिंदी में ऐसी रचनाएँ कीं जिनके कारण हिंदी अन्य समृद्ध भाषाओं से होड़ करने के योग्य हुई। पर शास्त्र-पक्ष पर कुछ भी नहीं था, जो था भी वह आरंभिक, साधारण या एकपक्षीय था। संस्कृत-साहित्य में शास्त्र-पक्ष की जो प्रभूत संपत्ति थी उसे शृंगारकाल के कवि तो भली भाँति ले ही नहीं सके थे, इस गद्यकाल में भी अधकचरी बातें अनुवाद के रूप में या स्वच्छंद पुस्तकों के रूप में निकल रही थीं। पश्चिमी देशों में समीक्षा का जो प्रसार हो रहा था, उसकी ओर अँगरेजी पढ़नेवाले लालायित दृष्टि से देखा करते थे। हिंदी के प्रति जैसे संस्कृत के पंडित 'भाखा' कहकर उपेक्षा दिखाते थे, उसी प्रकार अँगरेजी पढ़नेवाले बाबू इसे 'बोली' मात्र समझते थे। उन्हें पढ़ने-लिखने की सामग्री इसमें दिखाई ही नहीं पड़ती थी। जब कभी दबाव से लिखने भी बैठते तो अँगरेजी के समीक्षकों के नामों तथा गद्यांशों की उद्धरणी ही किया करते थे। उन्हें हिंदी के साथ ही संस्कृत में भी 'कुछ नहीं' समझ में आता था।

इधर विश्वविद्यालयों में हिंदी को प्रतिष्ठित कराने के प्रयत्न में सफल होनेवाले शुक्लजी ने समीक्षा का वह वाङ्मय भी प्रस्तुत किया जिसे पढ़ और समझकर अँगरेजी में रँगे रहनेवाले भी समझने लगे हैं कि विदेशी समीक्षाओं का परिमाण चाहे जितना हो, पर तत्त्व की मात्रा उसी परिमाण में सभी स्थानों पर नहीं मिलती। भारतीय पक्ष को अपने ढंग से प्रस्तुत करनेवाले और उसके मानदंड से देशी-विदेशी सभी प्रकार की विचार-सरणियों को माप लेनेवाले सबसे पहले भारतीय समीक्षक शुक्लजी ही हैं।

इसके लिए शुक्लजी ने कुछ साँचे अथवा कसौटियाँ अपने हृदय में बना रखी थीं। इसमें संदेह नहीं कि ये कसौटियाँ उन्होंने बहुत सोच-विचार के पश्चात् खोज निकाली थीं। संस्कृत के आचार्यों ने जैसे रस की कसौटी निकाली थी, उसी प्रकार शुक्लजी ने भावों की, लोक की, प्रकृति की कसौटियाँ निकालीं। इनके द्वारा वे सारे विश्व का साहित्य परख सकते थे। सबसे अद्भुत बात यह है कि ये कसौटियाँ एक दूसरी से मिली हुई हैं, पृथक् पृथक् नहीं। बुद्धि और हृदय के सच्चे योग से यह कौशल दिखलाया गया है। अतः अब हिंदी-साहित्य का भांडार एकदम खाली नहीं है। 'हिंदी-साहित्य का इतिहास' प्रस्तुत करते हुए उन्होंने छाँटकर वह रत्नराशि एकत्र कर दी और उसकी चमक-दमक को कसकर ऐसा चमका दिया कि बहुतों की आँखें खुल गईं। अपनी रचनाओं के

बीच उन्होंने बहुत से इसके संकेत भी कर दिए हैं। उन पर संभवतः वे लिखनेवाले थे, पर यम के अनिवार्य आतिथ्य के कारण वह न हो सका। राजमार्ग उन्होंने प्रस्तुत कर दिया, उससे न जाने कितनी वीथिकाएँ निकल सकती हैं, जिनके लिए वे उसी मार्ग में स्थान स्थान पर चिह्न छोड़ते गए हैं।

'हिंदी-शब्दसागर' में भी शुक्लजी ने बहुत अधिक कार्य किया है। 'शब्दसागर' में दिए हुए लक्षणों की शब्दावली में इसका आभास मिल जाता है। सुना गया है कि जब शब्द-संग्रह हो रहा था तब हिंदी के बहुत से शब्द सड़े गले कहकर फेंक दिए गए। फेंके हुए शब्दों की चिटें एकत्र कराकर उनमें से अधिकांश शब्द, तर्क द्वारा उनका महत्त्व प्रतिपादित करके, इन्होंने फिर से रखवाए। इस प्रकार शुक्लजी ने आरंभ से ही हिंदी की समस्त संपत्ति पर बड़ी सावधानी से दृष्टि रखी, तभी वह इतनी समृद्ध दिखाई देती है। इसमें संदेह नहीं कि इनके साथियों और सहयोगियों ने भी बहुत बड़ी सहायता की थी, पर मुझे तो यही जान पड़ता है कि शक्ति का प्रधान केंद्र ये ही थे।

हिंदी के आधुनिक युग में उसकी प्रतिष्ठा के लिए जैसा प्रयत्न भारतेंदु और द्विवेदीजी द्वारा अतीत में हुआ वैसा ही क्या, उससे भी सबल प्रयत्न शुक्लजी का वर्तमान युग में माना जाना चाहिए। ज्यों ज्यों किसी राज्य का विस्तार बढ़ता जाता है त्यों त्यों उसके सँभालनेवाले शासक का उत्तरदायित्व भी बढ़ता जाता है। इस नवीन युग में शुक्लजी को हिंदी की पूर्ण प्रतिष्ठा करने में विशेष सावधानी दिखलानी पड़ी है।

यहाँ तक तो कर्ता एवं समीक्षक शुक्लजी की चर्चा हुई। अब शुक्लजी के मानव-रूप पर स्मृति को दौड़ाइए। उन्हें शील की प्रतिमा कहने से भी संतोष नहीं होता। अतः उन्हें शील-निधान कहकर काम चलाते हैं। भगवान् रामचंद्र का चरित्र लड़कपन से ही पढ़ने, मनन करने से 'भृंगी-कीट-न्याय' से वैसा ही शील इन्हें भी आवृत किए हुए था। क्या कुटुंब में, क्या लोकाचार में, इन्होंने शील से कभी मुँह नहीं मोड़ा। बड़ों, मित्रों तथा सेवकों के प्रति इनका वह शील सबके जीवन-काल में निरंतर ध्यान करने और अपनी स्मृति में कुछ देर तक मग्न किए रहने का हेतु बना रहेगा। अपने ग्रंथों या निबंधों में इन्होंने जो कहीं कहीं खीझ दिखलाई है उसका कारण है साहित्य की रक्षा का प्रयत्न। वह रोष व्यवस्था के विचार से व्यक्त करना पड़ा है।

शुक्लजी बड़े विनोदशील व्यक्ति थे। भले ही शिष्ट-समाज या छात्रों के बीच हँसते न रहे हों, पर गोष्ठियों में इन्हें बहुतों ने दिल खोलकर हँसते देखा होगा। इनके विनोदों की विशेषता यह होती थी कि वे बड़े मार्मिक और गंभीर

होते थे। हृदय पर चोट तो देती थी, पर ऐसी कि आहत व्यक्ति भी उसे हँसते हँसते ही सहता था। अस्थानस्थ विनोद इन्होंने कभी नहीं किया। इनमें जैसी गंभीरता और विनोदशीलता थी वही इनकी रचनाओं में भी स्थान स्थान पर झलकती है।

इन्हें भ्रमण का विशेष अनुराग था। एक बार ये कालिदास का 'मेघदूत' लेकर भ्रमण करने निकले थे और यक्ष द्वारा मेघ को बतलाए हुए मार्ग को देखते हुए तथा कालिदास की रचना से उसका मिलान करते हुए यात्रा कर रहे थे। भारत विशेषतः उत्तर भारत का इन्होंने विशेष भ्रमण किया था। विन्ध्य के उसी वन्य जीवन का प्रभाव था कि ये नगर की दूषित वायु से घबराया करते थे। दुर्गाकुंड (काशी) में इन्होंने अपना जो नया गृह बनवाया उसके चारों ओर खुला मैदान है। खेतों के बीच अकेला खड़ा यह भवन इनके प्रकृति-प्रेम का साक्ष्य अब भी दे रहा है। पेड़-पौधों का भी इन्हें निराला शौक था। ये प्रकृति की साधारण-असाधारण सभी प्रकार की विभूति के संग्रहकर्ता थे। इसलिए अपने मकान के अहाते में उगे हुए भटभाँड़ (सत्यानाशी) के पौधों को इन्होंने उखाड़ नहीं फेंकवाया। इनकी चलती तो उन्हें कदाचित् गमलों में लगवा देते। पेड़ों की काट-छाँट भी इन्हें पसंद न थी। उन्हें ये स्वच्छंद रूप में ही बढ़ने देना चाहते थे।

प्रकृति-प्रेम केवल पेड़-पौधों तक ही परिमित न था। जीवों का भी इन्हें अनुराग था। कुत्तों को तो नहीं, किंतु बिल्ली को और वह भी एक दो को नहीं उनके मंडल के मंडल को पाल रखना अवश्य इनकी व्यक्तिगत विशेषता थी। कभी कभी तो ये उस मार्जार-मंडल के बीच बैठकर उसके साथ फुरसत के समय अपने विरलहृदय को मिलाया भी करते थे। कहाँ तक कहें, कहने को बहुत कुछ है, पर उद्गार ग्रंथ का विस्तार माँगता है।

मनस्वी शुक्लजी ने सरकारी नौकरी की ओर रुचि कभी नहीं दिखलाई। प्रत्युत 'हिंदुस्तान रिव्यू' में 'व्हाट हैज इंडिया टु डू' शीर्षक लेख लिखकर अपने भविष्य जीवन का सच्चा आभास दिया।

शुक्लजी की विशेष प्रसिद्धि उस समय से हुई जब इन्होंने तुलसी-ग्रंथावली के तीसरे भाग के आरंभ में तुलसीदासजी की विस्तृत तथा विद्वत्तापूर्ण समीक्षा 'प्रस्तावना' रूप में लिखी। फिर तो हिंदी में इनकी समीक्षाओं की धूम मच गई। जायसी को हिंदी में भली भाँति प्रतिष्ठित करने का सारा श्रेय शुक्लजी की लंबी चौड़ी तथा शास्त्रीय समीक्षा को है। 'भ्रमरगीत-सार' नाम के संग्रह में सूरदासजी की भी संक्षिप्त पर मार्मिक आलोचना प्रकाशित हुई है।

रहस्यवाद की नई रंगत की हो। जब कुछ लोग काव्य का चरम लक्ष्य बतलाने लगे तो 'काव्य में रहस्यवाद' नाम से एक पुस्तिका भी प्रकाशित कराई जिसका प्रभाव नवीन कविता पर बहुत अधिक पड़ा। 'माधुरी' में इनका एक विस्तृत लेख 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' शीर्षक से निकला था। 'मालवीय कमेमोरेशन वाल्यूम', द्विवेदी अभिनंदन-ग्रंथ और हरिऔध अभिनंदन-ग्रंथ में भी इनके गवेषणापूर्ण लेख निकले हैं। सभा-संमेलनों से ये बहुत ही छुआया करते थे पर इंदौर के हिंदी-साहित्य-संमेलन को साहित्य-परिषद् का सभापति होना एक विशेष कारणवश इन्हें स्वीकार करना पड़ा। सभापति-पद से इन्होंने बहुत ही गंभीर पर चौछारों से भरा भाषण किया था।

शुक्लजी की पत्नी भी पढ़ी लिखी थीं, उन्होंने बँगला से कुछ उपन्यासों का अनुवाद भी किया है।

३

हा मेंधिके !

स्वर्गीय आचार्य रामचंद्र शुक्ल के प्रकृति-प्रेम से सारा हिंदी-संसार परिचित है। यह प्रकृति-प्रेम उनके जीवन का बहुत ही आवश्यक तत्त्व था। नागरिक जीवन की परिधि से निकलकर और प्रकृति की विशद भूमिका में पहुँचकर वे किस प्रकार अपने हृदय का तादात्म्य प्रकृति के साथ स्थापित किया करते थे इसे उनके निकट रहनेवाले लोग ही भली भाँति जानते हैं। अपने देहावसान के पूर्व शुक्लजी हिंदी विभाग के अपने सहयोगियों सहित विंध्य में भ्रमण करने के लिए गए हुए थे। यद्यपि वे जीवन भर प्रकृति के नूतन रूपों के साक्षात्कार में संलग्न रहे और उसके अनेक रूपों के दर्शन किए भी, पर उनके हृदय की तृप्ति नहीं हुई थी। वन्य जीवन व्यतीत करनेवालों के मना करने पर भी जो अमरकंटक के सिंह-भल्लूकादि से भरे सघन वनों में प्रविष्ट हुआ हो, ऐसी गहनता में जहाँ दिन में भी रात्रि का आभास मिलता है, जो कालिदास के मेघदूत में संकेतित प्राकृतिक प्रदेशों की, पुलक से उल्लसित मन से, यात्रा करने निकला हो, जो पूर्णिमा की चाँदनी में निशीथ की छटा देखने के लिए हिंस्र जंतुओं की कुछ भी चिंता न करके रमा रहा हो, यदि वह प्रकृति की नवीन विभूति देखने के लिए, बहुत कुछ देख लेने पर भी, लालायित रहा हो तो स्वाभाविक ही है।

इस बार प्रकृति की नूतन रूपराशि का अवलोकन करने के लिए शुक्लजी अपनी मंडली के साथ विंध्य की ऐसी उपत्यका में घुसे, जहाँ वे कभी नहीं गए थे। वहाँ पहुँचकर उन्हें ऐसा कुतूहल हुआ वैसा कभी नहीं हुआ था। उपत्यका के छोटे छोटे भरकदार नालों और उसके मध्य में बहती हुई स्रोतस्वती के दोनों तटों पर मेंहदी के असंख्य झाड़ खड़े थे। इन पौधों की बहुलता ने औरों का ध्यान ही आकृष्ट किया, पर शुक्लजी को आश्चर्य में डाल दिया। उनकी धारणा थी कि बिलोचिस्तान के जंगलों में ही मेंहदी स्वतः उत्पन्न होती है और वहीं से यह भारत में मुसलमानों के साथ आई है तथा बाग-बगीचों में लगाई जाती है। विंध्याचल में अष्टभुजा जाते समय मध्यमार्ग में जो नाला पड़ता है वहीं एक झाड़ उन्हें जंगली रूप में उगा दिखाई पड़ा था जिसे वे अपवाद-स्वरूप या किसी प्रकार लग गया हुआ मानते थे। उस दिन उन्होंने यह घोषणा की कि नहीं मेंहदी विंध्य में भी स्वतः होती है, वह बिलोचिस्तान से नहीं आई।

रहस्यवाद की नई रंगत को ही जब कुछ लोग काव्य का चरम लक्ष्य बतलाने लगे तो 'काव्य में रहस्यवाद' नाम से एक पुस्तिका भी प्रकाशित कराई जिसका प्रभाव नवीन कविता पर बहुत अधिक पड़ा। 'माधुरी' में इनका एक विस्तृत लेख 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' शीर्षक से निकला था। 'मालवीय कमेमोरेशन आल्बम', द्विवेदी अभिनंदन-ग्रंथ और हरिऔध अभिनंदन-ग्रंथ में भी इनके गवेषणापूर्ण लेख निकले हैं। सभा-संमेलनों से ये बहुत जी छुड़ाया करते थे पर इंदौर के हिंदी-साहित्य-संमेलन की साहित्य-परिषद् का सभापति होना एक विशेष कारणवश इन्हें स्वीकार करना पड़ा। सभापति-पद से इन्होंने बहुत ही गंभीर पर बौछारों से भरा भाषण किया था।

शुक्लजी की पत्नी भी पढ़ी लिखी थीं, उन्होंने बँगला से कुछ उपन्यासों का अनुवाद भी किया है।

उन्होंने अपने विस्फारित नेत्रों से भावकोश पं० केशवप्रसादजी मिश्र की ओर देखा और पूछा—"कहिए पंडितजी संस्कृत में मेंहदी का उल्लेख कहाँ है।" शब्द-रत्नाकर मिश्रजी ने तुरंत उत्तर दिया—"किसी कोश का टुकड़ा मुझे यों स्मरण है—मेंधिका नखरंजनी।" इसे सुनकर उन्होंने कहा—"तब तो निश्चय ही यह अपने यहाँ की वस्तु है। मुसलमानों में मेंहदी की कई रस्में हैं अवश्य, पर इसका उपयोग यहाँ के लोग भी अवश्य जानते रहे होंगे।" इससे स्पष्ट है कि शुक्लजी का प्रकृति-प्रेम केवल मनोरंजन के लिए नहीं था, उसमें नूतन अनुसंधान की कामना भी लगी रहती थी। उस उपत्यका का नामकरण उसी दिन से 'मेंधिका' हो गया। शुक्लजी वहाँ की पुनः यात्रा करने के लिए प्रतिश्रुत हुए थे और अपने सहयोगियों को भी प्रतिश्रुत किया था। पर फिर अवसर न आया, न आया। आज भी 'मेंधिका' की स्मृति वैसी ही हरी भरी है। उसका नाम ध्यान में चढ़ते ही, मन उतर जाता है। वहाँ फिर से जाने का साहस हम लोग अब तक न बटोर सके।

वहीं एक और घटना घटित हुई जो शुक्लजी के उत्फुल्ल मानस का साक्षात् करने के लिए कभी भुलाई नहीं जा सकती। वे तैरना नहीं जानते थे। स्नान करने के लिए जो स्थल चुना गया वह शिलाखंडों से परिपूर्ण था। जल के भीतर तिरछे-बेड़े, चित्त-पट्ट पड़े पाषाण-खंड प्रवाह में उतरने के लिए मना कर रहे थे। शुक्लजी अपने पुराने साथी 'पहलवानजी' (यही नाम स्मरण रह गया है) के सहारे अवगाहन करने के लिए जल में उतरे और डुबकी लगाई। डुबकी लगाते ही जल में खड़ी शिला की कोर से उनका माथा जा टकराया। सिर बाहर निकलने पर सारी मंडली ने विषण्ण वदन से देखा कि उनके ललाट के मध्य से रक्त की छिंछि फूट निकली है। सबके मुखों से 'अरे' की ध्वनि निकल पड़ी, पैर उनकी ओर बढ़े और हाथ उपचार करने के लिए व्याकुल हो उठे। करुणाप्लुत केशवजी ने भावमुग्ध पं० जगन्नाथप्रसादजी के पनडब्बे से चूना लेकर घाव भर दिया और लोग डूबे मन से प्रश्न करने लगे कि 'चोट कैसे लगी'। शुक्लजी ने प्रफुल्ल वदन से उत्तर दिया 'यह चोट नहीं है, प्रकृति देवी के चरणों में मैंने रक्त का अर्घ्य दिया है।' लोगों का सारा विषाद उनकी वाग्धारा से धुल गया। ऐसे प्रकृतिव्यापी मानस ने यदि दूसरों को साहित्य में फिर से प्रकृति की पूजा के लिए आहूत किया तो उचित ही किया। पश्चिमी यांत्रिक जीवन से कलुषित हृदयवाले भले ही उसे पुरानी बात और अनावश्यक कहकर त्यागने का हल्ला मचाएँ, पर सच्चा भारतीय हृदय प्रकृति को त्यागने के लिए कभी तत्पर नहीं है। नागरिक जनसंमर्द और कृत्रिम आकर्षण पर

करनेवाले अपना मन मार डालें, पर प्रकृति की एकांत गोद में प्राकृतिक स्वर्गीयता पर निछावर होनेवाले अपना मन दबाकर निकले आए हैं और निकलते रहेंगे। जिन्होंने प्रकृति से अपनी आँखें फेर ली हैं, उनकी आँखों में न तो ज्योति ही रह गई है और न मानस में सरलता। विद्युत्-प्रकाश ने उनकी दृष्टि छीन ली है और धूमराशि ने उनका दम घोंट दिया है।

जब जब इस घटना की याद आती है मानव प्रकृति के प्रति उल्लास से भर जाता है, कुमारी की हँसती, दीप्ति-आनन्दी प्रतिमा उसके तट पर खड़ी हो जाती है, नेत्र में आँसू की धारा उसे नहलाने के लिए उमड़ पड़ती है और उस उद्गार के लिए वाणी फूट पड़ती है—'हा गोमिके!'

हरिऔधजी की लोकदृष्टि

'हरिऔधजी' ने जब से 'प्रियप्रवास' की रचना की तब से उसके संबंध में आज तक विचार होता चला आ रहा है। उसके निकलते ही सबसे पहले जो विचार हुआ वह बहुत ही स्थूल दृष्टि से। लोग यही देखते रहे कि उसकी भाषा कैसी है। किसी ने कहा कि इसमें खड़ी बोली कुछ अव्ययों और क्रियापदों में ही सिकुड़कर रह गई है, तो दूसरे सज्जन बोल उठे कि इसमें व्रजभाषा के अव्ययों का प्रयोग करके कवि ने खड़ी बोली का स्वरूप बिगाड़ दिया है। पहले प्रकार के महानुभावों ने यह नहीं देखा कि रूपवर्णन में संस्कृत की काव्योपयोगी सामासिक पदावली का कुछ अधिक सहारा लेकर यदि 'रूपोद्यानप्रफुल्लप्राय-कलिका राकेंदुबिम्बानना' लिखा गया है तो भाव-व्यंजना के लिए सरस शब्दावली में ऐसे छंद भी बराबर आए हैं—

रोता होता विकल अति ही एक आभीर बूढ़ा।
दीनों के से वचन कहता पास अक्रूर आया।
बोला कोई जतन जन को आप ऐसा बतावें।
मेरे प्यारे कुँवर मुझसे आज न्यारे न होवें॥

दूसरे प्रकार के लोगों को उन हठवादियों की कविता देखनी चाहिए जो पहले गद्य एवं पद्य में भेद करके नहीं चलते थे, पर अब व्रज के हिय-हिया, त्यों, लौं, औ आदि का भी प्रयोग स्वयं ही करने लगे हैं।

रीति (डिक्शन) का विचार करनेवालों के बाद ऐसे लोगों की बारी आई जो उसके महाकाव्यत्व पर विचार करने बैठे। शास्त्रीय ग्रंथों में गिनाई हुई स्थूल बातें जब 'प्रियप्रवास' के महाकाव्यत्व के साथ खड़ी दिखाई पड़ीं तो 'पूर्ण जीवन' की पुकार मची। प्रबंध-काव्य की कथा का कोलाहल हुआ। तात्पर्य यह कि 'प्रियप्रवास' पर जितनी आलोचनाएँ हुईं उनमें अधिकतर स्थूल दृष्टि से ही विचार किया गया। इस काव्य में कवि ने जैसी अलौकिक लोक-दृष्टि दिखाई, उसपर विचार करनेवाले बहुत कम या बिलकुल ही नहीं दिखाई पड़े। यहाँ हम उसी पर थोड़ा विचार करेंगे।

व्यास और जयदेव की भक्ति का स्वरूप आगे चलकर ऐसा पलटा कि सूरदास के बाद हिंदी के पुराने कवियों में 'राधिका-कन्हाई-सुमिरन को बहानो' मात्र रह गया। भक्ति बहाना हो गई, लौकिक शृंगार ही सामने आ

गया। कुरुक्षेत्र में अर्जुन को गीता का ज्ञान सुनानेवाले महापुरुष को इन कवियों ने केवल 'रसिया' और 'छैला' रूप में ही देखा। इसी से हिंदी-काव्य को फिर से समाज की वृत्तियों के साथ जोड़ देने की बहुत बड़ी आवश्यकता उस समय जान पड़ी, जब देश में नई नई भावनाओं, विचारों एवं सुधारों का प्रसार होने लगा। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने सबसे पहले काव्य को चलित जीवन से भी मिलाने पर दृष्टि डाली, पर और सब प्रकार का संस्कार करके भी उन्होंने श्रीकृष्ण-लीला के रूप को ज्यों का त्यों छोड़ दिया। यह संस्कार हरिऔधजी ने किया।

'प्रियप्रवास' में श्रीकृष्ण महापुरुष के रूप में चित्रित किए गए हैं। वाल्मीकि ने श्रीराम को महापुरुष—पूर्ण मनुष्य—के रूप में ही दिखलाया है, वही पूर्णमानवता 'प्रियप्रवास' के श्रीकृष्ण में भी मिलती है। ऐसा रूप देने के लिए कवि ने केवल उन्हें ऐसा मानकर या कहकर ही नहीं छोड़ दिया है, प्रत्युत श्रीकृष्ण-लीला में आनेवाली बहुत सी ऐसी बातें भी जो आजकल की दृष्टि से काल्पनिक जान पड़ती हैं, बुद्धि-संगत रूप में सामने रखी गई हैं; जैसे गोवर्धन का उँगली पर उठाना—

> अवनत हो करते सबने उन्हें,
>
> सकल काल लगा सप्रसन्नता।
>
> रजनि भी उनकी कटती रही,
>
> सविधि रक्षण में व्रज-लोक के।
>
> लख अपार प्रसार गिरींद्र में,
>
> व्रजधराधिप के प्रिय पुत्र का।
>
> सकल लोग लगे कहने उसे,
>
> रख लिया उँगली पर श्याम ने।

यदि यहीं तक परिष्कार हुआ होता तो मानना पड़ता कि सनातन पौराणिक मार्ग बुद्धिवादी अपनी स्थूल बुद्धि से समझ सकें इसी से कवि ने ऐसा किया है, पर यह लोकदृष्टि यहीं तक नहीं है। ये लोक में भगवान् की विभूति का ही प्रसार देखते हैं। ये गीता के इस श्लोक के अनुयायी हैं—

> यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
>
> तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

इसी लिए उनकी नवधा भक्ति का स्वरूप यह है—

> जी से बातें सकल सुनना आर्त्त उत्पीड़ितों की।
>
> रोगी प्राणी व्यथित जन की लोक उन्नायकों की।

सच्छास्त्रों का श्रवण सुनना वाक्य सत्संगियों का।
मानी जाती श्रवण अभिधा भक्ति है सज्जनों में।
सोए जागे, तम-पतित की दृष्टि में ज्योति आवे।
भूले आवें सुपथ पर औ ज्ञान-उन्मेष होवे।
ऐसे गाना कथन करना दिव्य न्यारे गुणों का।
है प्यारी भक्ति प्रभुवर की कीर्त्तनोपाधिवाली।

भगवान् की भक्ति करनेवालों में अगर यही दृष्टि बनी होती—श्रवण और कीर्तन का तात्पर्य केवल नाम की रट सुनना और लगाना न होता—तो देश में न तो अपाहिजो की संख्या बढ़ती और न दुखियों के दुःख की ओर आँख उठा कर देखनेवालों, उन्हीं की सेवा को स्वर्ग समझनेवालों की ही कमी होती—

स्वर्गं नाभिवाञ्छामि न राज्यं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्त्तिनाशनम्॥

इसी प्रकार अन्य भक्तियों का भी स्वरूप देखिए—

विद्वानों के स्वगुरुजन के देश के प्रेमियों के।
ज्ञानी दानी सुचरित गुणी राज-तेजस्वियों के।
आत्मोत्सर्गी विबुध जन के देव सद्विग्रहों के।
आगे होना नमित प्रभु की भक्ति है वंदनाख्या।
जो बातें हैं भवहितकरी सर्वभूतोपकारी।
जो चेष्टाएँ मलिन गिरती जातियाँ हैं उठाती।
हाथों बाँधे सतत उनके अर्थ उत्सर्ग होना।
विश्वात्मा-भक्ति भवसुखदा दासता संज्ञका है।
कंगालों की विवश विधवा औ अनाथाश्रितों की।
उद्विग्नों की सुरति करना औ उन्हें त्राण देना।
सत्कार्यों का विविध पर की पीर का ध्यान आना।
भाखी जाती स्मरण अभिधा भक्ति है भावुकों में।

विपत-सिंधु पड़े, नर-वृंद के,
दुख-निवारण औ हित के लिए।
अरपना अपने तन-प्राण को,
प्रथित आत्मनिवेदन भक्ति है।

संत्रस्तों को शरण मधुरा शांति संतापितों को।
निर्बोधों को सुमति विविधा, औषधी पीड़ितों को।

पानी देना तृषित जन को अन्न भूखे नरों को ।
सर्वात्मा-भक्ति अति रुचिरा अर्चना संज्ञका है ।
नाना प्राणी तरु गिरि लता आदि की बात ही क्या ।
जो है भू में गगनतल में भानु से तारकों लौं ।
सद्भावों के सहित उनसे कार्य प्रत्येक लेना ।
सच्चा होना सुहृद उनका भक्ति है सख्य नाम्नी ।
जो प्राणिपुंज निज कर्म निपीड़ितों से ।
नीचे समाज वपु के पग लौं पड़ा है ।
देना उसे शरण मान प्रयत्न द्वारा ।
है भक्ति लोकपति की पद-सेवनाख्या ।

'प्रियप्रवास' भर में इसी प्रकार की अलौकिक लोकदृष्टि हरिऔधजी ने स्थान स्थान पर दिखलाई है। जो लोक से उदासीन होकर व्यक्तिसाधना करते हैं, या जो कविता द्वारा ऐसी साधना का प्रचार करना चाहते हैं जो लोक के प्रति उदासीन हैं वे अलौकिक बातों का चाहे जितना बखान करें, देश को निकम्मा बना डालेंगे, पर जिनकी दृष्टि लोक पर है, जो उससे उदासीन नहीं हैं, जो कविता के द्वारा लोगों को सामान्य भूमि पर लाना चाहते हैं, जो प्राणी प्राणी के बीच, प्राणी और प्रकृति के बीच भरपूर अनुराग उत्पन्न करनेवाले हैं, वे ही लोकसिद्ध कवि सच्चे कवि हैं।

गुप्तजी की साहित्य-साधना

कविता या पद्य के क्षेत्र में खड़ी बोली की पूर्ण प्रतिष्ठा करनेवालों में श्रीमैथिलीशरण गुप्त का क्या स्थान है यह उन लोगों को अप्रत्यक्ष नहीं जो वर्तमान हिंदी-साहित्य की गतिविधि का निरीक्षण सावधानी के साथ करते आ रहे हैं या करने के प्रयासी हैं। व्रज-भाषा की माधुरी से, उसकी श्रुति-सुखदता से कान हटाना जब जनता के लिए कष्टकारक हो रहा था और खड़ी बोली की कर्णकटुता की सभावना से जब श्रोता कानों पर हाथ धरते थे और कर्ता अपनी जीभ सँभालकर बोलने का अभ्यास कर रहे थे तब से लेकर आज तक, जब व्रजभाषा में काव्य-रचना करनेवालों की संख्या परिमित हो गई है या जिनका क्षेत्र गाँवों की सीमा के बाहर बहुत कम है, गुप्तजी सतत इस भाषा (खड़ी बोली) की सवर्धना में संलग्न रहे हैं।

गुप्तजी की साहित्य-साधना का आरंभ सं० १९६४ के आस-पास से समझना चाहिए। यह वही समय था जब स्वर्गीय पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी 'सरस्वती' का संपादन करने लगे थे और जब पद्य के क्षेत्र में खड़ी बोली के प्रयोग की आवश्यकता का डिंडिम-नाद होने लगा था। खड़ी बोली को जिन जिन शैलियों में ढालने की आवश्यकता थी उनमें से मात्रिक छंदों की हिंदी की अपनी शैली भी थी। इसकी ओर अग्रसर होनेवाले सबसे प्रमुख कर्ता गुप्तजी ही दिखाई पड़े। हरिगीतिका छंद का चुनाव इनकी कुशाग्र मति का द्योतक है। इस छंद का प्रयोग प्रबंध, निबंध और मुक्तक सर्वत्र हो सकता है। इसका संगीत गीतों से कम नहीं होता। पाठशालाओं के छोटे-छोटे बालकों के समवेत स्वर में गुप्तजी की हरिगीतिका का गान जिन्होंने सुना होगा वे इस छंद के संगीत-तत्त्व की सराहना किए बिना नहीं रह सकते। गुप्तजी की इस शैली का अनुकरण किस परिमाण में हुआ इसे उस समय की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कवियों की रचनाओं में देखा जा सकता है। कोई पत्रिका नहीं दिखाई देती जो इस शैली की रचना से युक्त न रहा करती हो और कोई गली या सड़क, पाठशाला या विद्यालय नहीं था जिसमें हरिगीतिका की गूंज न सुनाई पड़ती रही हो। नगर ही नहीं गाँव-गाँव

में गुप्तजी की यह शैली छा गई थी, बहुत दिनों तक छाई रही, वहाँ अब भी छाई है। ब्रज-भाषा के कवित्त-सवैयों की संगीत-लहरी को हरिगीतिका की सर्वसुलभ संगीत-धारा ने आत्मसात् कर लिया। तात्पर्य यह कि गुप्तजी ने आते ही जनता के हृदय पर अधिकार कर लिया अपनी शैली के ही प्रभाव से। इनकी रचना लोकगीत बन गई, ये सच्चे लोक-कवि हो गए।

शैली ही नहीं वर्ण्य के चुनाव में भी इन्होंने दूरदर्शिता से काम लिया। मुक्तकों की प्रभूत रचना से हिंदी की पिछले फेंड़े की कविता रस-धारा प्रवाहित करने में समर्थ नहीं हो रही थी। अतः जनता को रसमग्न करने के लिए निबंध और प्रबंध के ग्रहण की आवश्यकता तो थी ही इस बात की भी आवश्यकता थी कि शृंगार की प्रणाली से हटाकर कविता को चौड़े मार्ग पर लाया जाय। प्रेम का परिष्कृत रूप सामने किया जाय, वीर, करुण आदि की रसधारा बहाई जाय। इसके लिए गुप्तजी ने ऐतिहासिक और पौराणिक इतिवृत्तों का ग्रहण किया। 'रंग में भंग' और 'जयद्रथ-वध' इनकी आरंभिक कृतियाँ हैं। दोनों ही खंडकाव्य हैं। पहले में ऐतिहासिक और दूसरे में पौराणिक कथा है; अथवा महाभारत परंपरा में इतिहास ही माना जाता है। पुराण भी 'पुराना इतिहास' ही है। अतः यह स्पष्ट है कि इन्होंने प्रख्यात वृत्त ही ग्रहण किया है। गुप्तजी की दृष्टि आगे चलकर वर्तमान पर भी हुई, पर अतीत का त्याग इन्होंने कभी नहीं किया। काव्य की भारतीय परंपरा गुप्त जी की कृतियों में पूर्णतया सुरक्षित है। भारत की विभूति के दर्शन करने-कराने में ये अपने आरंभिक काव्य-जीवन से आज तक संलग्न हैं। ये वर्तमान की रंगभूमि पर पहुँचकर भी अतीत का परदा फाड़कर भारत के गौरव, भारतीयों के हृदय, उनके वैभव, उनकी ख्याति अर्थात् उनके ऊर्जस्वित, श्रीमत् और विभूतिमत् रूपों की झाँकियाँ करानेवाले हैं, ये राष्ट्रकवि हैं और सच्चे अर्थ में राष्ट्रकवि हैं।

राष्ट्रकवि के काव्य-जीवन के तीन युग बीत चुके हैं। बारह वर्ष का युग मानने की प्रथा है। अपने काव्य-जीवन के प्रथम युग में गुप्तजी 'साधक' थे। इन्होंने उसी समय से काव्य के विविध रूपों की ओर अपनी प्रतिभा को उन्मुख किया था। इनकी प्रबंध, निबंध और मुक्तक रचनाएँ अनेक प्रकार के वर्ण्य विषयों का ग्रहण करनेवाली रही हैं, नाना प्रकार की शैलियाँ भी उनमें बरती गई हैं। इस प्रकार इनकी कृति विविधता से भी पूर्ण है। इनकी कई रचनाएँ 'सरस्वती' में रवि वर्मा के चित्रों के साथ भी प्रकाशित हुई हैं। इनकी आरंभिक फुटकल रचनाओं का संग्रह 'पद्यप्रबंध' नाम से संवत् १९६९

में प्रकाशित हुआ था। इसमें संस्कृत वर्णवृत्तों में रची हुई बहुत सी रचनाएँ हैं। इसमें एक ओर राघवेंद्र-स्तव, रामनवमी, वनवास, गोवर्धन-धारण आदि की वर्ण्य सामग्री है तो दूसरी ओर ब्राह्मणों से विनय, ब्रह्मचर्य का अभाव, ग्रंथ-गुणगान, हिंदी की वर्तमान दशा, हिंदी-साहित्य-संमेलन, प्रयाग-प्रदर्शनी, हिंदू-विश्वविद्यालय ऐसे विषय भी गृहीत हैं। एक ओर निदाघ, वर्षा और हेमंत के वर्णन हैं तो दूसरी ओर शिक्षा, मक्खीचूस, निन्नानवे का फेर आदि सामाजिक विषयों का भी सोत्साह वर्णन है।

'साधक' गुप्तजी की ही रचना 'भारत-भारती' भी है जो सं० १९६८-६९ में लिखी गई और सं० १९७१ में प्रकाशित हुई। 'विरहिणी-व्रजांगना' का प्रकाशन भी इसी समय हुआ। राष्ट्रकवि राष्ट्र के विविध रूपों का द्रष्टा होता है। भारत ऐसे कृषक-देश का राष्ट्रकवि यदि किसानों के जीवन का मार्मिक द्रष्टा न हुआ तो उसका आधा क्या चौथाई रूप सामने आएगा। इसी युग में गुप्तजी की दृष्टि किसानों पर भी गई, 'किसान' नाम की रचना सं० १९७४ में प्रकाशित हुई। 'साकेत' के आरंभिक सर्ग इसी युग में लिखे गए थे और 'सरस्वती' में प्रकाशित हुए थे। संक्षेप में गुप्तजी ने 'साधक' के रूप में अपनी काव्य-यात्रा के विविध मार्गों का उद्घाटन इसी युग में कर लिया था, उन मार्गों पर चलना, उनकी रमणीयता के प्रदर्शन में सिद्धहस्त होना दूसरे युग की समृद्धि है।

हिंदी का व्रजवाङ्मय अपनी मधुरिमा के लिए सुप्रसिद्ध है। किंतु खड़ी बोली की आरंभिक रचनाएँ उसका त्याग कर आगे बढ़ीं, अतः अनेक कर्ताओं ने उसकी मिठास का ग्रहण नहीं किया, उसकी माधुरी खड़ी बोली में घोली न जा सकी। गद्य में चलनेवाले भाषा के ही रूप का आग्रह होने के कारण उसके खड़ेपन का कट्टरपन बहुत दिनों तक दूर न हुआ। पद्य के 'साँचे में' व्यापक और अर्थगर्भ वाक्यों के विधान के लिए, लंबे-लंबे समासों की योजना करने के लिए कवि विवश थे, यद्यपि लंबे समास हिंदी की प्रकृति के विरुद्ध पड़ते हैं। वर्णनात्मक प्रसंगों तथा वंदनात्मक अवसरों के अतिरिक्त वे श्रुति-मधुरता खोने लगते हैं। भाषा की यह कठोरता भी दूर करने की आवश्यकता थी। यह आवश्यकता अनिवार्यता की सीमा तक पहुँच गई जब वंग-भाषा की मधुर रचनाएँ उनके कानों में पड़ीं और रसना पर चढ़ीं। वंग-भाषा के उपन्यासों के अनुवाद की धूम तो बहुत पहले से थी, पर उससे उस माधुरी का उद्घाटन नहीं हुआ जो व्रजभाषा की भाँति उसमें भी सहज थी। पद्य के अनुवाद की प्रवृत्ति ने कवियों को उधर भी आकृष्ट किया। गुप्तजी ने

'मेघनाद-वध' और 'वीरांगना' का अनुवाद सं० १९७६ के आस-पास किया। इससे स्वभावतः खड़ी बोली का परिमार्जन करने की ओर उनकी प्रवृत्ति हुई। फिर तो उसका ऐसा परिमार्जन हुआ और ब्रज की परंपरा से भी शब्दों के ग्रहण का ऐसा मार्ग खुला कि आज खड़ी बोली अत्यंत परिष्कृत और मधुर हो गई है। उसके खड़ेपन की शिकायत अब किसी को नहीं है। गुप्तजी ने जिस प्रकार पद्य के क्षेत्र में खड़ी बोली को प्रतिष्ठित करने में प्रधान रूप से योग दिया उसी प्रकार उसके परिमार्जन में भी। अपने काव्य-जीवन के द्वितीय युग में गुप्तजी ने जैसी परिमार्जित ललित भाषा का प्रयोग किया है, शैली की जैसी प्रांजलता, कसावट और बारीकी दिखाई है उससे 'साधक' कवि के परिष्कृत, परिपुष्ट और परिपक्व रूप के दर्शन मिलते हैं, 'साधक' अब 'सिद्ध' हो गया। इसी सिद्धावस्था में उन्होंने गीतों में भी अपनी कृतियाँ प्रस्तुत की थीं, जिनका संग्रह 'झंकार' नाम से सं० १९८६ में प्रकाशित हुआ। 'सरस्वती' और 'प्रतिभा' में प्रकाशित इन गीतों में कवि की 'सरस्वती' और 'प्रतिभा' के दर्शन सुलभ हैं।

गुप्तजी की रचना का तीसरा युग 'सुज्ञानावस्था' का है। इस युग में गुप्तजी की रचना लाक्षणिक वक्रता, व्यंजना की गूढ़ता, शील-निदर्शन की उत्कृष्टता से परिपूर्ण है। 'साकेत' का शेषांश इसी युग में निर्मित हुआ। भाषा की दृष्टि से व्यंजना का पूर्ण उत्कर्ष तो इस युग की विशेषता है ही 'साकेत' के निर्माण से गुप्तजी की प्रबंध-पटुता का भी प्रमाण मिला। कवि की प्रतिभा काव्य-क्षेत्र में नए-नए विधानों की ओर इसी युग में अग्रसर होती हुई दिखाई देती है। 'साकेत' के अतिरिक्त 'यशोधरा' और 'द्वापर' भी इसके प्रमाण हैं। 'साकेत' संविधान की दृष्टि से तो विशिष्ट रचना है ही इसमें पात्रों के शील का निदर्शन भी उत्कर्ष को पहुँचा हुआ दिखाई देता है। इसमें उर्मिला की महत्ता के दर्शन तो होते ही हैं कैकेयी के कलंक का मार्जन भी विशेष नैपुण्य के साथ किया गया है। 'मानस' की मौन कैकेयी से 'साकेत' की मुखर कैकेयी पाठक के हृदय में समानुभूति उत्पन्न करनेवाली है। सुना है कि संस्कृत में भवभूति का 'वरदान' नामक एक ऐसा नाटक भी है जिसमें दशरथ का मनोगत जानकर राम और सीता जनकपुर से सीधे वन चले जाते हैं। कैकेयी को जब यह समाचार मिलता है तो वह दशरथ से भरत के वन जाने और राम के राज्याभिषेक के दो वर माँगती है। तात्पर्य यह कि कैकेयी के कालुष्यनिवारण का प्रयास कवियों के द्वारा बहुत पहले से हो

रहा है। जहाँ तक हिंदी-साहित्य-क्षेत्र का संबंध है, गुप्तजी का पूर्वोक्त प्रयास अवश्य श्रेष्ठ माना जायगा।

'यशोधरा' में 'अबला-जीवन की कहानी' गद्य, पद्य, संवाद आदि सब प्रकार के काव्यगत विधानों द्वारा कही गई है जिसका अंतर्भाव यदि हो सकता है तो 'चंपू' या मिश्र काव्य के अंतर्गत ही। 'यशोधरा' के चारित्र्य की तेजस्विता प्रदर्शित करते हुए 'आँचल में है दूध और आँखों में पानी' की सिद्धि विशेष कौशल के साथ की गई है। 'द्वापर' में तो तत्कालीन पात्रों के चारित्र्य का निरूपण बहुत ही मार्मिक पद्धति पर नाटकीय शैली से किया गया है। 'द्वापर' पद्य की किस शाखा में अंतर्भूत होगा, यह विचारणीय प्रश्न है। रूपक की आकाश-भाषण वाली पद्धति पर लिखा गया पात्रों के आत्माभिव्यंजन का यह काव्य-निबंध-संग्रह सचमुच काव्य के क्षेत्र में नवीन और अद्भुत प्रयोग है। 'सिद्धराज' में प्राचीन भारतीय इतिहास की बहुत ही मार्मिक घटना प्रबंधबद्ध की गई है।

वस्तुतः गुप्तजी की सृजनावस्था का यह चरम विकास है। 'काबा और कर्बला' पुस्तक 'ईसा और मरियम' के निर्माण की संभावना लिए हुए हुई है। 'विश्ववेदना' की रचना कहती है कि कवि भारत-वेदना की अभिव्यक्ति से बहुत आगे बढ़ गया है। 'भारत-भारती' का रचयिता विश्व-भारती का उपासक हो रहा है। इस लिए गुप्तजी को केवल 'राष्ट्रकवि' कहने से क्या समीक्षा को संतोष हो सकेगा।

हिंदी की वर्तमान काव्य-धारा के प्रत्येक मोड़ पर यदि कोई कवि दिखाई पड़ा तो गुप्तजी ही। गत महायुद्ध के अनंतर छायावाद या रहस्यवाद के नाम से छाई हुई रचनाओं के आदि-प्रवर्तकों में से गुप्तजी भी हैं। 'मंगल-घट' में संगृहीत कुछ गीतों एवं विदेशी ढंग के प्रगीतों में लाक्षणिक भंगिमा का भारतीय पद्धति पर विकास दिखाने का कवि ने स्तुत्य प्रयास किया है। तात्पर्य यह कि चाहे भाषा की दृष्टि से, चाहे नूतन काव्य-विधान की दृष्टि से गुप्तजी की रचना सर्वत्र विविधता, सरसता, व्यापकता, बहुवस्तुस्पर्शिता, विश्वमुखीनता का ही प्रमाण प्रस्तुत करती हुई सामने आती है। शास्त्रीय शब्दों में ये 'महाकवि' हैं।

१

रहस्य-स्वच्छंदता

वर्तमान काव्यधारा के प्रवाहित होने के पूर्व तीन आकांक्षाओं के वेग फूट पड़ने के लिए उतावले हो रहे थे, एक थी सामाजिक बंधनों को तोड़कर जीवन की स्वच्छंद भूमि में विचरण करने की लालसा, दूसरी थी इस परिमित जीवन से अतृप्त और निर्विण्ण अपरिमित जीवन की तृप्ति की स्पृहा और तीसरी थी अभिव्यक्ति की उस प्रशस्त और दृढ़ भूमि पर आरूढ़ होने की उत्कंठा जो काव्य-विषय को ऊँचे उठाकर दिखा भी सके। पहली आकांक्षा सामाजिक-रूढ़ियों के विद्रोह में थी, दूसरी सांसारिक जीवन के और तीसरी काव्य-शैली के। पहली का वेग स्वच्छंदतावाद (रोमांटिसिज्म) के रूप में प्रकट हुआ, दूसरी का रहस्यवाद (मिस्टीसिज्म) के रूप में और तीसरी का छायावाद (एक्सप्रेशनिज्म) के रूप में। आगे चलकर छायावाद नाम इतना व्यापक हो गया कि नए रंग-रूप की कोई रचना 'छायावाद' में ही अंतर्भुक्त हो गई। उसमें अंतर्भुक्त होने का कारण यही था कि 'रहस्यवाद' और 'स्वच्छंदतावाद' के नाम पर जो रचनाएँ प्रस्तुत होती थीं वे भी अभिव्यंजना की नई शैली का ग्रहण करती थीं, अपने शुद्ध रूप में (इन वादों से अमिश्रित) कदाचित् ही कोई रचना मिले। तात्पर्य यह कि अभिव्यंजना का नूतन विधान छायावाद का मुख्य लक्षण रहा है। शुद्ध प्रतीकवादात्मक और शुद्ध अभिव्यंजनात्मक रचनाएँ 'छायावाद' हो कहला सकती थीं। इस लिए जहाँ तक काव्य-विषय का संबंध है, प्रमुख रूप में दो ही प्रवृत्तियाँ चल रही थीं—रहस्यात्मक और स्वच्छंदतात्मक।

राष्ट्रीय-भावात्मक, प्रकृति-रागात्मक तथा साम्यविचारात्मक रचनाओं का प्रवाह इस वर्तमान काव्यधारा के पहले से ही चला आ रहा था। उनके ग्रहण में भी कहीं कहीं नवीन काव्यधारा अवश्य उन्मुख दिखाई देती है, पर वह लोकभूमि से बचकर अधिकतर व्यक्तिबद्ध भूमि पर ही टिकना चाहती थी। इसी से आगे चलकर इन प्रवृत्तियों का रूप निखर गया। पुरानी धारा में प्रवाहित होनेवाले कवियों के रहस्य-संकेत लोक और प्रकृति को लेकर चलते रहे, उनकी स्वच्छंदता लोकाराधन में ही तत्पर रही, पर आगे के शुद्ध रहस्-

वादी कवि प्रकृति से विरक्त हो गए, लोकभूमि त्याग दी और स्वच्छंदतावादी कर्ताओं ने भी लोक-साधना का पक्ष हटाकर केवल व्यक्तिबद्ध पक्ष में ही अपने को परिमित कर लिया।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि नवीन काव्यधारा की सर्वसामान्य विशेषता व्यक्तिबद्ध काव्यभूमि हो गई, पर शुद्ध रहस्यवादी और शुद्ध स्वच्छंदतावादी में इस दृष्टि से भी भेद बना रहा। पहले ने तो लोकभूमि का एकदम त्याग कर दिया, वह 'सांत' से 'अनंत' की भूमि पर जा टिका, पर दूसरे ने व्यक्तिबद्ध घेरे में पहुँचकर भी 'सांत' का त्याग नहीं किया। वह ससीम को ही असीमता का आवरण पिन्हाने लगा। फल यह हुआ कि रहस्यवादी के लिए जगत् दुःखात्मक ही प्रतीत हुआ पर स्वच्छंदतावादी को वह सुख-दुःखात्मक भासित हुआ। रहस्यवादी शुद्ध दार्शनिक होने लगा और लगा दुःखत्रय के अभिघात का मार्ग खोजने, वह शुद्ध आदर्शवादी हो गया। पर स्वच्छंदतावादी दार्शनिक होकर भी शुद्ध काव्य-भूमि और काव्य की चिरंतन लोकभूमि का त्याग न कर सका, वह संकुचित या संकीर्ण मार्ग का अवलंबी भले ही कहा जाय, पर उसने यथार्थ भूमि का त्याग नहीं किया, वह तथ्यवादी ही रहा।

नवीन काव्यधारा का लक्षण प्रेमप्रवण होना भी रहा है। 'प्रेम' की व्याप्ति दूर तक मानकर ही उसका यह लक्षण स्वीकार करना होगा। पर यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि दांपत्य प्रेम सब प्रकार के प्रेमों से गूढ़ होता है, अतः दोनों (रहस्यवादी और स्वच्छंदतावादी) ने अपने अपने आलंबनों के लिए इस प्रेम का अधिकतर आश्रय लिया। असीम या अलौकिक के प्रति व्यक्त रहस्यवादी का प्रेम लौकिक दांपत्य प्रेम ही था, उसे चाहे जितना उदात्त, अवासनात्मक या परिशुद्ध कह लिया जाय। भक्ति-संप्रदाय तो ऐसे प्रेम को 'माधुर्यभाव' ही कहता है और उसका मधुर रस काव्य का 'शृंगार रस' ही है। सूफी इसे ही 'इश्कमजाजी' में 'इश्कहकीकी' कहते हैं—वे लौकिक प्रेम में अलौकिक प्रेम की झाँकी देखते-दिखलाते हैं। पर स्मरण रहे सूफी 'इश्कमजाजी' का तिरस्कार नहीं करते, उसे साधना के लिए अनिवार्य मानते हैं। किंतु हिंदी के रहस्यवादी ने उसका तिरस्कार किया, अतः वह बाहर न देखकर भीतर देखने लगा, वह बहिर्मुख न रहकर अंतर्मुख हो गया। उसकी वेदना शाश्वत हो गई। पर स्वच्छंदतावादी लौकिक प्रेम इश्कमजाजी की, उसके परिशुद्ध रूप में भी, अवज्ञा न कर सका। उसने इश्कमजाजी में इश्कहकीकी देने के पाखंड का प्रचार भी नहीं किया। कभी कभी वह भी रहस्योन्मुख अवश्य हुआ, पर उसने रहस्योन्मुखता को अपना नित्य लक्षण नहीं बनाया। वह

प्रधानतया बहिर्मुख ही रहा, भले ही उसे प्रिय के सौंदर्य की एक झलक से तृप्ति न मिली हो, वह झलक पर झलक देखने का अभिलाषी रहा हो, उसकी लालसा अतृप्त ही रह गई हो। अतः उसे वेदना का शाश्वत लोक ठीक और उपयुक्त न जँचा। फल यह हुआ कि कुछ ऐसे रहस्यवादी भी दिखाई देने लगे जिनमें किसी प्रकार की अनुभूति नहीं थी, वे शुद्ध अभिव्यंजना में ही अपना काव्यवैभव दिखाने लगे—कुछ बँधे-बँधाए वाक्यखंडों (कैचवर्ड्स) की दैनिक-प्रदर्शनी करते हुए। स्वच्छंदतावादी अभिव्यंजना के वैभव का चाहे त्याग न करे, किंतु उसमें गहरी अनुभूति के बिना उसे काव्य की प्रेरणा नहीं जगती थी। अतएव नैराश्य के बाद आशा के लोक में विचरण कर सकने की संभावना शुद्ध रहस्यवादियों से नहीं स्वच्छंदतावादियों से ही थी। यही हुआ भी। लोकभूमि पर विश्वास के साथ फिर से उतरनेवाले शुद्ध स्वच्छंदतावादी ही दिखाई पड़े, शुद्ध रहस्यवादी नहीं।

'छाया-रहस्य'

हिंदी में छायावाद का आगमन साहित्यिक उत्थान के नाम पर हुआ, पर उसमें विशेष दृष्टि शैलीगत चमत्कार पर थी, पुष्ट पदविन्यास और प्रतीकात्मकता ऐसी राशीभूत हुई कि कुछ नवसिखुए कवि कतिपय बँधे-बँधाए शब्दों का विनियोग मात्र काव्य का परम पुरुषार्थ मान बैठे। निश्चित शब्दों, वाक्यों, बंधविधानों की ऐसी व्यवस्थित उद्धरणी होने लगी जिसकी एकतानता से बहुतों का जी ऊब उठा, पर हिंदी-साहित्य को थी विकसित युग के अनुरूप भावव्यंजक वक्रता की अपेक्षा और कुछ समर्थ कर्ता उसकी विनियोजना विशेष सावधानी और क्षमता से कर रहे थे, अतः लाक्षणिकता, चित्रमयता और वचन-भंगिमा की संवर्धमान अभिरुचि का समर्थन उन्हें भी करना पड़ा जो वस्तुतः काव्य-वस्तु के अत्यधिक तिरस्कार के अनुमोदक नहीं थे। यही क्यों, काव्य-वस्तु के वैशिष्ट्य का ध्यान रखकर कर्तृत्व दिखानेवाले पुराने कृती भी तो इस सामयिक नूतन प्रवृत्ति का अपने ढंग से स्वागत कर रहे थे। इसलिए छायारहस्य-काव्य की प्रवृत्तियों का अनुशीलन इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि काव्यधारा की एक प्रणाली तो वह थी जो स्वभाव से नूतनता का विधान कर रही थी और दूसरी वह जो अँगरेजी के बने-बनाए वाग्योगों को हिंदी में उतार रही थी तथा कुछ उसी ढर्रे पर स्वतः भी गढ़ लेती थी। पहली में स्पष्टतया भारतीय व्यंजना-पद्धति का विकास था और दूसरी में अभारतीय काव्य-शैली का सीधा आरोप। पहली में काव्य-वस्तु तिरस्कृत नहीं थी अथवा यों कहिए कि वस्तु और शैली की तुल्य-प्रधानता थी और दूसरी में शैली ही बहुत कुछ थी वस्तु तो एक प्रकार से अत्यंत तिरस्कृत।

कुछ सज्जन समीक्षा-क्षेत्र में भारतीय-अभारतीय-भेद से चौंकते हैं। अतः लगे हाथ इस पर भी विचार कर लिया जाय। प्रथमतः इतिहास की दृष्टि से यथातथ्य का निरूपण अपेक्षित होता है। इसलिए जो भी और जैसी भी प्रवृत्ति परिलक्षित हो उसका निर्देश अनिवार्य है। दूसरे अभारतीय नाम से जिस प्रवाद का निर्देश होता है उसमें कुछ ऐसे प्रयोगों का आवर्तन रहता है जो वर्ण्य काव्य-वस्तु के अनुरूप नहीं होते। अभारतीय-प्रभावापन्न भी वर्ण्य विषय तो भारतीय ही रखते हैं, अतः यदि अवर्ण्य या अप्रस्तुत का ऐसा

विधान हो जो वर्ण्य या प्रस्तुत के मेल में न हो अथवा प्रस्तुत या वर्ण्य से संबद्ध ऐसा कथन हो जो असत्य हो, तो उसे समीचीन कदापि नहीं कह सकते। चौंकनेवाले प्रायः अभारतीय साहित्य के ही प्रमुख अध्येता-मंता होते हैं। भारतीय साहित्य या शास्त्र के स्थूल द्रष्टा तक नहीं रहते। संस्कृत की कृतियाँ उनको वज्रादपि कठोर होती हैं और हिंदी की कुसुम-कोमल प्राचीन कविता दुरूह। वे विद्यारंभ से ही अँगरेजी की कृतियों और शैलियों से परिचित (सुपरिचित नहीं) होते हैं। उनका उन्हीं से सात्म्य हो जाता है, उन्हीं का रूप और मानदंड अभ्यस्त रहता है। वे समझ ही नहीं पाते कि भारतीय रमणी का केश-कलाप यदि 'स्वर्णिम' कहा जाय तो क्या सदोषता आ जाती है, काव्य और जीवन का साधारण भारतीय सहृदय तक जिसे उपयुक्त नहीं समझता। पश्चिमी भूरे केशों के लिए 'स्वर्णिम' विशेषण तो ठीक है, पर भारतीय के केश तो श्याम, नीले या काले, ही हो सकते हैं। नाग, भ्रमर, काकपक्ष आदि ही उसकी उपमानता कर सकते हैं, अरुणाभ उषा कभी नहीं।

इसी प्रकार भारत की उष्णता का हिमानी में सापत्न्य है। पश्चिम का शैत्या उसे प्रिया बनाए बैठा है। अतः यदि यहाँ कोई हिमानी को पवित्रता की प्रतिमा या गुण की प्रतिमूर्ति कहे तो श्वेतता के नाते आकर्षक होने पर भी भारतीय परंपरा का विपर्यास होगा। हिम को कविकुल-कलस कालिदास भी तो दोष कह चुके हैं—

अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम्।
एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवांकः॥

—कुमारसंभव

घन का घिराव भारत में अप्रिय है। अरबी-फारसी के संसर्ग का मुहावरा भी 'आफत के बादल' पड़ गया है। अब कोई बादलों को सुख का या सुदिन का प्रतीक यहाँ माने तो कहना ही पड़ेगा कि यह भारत की वस्तु-स्थिति और परंपरा के विरुद्ध है, साथ ही काव्य में अशोभन भी। 'मेघाच्छन्ने हि दुर्दिनम्' यहाँ की जीवन-गत प्रवृत्ति का अनुरोध है, उसे पीड़ा के ही प्रसग में ले आना शोभन होगा—

जो घनीभूत, पीड़ा थी, मस्तक में स्मृति सी छाई,
दुर्दिन में आँसू बनकर, वह आज बरसने आई।

माना कि कवि-समय में कुछ स्वीकृतियाँ वास्तविकता से विदूर होती हैं। किंतु परंपरा की अधिकतर प्रवृत्तियाँ देशगत परिस्थिति, जीवनगत विश्वास आदि से ही संभूत होती हैं। वर्षों से चली आती हैं, बहुत दिनों तक बनी रहती

है और जब व्यवहार से विशेष पार्थक्य हो जाता है तब कवि-समाज उनका परित्याग भी कर देता है, यद्यपि स्वच्छ द्रष्टाओं और आत्मानुभवी स्रष्टाओं ने परंपरा को भी नहीं माना, पर उन्होंने आँख मूँदकर किसी विदेशी अर्थात् भारतीय जीवन के प्रतिकूल पड़नेवाली प्रवृत्ति का ग्रहण भी तो नहीं किया है, कवि-समय-सिद्ध तो यही है कि कोकिल की काकली वसंत में ही सुनाई पड़े और मयूर की केका वर्षा में, पर वसंत में न मयूर मौन-व्रत साध लेते हैं और न वर्षा में कोकिल का कंठ ही सूख जाता है। इससे जिन्होंने स्वानुभवसाक्ष्य से कविसमय के विपरीत वसंत में मयूर का कंठ खोला और वर्षा में कोकिल को मुखर किया उन पर परंपरा के अपालन का दोष भले ही मढ़ लें, पर यह कैसे कह सकते हैं कि यह असत्य है। महात्मा तुलसीदास ने (जो परंपरा, मर्यादा और शास्त्र के बहुत बड़े हिमायती होने से कोसे जाते हैं) भी ऐसा किया है। तात्पर्य यह कि परंपरा का त्याग सत्य की रक्षा का आग्रह था। अभारतीयता सत्य-संरक्षा की संगिनी बनकर ही शोभन होगी। अतः सत्यापलापकारिणी विदेशीयता को अभारतीय कहना तो सत्य है ही, अशोभन कहना तो परम सत्य है। अस्तु।

रहस्यात्मक छाया-युग की दूसरी प्रवृत्ति पर आइए। नैराश्य की जो लहर उस समय उठी, जीवन से जोड़ने के फेर में उसे कुछ विचारशील समीक्षकों ने राजनीतिक प्रवाह की असफलताओं से जोड़ दिया। कवि पलायनवादी घोषित किए गए। पर यह किसी ने न देखा कि नैराश्य की तरंग-माला सात समुद्र पार की विदेशी काव्य-धारा का भारतीयों में उफान था। इसका लोक-जीवन से उतना संबंध नहीं था जितना व्यक्ति-जीवन के उद्‌गार से। वह लौकिक जीवन के नैराश्य का उत्स ही नहीं था, कहाँ है चलित लोकजीवन के स्रोत में स्नात मानसों में नैराश्य की धारा। भारत में जीवन-दर्शन के क्षेत्र में कहीं कहीं अश्रु-वाद भले ही स्वीकृत हो, सांख्यों की दुःखत्रयता और बौद्धों की वेदना में जैसा भासित हुआ, पर दुःख की आत्यंतिक निवृत्ति का मार्ग उद्‌घाटित करने में न सांख्यों ने गिनना-गूँथना त्यागा और न बौद्धों का समुदय ही अस्त रहा। यहाँ तो आशावाद जीवन का लक्ष्य सदा रहा। भारतीय काव्य को निवृत्ति-मार्गी और कर्मफलासक्ति-त्याग की उपदेशिका गीता को विरक्तिमुखी समझने और कहनेवाले भ्रम की माया में पड़े हैं। उन्हें 'प्रवृत्तिलक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मकः' का भी विचार करना चाहिए। विदेशी विरहवाद से प्रभावित कबीर आदि संतों ने जगत् को दुःखमय कह उसे त्यागने का निवृत्ति-परक पंथ दिखाया तो प्रवृत्तिमार्गी सगुण-भक्ति-काव्य का ऐसा वेग फूटा कि जनता

न जमता नैराश्य आपसे आप बह गया। छायावादी युग में भारतीय परंपरा के काव्यों ने नैराश्यवाद का ग्रहण नहीं किया। उनकी उक्तियाँ शौर्य से संवलित, क्रोध से संक्षुब्ध और स्नेह से संपृक्त सामने आई, उनका काव्य देश का उद्धार न कर सकने का खेद अवश्य प्रकट करता है, पर भारतमाता को आश्वासन भी देता चलता है कि तेरी बेड़ियाँ काटकर ही दम लेंगे। इन भारतीय-भावापन्न कवियों की व्यक्तिवादिनी मनोवृत्ति भी लोक-समन्वित रही है। अंत में उसका पर्यवसान लौकिक भावधारा में अवश्य हो गया। इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय परंपरा के कवि आशावादी तो थे ही, यदि कभी व्यक्तिवादी भी होते थे तो लोकबद्ध भावभूमि पर ही। पर विदेशी प्रेरणा से भावित कविता नैराश्यवादिनी थी, उसमें शुद्ध व्यक्तिवाद था, जिसका लोक से तो नहीं, हाँ कभी कभी परलोक से गँठबंधन अवश्य हो जाता था।

यहाँ यह अर्थ न लगाया जाय कि प्रत्येक प्रवृत्ति के कवि छँटे-छँटाए ही रहे हैं। पारंपरिक वृत्तिवाले कवियों में अभारतीय प्रेरणा यदि आई भी है तो साहित्य के स्वाभाविक नियम के अनुसार छनकर, यहाँ के देशी रूप में लीन होकर। इसलिए कहना यह उचित होगा कि वे उससे एक प्रकार से निर्लिप्त ही रहे, पर अभारतीय-प्रभावापन्नों में भारतीयता तक का ग्रहण सहज न होकर आरोपित था। अधिक स्पष्ट कहना चाहें तो कहेंगे कि वे हृदय के वेग से नहीं बुद्धि के बोध से इसे सकारते थे। उसकी लौकिकता मनोभिनिवेश की गंभीरता नहीं, तर्क-प्रणाली का संकोच था। उनकी ऐसी वृत्ति अर्थ, राजनीति, समाज, धर्म सभी के संबंध में थी, यहाँ तक कि प्रकृति के संबंध में भी। हिंदी के मध्ययुगीन कवि प्रकृति का उद्दीपक रूप ही लेने से कोसे गए हैं पर ये कवि तो ऐसे व्यक्तिवादी हो गए कि विदेशी कवियों के प्रकृति-राग से भी अनुरंजित न हो सके। यह व्यक्तिगत प्रेम और रहस्य-दर्शन की प्रमुखता का ही परिणाम था। आश्चर्य कि परंपरा-पालकों ने तो किंचित् स्वच्छंदता से प्रकृति का आलंबनत्व स्वीकार किया, पर इन व्यक्तिवादियों ने नहीं, यद्यपि होना चाहिए था इसका विपर्यास। कारण भी स्पष्ट है। इनमें अकाल वैराग्य जागा, ये छद्म रहस्यदर्शी हो गए, काव्य के कर्ता न रहकर मंत्र के द्रष्टा हो गए और 'सर्वं खल्विदं' के बदले लगे केवल 'जगन्मिथ्या' का जप करने।

जैसा ऊपर कह आए हैं काव्यवस्तु इनके पास कुछ न थी या नाममात्र की थी। उक्ति का चमत्कार शून्य में कहाँ तक टिकता। इससे अनेक प्रकार के बहिरंग प्रदर्शनों की सूझी। कुछ समर्थ कवियों ने भावुकता की प्रकृत और गूढ़ अभिव्यंजना के लिए नूतनता की केवल प्रेरणा से छंदों का बंधन ढीला

किया, अनेक प्रकार के मेल से अच्छे अच्छे छंदों के विधान का मार्ग खोला, छंदों की मुक्ति तक पहुँच गए। फिर क्या था यही फैशन हो गया। छंदोबद्ध रचना न जाने किस प्राक्तन युग से होती चली आ रही है, फिर भी उसमें सर्वत्र वैसी शिथिलता नहीं जैसी की आशंका से छंदों का बंधन तोड़ डालने की महामहिम सलाह दिया करते हैं। मुक्त छंदों में भी विविधता के हेतु रचना हो, कोई हानि नहीं, पर उसके समर्थन में यह कहना कि पद्य में भावों के बैठने में कठिनाई होती है, कविकर्मपराङ्मुखता के अतिरिक्त और क्या है। यदि छंदों का बंधन वे सर्वत्र नहीं भी तोड़ते तो प्रायः मुक्तक लिखकर सरल छंदोविधान से आत्माभिव्यक्ति करते हैं। ये वस्तुतः प्रकीर्ण रचनाकार हैं और स्वेच्छा से कामना-भर उसी का अभिधान करते हैं। प्रबंध की प्रवृत्ति इनमें जगती ही नहीं। पर भारतीयता से संबद्ध प्रातिभों में प्रबंध की प्रवृत्ति भी जगी है, जगता है और जगेगी। राजशेखर के शब्दों में पहले 'घटमान' मात्र हैं और दूसरे 'कवि-राज' भी। इसीसे दूसरों की श्रेष्ठता प्रमाणित है। भारतीय काव्यधारा प्रबंधमय रही है, भले ही हिंदी के शृंगारकाल में उसकी कमी हो गई हो। इस प्रकार वे जीवन-मुक्त हैं तो ये लोकबद्ध, वे मुक्तक के रसिक हैं, ये प्रबंध के विदग्ध, वे कोमल वृत्तिवाले हैं—शिरीष सुकुमार, ये 'वज्रादपि कठोराणि' और 'मृदूनि कुसुमादपि' दोनों। किसी दृष्टि से, किसी ओर से, किसी सच्चे मानदंड से देखने पर भारतीय परंपरा के छाया-विधायकों और अभारतीय-प्रभावापन्न छाया-दर्शियों में स्पष्ट अंतर है। समर्थता की दृष्टि से उत्तरवर्ती प्राथमिकों से उत्तर क्या, उत्तम हैं। कदाचित् अब स्पष्ट हो गया हो कि क्यों कुछ लोग एक ही काव्यधारा के स्वदेशी विकास और दूसरी को विदेशी आरोपण कहते हैं, यद्यपि दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों का कहीं कहीं मिश्रण भी हो गया है, पर किसी प्रधान प्रवाह का पृथक् कर लेना, थोड़ा ध्यान देने पर, कठिन नहीं है। औरों की क्या कथा, जब हिंदी के प्रमुख छायावादियों में भी इन प्रवृत्तियों के स्पष्ट और पृथक् पृथक् दर्शन होते हैं।

महादेवीजी का रहस्य-काव्य

महादेवी वर्मा हिंदी में पर्याप्त ख्यातनामा हो चुकी हैं। छायावादी युग में, सच पूछा जाय तो, रहस्यवादी कवयित्री के रूप में ये ही दिखाई पड़ीं। 'रहस्यवाद' का एकांत लोक इन्होंने अपने लिए चुना और उसमें एकतान, एकरस, एकरूप निवास कर रही हैं। केवल गीत ही लिखती हैं और उन्हें मूर्त करने के लिए स्वनिर्मित चित्रों की पीठिका में सज्जित करके सामने रखती हैं। काव्य का केवल गीत या संगीतकला से ही संबंध नहीं है, चित्रकला से भी है। संगीत तो काव्य के पद्य-क्षेत्र का एक ऐसा सहायक है जो अनन्य है, गद्य से उसका कोई प्रयोजन नहीं। पर चित्र का क्षेत्र विस्तृत है। पद्य और गद्य दोनों में वह अपना विचित्र प्रभाव रखता है। कहना पड़ता है कि पद्य के क्षेत्र में उसका गद्य-क्षेत्र की अपेक्षा विशेष स्थान है। कविता जो पद्य में लिखी जाती है, सांकेतिक पदावली का अत्यधिक प्रयोग करती है, वह अर्थ की इतनी अधिक कसावट लेकर चलती है कि बिना सांकेतिकता के उसका काम भी तो नहीं सरता। इसलिए चित्र उसके लिए विशेष सहायक होते हैं। चित्रकला का आभ्यंतर प्रयोग ही नहीं उसका बाह्य योग भी उसके लिए विशेष महत्त्वपूर्ण है, इसमें संदेह नहीं। इसे व्यक्तिगत रुचि का उलाहना देकर टाला नहीं जा सकता। भारत का प्राचीन वाङ्मय अनेक प्रमाण प्रस्तुत कर देगा।

महादेवीजी की रचना की एकतानता बहुतों के लिए उपेक्षा का विषय रही है। पर उनकी एकतानता में भी विकास के सोपान हैं, इसका संकेत बहुत ही स्पष्ट रूप से उनकी क्रमशः प्रकाशित होनेवाली कृतियों के नाम से ही मिल जाता है—'नीहार'-कुहरा, 'रश्मि'-किरण, 'नीरजा' (किरण से प्रफुल्ल कमलिनी), 'सांध्यगीत' (संध्या के गीत, दिन के अनंतर, संध्या का आगमन), फिर 'यामा' (रात)। कवयित्री यामा के चार यामों के संबंध में स्वयं यह निश्चय नहीं कर सकीं कि ये याम दिन के हैं या रात्रि के। मेरा कहना है कि यामा के अनंतर आनेवाली 'दीपशिखा' के प्रकाश से पता चल गया। 'यामा' कोई स्वतंत्र रचना नहीं है, वह नीहार, रश्मि, नीरजा और सांध्यगीत का संग्रहमात्र है। इसीसे कवयित्री ने 'रहस्यमयी' उक्ति कही है। जिज्ञासा होती है कि महादेवी जी की अगली रचना क्या होगी। 'महादेवी की रहस्य-साधना' लिखने वाले 'मानव' जी उसे 'विहान' समझते हैं, पहुँच तो ठीक है, पर नामकरण

ठीक नहीं। कवयित्री की पुस्तकों के रमणीय नाम पर भी ध्यान नहीं गया। मैं समझता हूँ कि हिंदी संसार अब 'प्रभाती' देखने सुनने के लिए उत्सुक रहे। स्वतः इसका संकेत भी 'दीपशिखा' में ही है—

यह मंदिर का दीप इसे नीरव जलने दो।
जब तक लौटे दिन की हलचल,
तब तक यह जागेगा प्रतिपल,
दूत साँझ का इसे प्रभाती तक चलने दो।

'यामा' नाम के रहस्य का पता पा लेने पर 'दीप' को 'साँझ' (सांध्यगीत) का दूत कहने और 'प्रभाती' तक चलने के रहस्य पर विचार कर लीजिए।

महादेवीजी की साधना-भूमि प्रकृति है। प्रकृति को उन्होंने अंत में सूफियों की भाँति परमतत्त्व की ही साधना में निरत देखा है। काव्य की दृष्टि से प्रकृति उनकी सखी है, वह उद्दीपन है, आलंबन नहीं। उनकी कविता का साध्य या लक्ष्य ब्रह्म ही है। वेदना की इतनी अधिक विवृति है कि 'तुमको पीड़ा में ढूढ़ा, तुममें ढूढ़ूँगी पीड़ा'। वेदना से वे आवृत हैं। हिंदी की आधुनिक रहस्यवादी कविता पर सूफियों का बहुत प्रभाव पड़ा है। इसमें संदेह नहीं कि महादेवीजी ने उसे शुद्ध भारतीय अद्वैतवाद के साथ मिलाने का प्रयत्न किया है। सूफियों का मेल विशिष्टाद्वैत से कहीं अधिक मिलता है, पर महादेवीजी ने शांकर अद्वैत के मेल में अपनी रचना को रखकर बहुत कुछ कबीर से संतों का ढंग ग्रहण किया है। हठयोग आदि की फालतू साधना का योगमार्ग ठीक न समझकर उसके साथ प्रकृति की बहिःसाधना का पथ भी लेकर चली हैं, पर साधना के इस पथ को उन्होंने निष्काम कर्म की साधना का पथ नहीं बनाया, इसी से पथ की रमणीयता उन्हें स्वच्छंद रूप में आकृष्ट नहीं कर सकी, वे पथ के कण कण को साध्य फल की सफलता से युक्त न देख सकीं, प्रिय की प्राप्ति का साधना-पथ उनमें राग का आकर्षण न ला सका। वह विराग ही जगाता रहा। जो भी हो, महादेवीजी की रचना में भाव-गांभीर्य, भाषा की प्रांजलता और गीत का मधुर नाद है।

१

'अज़ातशत्रु' में अजातशत्रु की समस्या

स्वर्गीय बाबू जयशंकर 'प्रसाद' के सुप्रसिद्ध और सुप्रचलित नाटक 'अजातशत्रु' में अजातशत्रु या कुणीक के चारित्र्य की समस्या आलोचकों और पाठकों की दृष्टि में विकट हो गई है। लोग सवितर्क पूछते हैं कि इस नाटक का नायक कौन। साश्चर्य कहते हैं कि इस नाटक का नायक होने योग्य अजातशत्रु नहीं, लेखक का लक्ष्य बिंबसार पर अधिक है, अतः नायकत्व उसी को मिलना चाहिए। करुणा के प्रेमी कुछ समीक्षकों ने नेता महात्मा बुद्ध को स्वीकार किया; और नायिका? नाटक की घटनावली को अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से मनोनुकूल बना लेनेवाली करुणामूर्ति आदर्श गृहिणी मल्लिका को नायिका कहनेवाले भी उनके बीच से उछल-कूद मचाते हुए निकल पड़े। ऐसे मीमांसक भी सामने आए जिन्होंने सारा बखेड़ा ही यह कहकर साफ कर दिया कि इस नाटक में नायक या नायिका कोई व्यक्ति नहीं, 'करुणा की भावना' है। ऐसी स्थिति में पाठकों का संशयात्मा होना स्वाभाविक ही है। किसी ने यह विचार न किया कि 'प्रसाद' के नाटकों में नामकरण भी नायकत्व की सूचना देता है या नहीं। 'विशाख' का नायक कौन? 'विशाख' ही न। 'राज्यश्री' की नायिका कौन? 'राज्यश्री' ही न। 'स्कंदगुप्त' का नेता किसे मानें? स्कंद ही को न। 'जनमेजय' या 'नागयज्ञ' का नायकत्व करने वाला यज्ञकर्ता जनमेजय ही है न? 'ध्रुवस्वामिनी' की नायिका रामगुप्त की धर्मपत्नी और चंद्रगुप्त की प्रेयसी ध्रुवदेवी ही न है। जाने दीजिए इन नाटकों को, बताइए 'चंद्रगुप्त' का नायक किसे कहें। चंद्रगुप्त को या सारी घटनामाला को अपनी उँगलियों के संचालन मात्र से फेर डालनेवाले चाणक्य को। फिर लेखक की शैली से 'अजातशत्रु' का नेता अजातशत्रु ही तो ठहरता है। नाटककार ने तो उसी को नेता बताया है क्या, बनाया है। उस रूपक का नाम तो यही कह रहा है कि स्थूल बुद्धि से भी उसके कर्तास्वीकृत नायक होने में कोई बाधा नहीं है, फिर 'प्रसाद' जी द्वारा दूसरे किसी को नायक रखने की जो बात कही जाती है वह केवल अपने मस्तिष्क की सूझ की पूर्ति के ही लिए न।

बात यह है कि पश्चिमी दृष्टि से लोगों ने यह समझ लिया है कि किसी

नाटक में अपनी सर्वाधिक प्रभावुकता निष्पन्न करनेवाला, घटनाचक्र के प्रवर्तन में प्रधान रूप से योग देनेवाला, अपने चारित्र्य की दृढ़ता के समक्ष सबकी स्वगत विशेषताओं को प्रभाहीन कर देनेवाला तेजस्वी पात्र ही नायक होता है। यह सिद्धांत ठीक है या नहीं इसकी विवेचना पृथक् निबंध का स्वच्छंद क्षेत्र चाहती है, अतः उसे छोड़कर यहाँ पर यही विचार कर लेना काम भर के लिए पर्याप्त होगा कि 'प्रसाद' जी की दृष्टि इस पर थी या नहीं। और यदि, उनकी दृष्टि नायकत्व के विचार से किसी सिद्धांत पर ही थी तो वह कौन सा सिद्धांत है।

सबसे पहले इसपर विचार करना चाहिए कि उक्त सिद्धांत पर उनकी दृष्टि थी या नहीं। इसे भली भाँति जानने के लिए उन परिस्थितियों का दिग्दर्शन कर लेना भी आवश्यक है जिनमें 'प्रसाद' जी ने इस नाटक का निर्माण किया। जिन दिनों प्रसादजी इस नाटक की सर्जना कर रहे थे उन दिनों बँगला के प्रसिद्ध नाटककार श्रीद्विजेंद्रलाल राय के रूपकों की बहुत धूम थी। उस धूम का विशेष हेतु यह था कि राय महोदय ने पश्चिमी अनुकृति पर अच्छे और प्रभावुक त्रासद नाटक (ट्रेजिडी) लिखे थे। अँगरेजी में शेक्सपियर की प्रसिद्धि रूपककार के रूप में जो है उसमें प्रधान निमित्त उनके त्रासद नाटक हैं। बंगाल ने जैसे पश्चिमी साहित्य का अन्य क्षेत्रों में अनुकरण किया वैसे ही नाटक के क्षेत्र में भी। राय महोदय बड़े अच्छे और स्वच्छंद अनुकर्ता थे, इसमें संदेह नहीं। उनकी नाट्यकृतियों में विदेशी तत्त्वों का न्यास बहुत ही विदग्धता के साथ हुआ है। त्रासद नाटकों की कारुणिकता में बंगाल की भावुकता सोने में सोहागे का नहीं, सुगंध का काम कर गई। भावात्मकता की दृष्टि से पश्चिमी नाट्य-विधान और पूर्वी या भारतीय नाट्य-शास्त्र में स्पष्ट और तात्त्विक अंतर है। पश्चिमी नाट्यकला 'जीवनद्वंद्व' (कान्फ्लिक्ट आव् लाइफ) को नाट्य-तत्त्व के रूप में स्वीकार करती है और नाटकों में आंतर द्वंद्व (इनर कान्फ्लिक्ट) के प्रदर्शन को प्रमुख मानती है। पर भारती दृष्टि 'महत्कार्य' को प्रधान लक्ष्य समझती है। भारत न जीवन को संघर्ष मानकर चलता है, और न सर्वत्र वह 'द्वंद्व' (युद्ध) में प्रवृत्त ही होता है। जगत् द्वंद्व है यह इसे भी मान्य है पर सर्वत्र उससे युद्ध ही करना पड़ेगा ऐसी इसकी धारणा नहीं। 'कर्म' को ही प्रधान मानकर यह चलता है और 'कर्मफलत्याग' का उपदेश देकर और पाकर अपने को इस द्वंद्व से जीवन्मुक्त कर लेता है।

दूसरा अंतर यह है कि भारतीय साहित्य रसानुभूति को प्रधान मानता है और पश्चिमी शीलनिदर्शन को। भारत ऐसे व्यक्तियों को सामने लाता है जिनका स्वरूप लोकस्वीकृत होता है अर्थात् जगत् के अधिक से अधिक लोग

जिस प्रकार के व्यक्ति के संबंध में जैसी धारणा रखते हैं या जैसी कल्पना करते हैं भारतीय साहित्यकार उसी के अनुरूप कम से कम नायक की योजना तो अवश्य करता है। इसलिए भारतीय दृष्टि से नायक का चारित्र्य एक ढंग के सभी नाटकों में एक ही प्रकार का होना चाहिए। विभिन्न रसों की दृष्टि से यहाँ चार प्रकार के नायक मान लिए गए—उदात्त, उद्धत, ललित और प्रशांत। बस घटनावली में, कार्य-कलाप में चाहे जो भेद हो, पर रूपक के प्रमुख भेद 'नाटक' का नायक 'उदात्त' ही रहेगा। ऐसा न करने से रसानुभूति में बाधा होगी। पर पश्चिम में चारित्र्य का प्राधान्य होने से एक प्रकार के नायकों का मिलना दुरूह है। संक्षेप में भारत नायक को लोक-भूमि पर प्रतिष्ठित करके दिखाता है और पश्चिम व्यक्ति-भूमि पर।

ऐसी स्थिति में आधुनिक भारतीय साहित्यकार यदि बहुत करेगा तो दोनों प्रणालियों को मिला देगा, वह यह भी चाहता होगा कि अपने स्वरूप की रक्षा हो। यही 'प्रसाद' ने किया है। द्विजेंद्रलाल राय ऐसा नहीं कर सके। उन्होंने शुद्ध पश्चिमी दृष्टि से नाटकों की सृष्टि आरब्ध की। फल यह हुआ कि उनके नाटक पश्चिमी नाटकों से मिल तो बहुत कुछ गए, पर भारतीय मनोवृत्ति तो राक्षसों का भी घोर राक्षस रूप प्रदर्शित करने से विरत रही है, इसलिए द्विजेंद्रलाल भी राक्षस-रूप का प्रचंड प्रदर्शन न कर सके, फल यह हुआ कि उनके रूपक शेक्सपियर के आसद नाटकों की समकक्षता न कर सके। अपने 'शाहजहाँ' नाटक में जो शेक्सपियर के 'किंग लियर' के अनुगमन पर प्रस्तुत हुआ है, राय महोदय औरंगजेब को वैसा क्रूर न दिखा सके, जैसा 'लियर' में शेक्सपियर ने उसकी चाटुकारिता करनेवाली पुत्रियों को दिखाया है।

'प्रसाद' जी का 'अजातशत्रु' 'शाहजहाँ' की देखादेखी लिखा गया है। यदि लेखक इस नाटक को शुद्ध विदेशी पद्धति पर ले जाना चाहता तो इसमें 'बिंबसार' पर उसकी वैसी ही दृष्टि रहती जैसी शेक्सपियर की 'लियर' पर थी और द्विजेंद्रलाल की 'शाहजहाँ' पर। पर 'प्रसाद' जी ने अपने नाटकों में भारत का आभ्यंतर रूप सुरक्षित रखा है, बाह्य रूप कहीं कहीं और वह भी आवश्यकता के अनुरूप पश्चिमी अवश्य ग्रहण कर लिया है। परिणाम यह हुआ कि बिंबसार के प्रति 'अजातशत्रु' नाटक के पाठक या दर्शक की वही मनःस्थिति नहीं रह जाती जो 'लियर' या 'शाहजहाँ' के पाठक, श्रोता या दर्शक की होती है। पिता के समक्ष नतमस्तक अजातशत्रु सामाजिक की बहुत कुछ समानुभूति अपनी ओर खींच लेता है और विद्रोहियों को क्षमादान करता हुआ बिंबसार मरकर भी वह क्षोभ सहृदय के मानस में नहीं उत्पन्न कर सकता जो

'लियर' या 'शाहजहाँ' के सहृदय के मानस में उत्पन्न होता है। जो किसी प्रधान पात्र या नायक-नायिका के अंत में मरने मात्र को सामने रखकर किसी नाटक को मरणांत, वियोगांत, विषादांत आदि कहा करते हैं वे पश्चिम के त्रासद-नाटक (ट्रेजिडी) का सिद्धांत ठीक ठीक समझते हैं, इसी में संदेह है। 'प्रसाद' जी ने 'अजातशत्रु' नाटक को 'बिंबसार' नाटक के बदले लिखा है, उसमें उन्होंने पश्चिमी पद्धति को भारत के अनुकूल न पड़ने की सार्थकता सिद्ध की है।

वस्तुतः जहाँ तक 'अजातशत्रु' के चारित्र्य का संबंध है वह दुर्वृत्त नहीं है। पात्रों में कुछ तो ऐसे होते हैं जिनमें दुर्वृत्ति प्रकृतिस्थ होती है और कुछ ऐसे होते हैं जिनमें वह प्रकृतिस्थ तो नहीं होती पर परिस्थितियों के दबाव से उन्हें कुछ ऐसे कार्य अवश्य करने पड़ते हैं जिनको देखने से वे दुर्वृत्त से जान पड़ते हैं। कुछ लोग इसे उनके चरित्र की दुर्बलता कह दिया करते हैं उसी पश्चिमी चश्मे से देखकर। पर यह उनकी दुर्बलता नहीं होती, वस्तुतः उनकी सद्वृत्ति की अंतस्संज्ञा में छिपी मृदुलता होती है। 'अजातशत्रु' नाटक में बहुतों को 'अजातशत्रु' दुर्बल या शिथिल पात्र दिखाई देता है और विरुद्धक सबल और दृढ़। वास्तविकता यह है कि पहले की दुर्वृत्ति प्रकृतिस्थ नहीं है पर दूसरे की प्रकृतिस्थ है। पहले की आभासित शिथिलता या दुर्बलता सद्वृत्ति की अंतस्संज्ञागत मृदुलता का परिणाम है और दूसरे की सबलता और दृढ़ता का हेतु है प्रकृतिस्थ दुर्वृत्ति। कभी कभी सद्वृत्त नायकों में आरोपित दुर्वृत्ति का आरंभ में इसीलिए संनिवेश करना पड़ता है जिससे उनकी सद्वृत्ति के प्रकट होने पर उनका निर्मल और विकसित रूप सामने आए। 'शकुंतला' नाटक के दुष्यंत में कालिदास ने यही किया है। उसमें दुर्गुण आरोपित है इसे दुर्वासा के शाप द्वारा उन्होंने स्पष्ट कर दिया है। आधुनिक दृष्टि यह भले ही कह ले कि दुष्यंत के वास्तविक स्वरूप का कलंक-मार्जन करने के लिए दुर्वासा की योजना की गई है, पर भारतीय दृष्टि उसे प्रकृत रूप में उदात्त ही मानती है, फिर उसका अनुदात्त रूप आरोपित ही है। ठीक यही बात अजातशत्रु के संबंध में भी समझनी चाहिए। छलना और विशेष रूप से बुद्ध के प्रतिद्वंद्वी देवदत्त के कुचक्रों के अभिशाप ने उसकी सद्वृत्ति को भी ढक दिया है, वह उनकी छाया या हाथ के खिलौने के रूप में दिखाई देने लगता है। ज्यों ही यह छाया छँट या हट जाती है उसका प्रकृत रूप सामने आ जाता है। आरोपित रूप के कारण उसके चारित्र्य में संकुलता या गूढ़ता (कंप्लेक्सिटी) आ गई है, जिसे पश्चिमी दृष्टि कवि-कर्म के लिए कठिन स्वीकार करती है।

नायकत्व के लिए जैसी उदात्त वृत्ति होनी चाहिए वह उसमें सोलह आने

है। विरुद्धक की भाँति उसने अपने पिता का सामना कब किया। यही क्यों, नायकत्व के संबंध में तो भारतीय दृष्टि अत्यंत स्पष्ट है। नाटक के महत्कार्य को फल-रूप में प्राप्ति करनेवाला ही अर्थात् उसका भोक्ता ही नायक कहा जाता है। 'मुद्राराक्षस' की घटनावली को विश्वस्त रूप में अपने पक्ष में घटा लेने की क्षमता रखनेवाला चाणक्य उसका नायक नहीं है। अमात्य राक्षस का मंत्रित्व प्राप्त करनेवाला चंद्रगुप्त ही नायक है, और चाणक्य के हाथ की कठपुतली है वह। निस्पृह ब्राह्मण चाणक्य उसका संचालक भले ही हो, नायक नहीं। प्रसाद का 'अजातशत्रु' 'मुद्राराक्षस' के चंद्रगुप्त की भाँति न तो मिट्टी का लोंदा है और न छलना, देवदत्त आदि के सूत्र के आधार पर ही सदा हिलनेवाला काष्ठ-कौशिक।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया होगा कि 'प्रसाद' के 'अजातशत्रु' का निर्माण शेक्सपियर के 'किंग लियर' के आदर्श पर बने द्विजेंद्रलाल राय के 'शाहजहाँ' की देखादेखी हुआ है। पर लेखक विदेशी रीति-नीति का त्याग करके भारतीय पद्धति पर अपने नाटक को ले चलना चाहता था इसलिए उसने उसमें कई फेर-फार कर डाले हैं। इतिहास साक्षी है कि 'अजातशत्रु' ने किस प्रकार बिंबसार को दानों-दानों के लिए तरसाकर मार डाला था। उस कथा को यथार्थ रूप में ग्रहण करके 'बिंबसार' नामक त्रासद नाटक की रचना बड़े मजे में हो सकती थी। लेखक ने भारतीय परंपरा की रक्षा करते हुए उसका रूप बदल दिया। पर बिंब-सार के चारित्र्य को वह कैसे बदल सकता था। फल यह हुआ कि आरंभ में बिंबसार हमारी समानुभूति का आलंबन हो जाता है और बहुत दूर तक ऐसा ही बना रहता है। धीरे धीरे अजातशत्रु अपने कार्यकलापों से हमारी सहानुभूति बटोरने लगता है और अंत में वह एकमात्र समानुभूति का पात्र रह जाता है। उसे क्षमा करता हुआ बिंबसार उसे क्षमा-दान ही नहीं देता, अपने प्रति सामा-जिकों की श्रद्धा का भी दान कर देता है। हमें बिंबसार की मृत्यु का कोई क्लेश नहीं होता, अजातशत्रु भी पूर्णकाम हो गया, बिंबसार भी पूर्णकाम होकर दिवंगत हुआ और सामाजिक भी आत्मतुष्टि से पूर्णकाम हो जाता है। नायक वही है। उसी की फलप्राप्ति से सबको इच्छित फल का लाभ होता है। इस प्रकार 'अजा-तशत्रु' में अजातशत्रु की समस्या का समाधान हो जाता है।

'लियर' या 'शाहजहाँ' के सहृदय के मानस में उत्पन्न होता है। जो किसी प्रधान पात्र या नायक-नायिका के अंत में मरने मात्र को सामने रखकर किसी नाटक को मरणांत, वियोगांत, विषादांत आदि कहा करते हैं वे पश्चिम के त्रासद-नाटक (ट्रेजिडी) का सिद्धांत ठीक ठीक समझते हैं, इसी में संदेह है। 'प्रसाद' जी ने 'अजातशत्रु' नाटक को 'बिंबसार' नाटक के बदले लिखा है, उसमें उन्होंने पश्चिमी पद्धति को भारत के अनुकूल न पड़ने की सार्थकता सिद्ध की है।

वस्तुतः जहाँ तक 'अजातशत्रु' के चारित्र्य का संबंध है वह दुर्वृत्त नहीं है। पात्रों में कुछ तो ऐसे होते हैं जिनमें दुर्वृत्ति प्रकृतिस्थ होती है और कुछ ऐसे होते हैं जिनमें वह प्रकृतिस्थ तो नहीं होती पर परिस्थितियों के दबाव से उन्हें कुछ ऐसे कार्य अवश्य करने पड़ते हैं जिनको देखने से वे दुर्वृत्त से जान पड़ते हैं। कुछ लोग इसे उनके चरित्र की दुर्बलता कह दिया करते हैं उसी पश्चिमी चश्मे से देखकर। पर यह उनकी दुर्बलता नहीं होती, वस्तुतः उनकी सद्वृत्ति की अंतस्संज्ञा में छिपी मृदुलता होती है। 'अजातशत्रु' नाटक में बहुतों को 'अजातशत्रु' दुर्बल या शिथिल पात्र दिखाई देता है और विरुद्धक सबल और दृढ़। वास्तविकता यह है कि पहले की दुर्वृत्ति प्रकृतिस्थ नहीं है पर दूसरे की प्रकृतिस्थ है। पहले की आभासित शिथिलता या दुर्बलता सद्वृत्ति की अंतस्संज्ञागत मृदुलता का परिणाम है और दूसरे की सबलता और दृढ़ता का हेतु है प्रकृतिस्थ दुर्वृत्ति। कभी कभी सद्वृत्त नायकों में आरोपित दुर्वृत्ति का आरंभ में इसीलिए संनिवेश करना पड़ता है जिससे उनकी सद्वृत्ति के प्रकट होने पर उनका निर्मल और विकसित रूप सामने आए। 'शकुंतला' नाटक के दुष्यंत में कालिदास ने यही किया है। उसमें दुर्गुण आरोपित है इसे दुर्वासा के शाप द्वारा उन्होंने स्पष्ट कर दिया है। आधुनिक दृष्टि यह भले ही कह ले कि दुष्यंत के वास्तविक स्वरूप का कलंक-मार्जन करने के लिए दुर्वासा की योजना की गई है, पर भारतीय दृष्टि उसे प्रकृत रूप में उदात्त ही मानती है, फिर उसका अनुदात्त रूप आरोपित ही है। ठीक यही बात अजातशत्रु के संबंध में भी समझनी चाहिए। छलना और विशेष रूप से बुद्ध के प्रतिद्वंद्वी देवदत्त के कुचक्रों के अभिशाप ने उसकी सद्वृत्ति को भी ढक दिया है, वह उनकी छाया या हाथ के खिलौने के रूप में दिखाई देने लगता है। ज्यों ही यह छाया छूट या हट जाती है उसका प्रकृत रूप सामने आ जाता है। आरोपित रूप के कारण उसके चारित्र्य में संकुलता या गूढ़ता (कंप्लेक्सिटी) आ गई है, जिसे पश्चिमी दृष्टि कवि-कर्म के लिए कठिन स्वीकार करती है।

नायकत्व के लिए जैसी उदात्त वृत्ति होनी चाहिए वह उसमें सोलह आने

है। विरुद्धक की भाँति उसने अपने पिता का सामना कब किया। यही क्यों, नायकत्व के संबंध में तो भारतीय दृष्टि अत्यंत स्पष्ट है। नाटक के महत्कार्य को फल-रूप में प्राप्ति करनेवाला ही अर्थात् उसका भोक्ता ही नायक कहा जाता है। 'मुद्राराक्षस' की घटनावली को विश्वस्त रूप में अपने पक्ष में घटा लेने की क्षमता रखनेवाला चाणक्य उसका नायक नहीं है। अमात्य राक्षस का मंत्रित्व प्राप्त करनेवाला चंद्रगुप्त ही नायक है, और चाणक्य के हाथ की कठपुतली है वह। निस्पृह ब्राह्मण चाणक्य उसका संचालक भले ही हो, नायक नहीं। प्रसाद का 'अजातशत्रु' 'मुद्राराक्षस' के चंद्रगुप्त की भाँति न तो मिट्टी का लोंदा है और न छलना, देवदत्त आदि के सूत्र के आधार पर ही सदा हिलनेवाला काष्ठ-कौशिक।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया होगा कि 'प्रसाद' के 'अजातशत्रु' का निर्माण शेक्सपियर के 'किंग लियर' के आदर्श पर बने द्विजेंद्रलाल राय के 'शाहजहाँ' की देखादेखी हुआ है। पर लेखक विदेशी रीति-नीति का त्याग करके भारतीय पद्धति पर अपने नाटक को ले चलना चाहता था इसलिए उसने उसमें कई फेर-फार कर डाले हैं। इतिहास साक्षी है कि 'अजातशत्रु' ने किस प्रकार बिंबसार को दानों-दानों के लिए तरसाकर मार डाला था। उस कथा को यथार्थ रूप में ग्रहण करके 'बिंबसार' नामक त्रासद नाटक की रचना बड़े मजे में हो सकती थी। लेखक ने भारतीय परंपरा की रक्षा करते हुए उसका रूप बदल दिया। पर बिंब-सार के चारित्र्य को वह कैसे बदल सकता था। फल यह हुआ कि आरंभ में बिंबसार हमारी समानुभूति का आलंबन हो जाता है और बहुत दूर तक ऐसा ही बना रहता है। धीरे धीरे अजातशत्रु अपने कार्यकलापों से हमारी सहानुभूति बटोरने लगता है और अंत में वह एकमात्र समानुभूति का पात्र रह जाता है। उसे क्षमा करता हुआ बिंबसार उसे क्षमा-दान ही नहीं देता, अपने प्रति सामा-जिकों की श्रद्धा का भी दान कर देता है। हमें बिंबसार की मृत्यु का कोई क्लेश नहीं होता, अजातशत्रु भी पूर्णकाम हो गया, बिंबसार भी पूर्णकाम होकर दिवंगत हुआ और सामाजिक भी आत्मतुष्टि से पूर्णकाम हो जाता है। नायक वही है। उसी की फलप्राप्ति से सबको इच्छित फल का लाभ होता है। इस प्रकार 'अजा-तशत्रु' में अजातशत्रु की समस्या का समाधान हो जाता है।

२

'स्कंद' और 'देवसेना'

श्री जयशंकर 'प्रसाद' का सर्वश्रेष्ठ नाटक है 'स्कंदगुप्त'—काव्यतत्त्व और नाट्यतत्त्व दोनों की सुष्ठु योजना के विचार से। उसमें 'प्रसाद' जी की नामकल्पना कितनी सटीक है और उसका निर्वाह करने का उन्होंने कितना प्रयास किया है इसपर ध्यान न जाने से भी बहुत सी बातें सुलझ नहीं पातीं। 'प्रसाद' की नामकल्पना स्वतंत्र रूप से अनुशीलन की चीज है, उनके 'स्कंदगुप्त' नाटक के 'स्कंद' और 'देवसेना' की कल्पना और निर्वाह पर ही थोड़ा सा विचार किया जाय।

अपनी 'नामकल्पना' के संबंध में इस नाटक के परिशिष्ट में स्वतः लेखक ने ही कुछ लिखा है—"इसमें प्रपंचबुद्धि और मुद्गल कल्पित पात्र हैं। स्त्री-पात्रों में स्कंद की जननी का नाम मैंने देवकी रक्खा है, स्कंदगुप्त के एक शिलालेख में 'हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेतः' मिलता है। संभव है कि स्कंद की माता के नाम देवकी ही से कवि को यह उपमा सूझी हो…। देवसेना और जयमाला वास्तविक और काल्पनिक पात्र, दोनों हो सकते हैं। विजया, कमला, रामा और मालिनी जैसी किसी दूसरी नामधारिणी स्त्री की भी उस काल में संभावना है। तब भी ये कल्पित हैं।" इस उद्धरण से यह तो स्पष्ट है कि स्कंदगुप्त की माता 'देवकी' की नामकल्पना विशेष सावधानी से की गई है। पर क्या उससे प्रेम-संबंध रखनेवाली 'विजया' और 'देवसेना' के नामों में भी कोई कल्पना अंतर्निहित है। 'विजया' का संबंध किस प्रकार 'विजय' और 'लक्ष्मी' से है और श्रेष्ठिकन्या तथा 'पुरुष-पुरातन-वधू' के उपचार से उसमें 'चंचला' का रूप कैसे गुंफित है एवं भितरी के शिलालेख के 'लक्ष्मीः स्वयं यं वरयां चकार' से उसकी विधि क्यों बैठती है आदि पर फिर कभी विचार किया जायगा। यहाँ केवल 'स्कंद' और 'देवसेना' की संबंध-योजना का ही विचार करना है।

'स्कंद', 'कुमार', 'चंद्र' आदि शब्दों के 'रघुवंश' में अधिक प्रयुक्त होने से तथा 'कुमारसंभव' लिखने से कालिदास कैसे गुप्तकालीन माने जाते हैं और 'विक्रमादित्य' के राजकवि होने की संगति 'विक्रमादित्य' उपाधि से कैसे जोड़ी जाती है, इसे तो प्राचीन भारतीय इतिहास से थोड़ी सी रुचि रखनेवाले व्यक्ति तक जानते हैं। 'प्रसाद' ने कालिदास को 'स्कंदगुप्त विक्रमादित्य' का दरबारी मानकर मातृगुप्त से उन्हें कैसे मिला रखा है तथा 'कालिदासत्रयी' की पुरानी

कल्पना की संगति कैसे बैठा ली है इसका भी इस नाटक के 'परिशिष्ट' से ही पता चल जाता है, पर इस बात का पता उससे भी नहीं चलता कि 'अज' और 'इंदुमती' के संबंध में कही रघुवंश की इस उक्ति से उन्होंने 'देवसेना' नाम की योजना भी कर ली है—

अथोपयंत्रा सदृशेन युक्ता, स्कंदेन साक्षादिव .देवसेनाम्।

स्वसारमादाय विदर्भनाथः,पुरप्रवेशाभिमुखो बभूव ॥ —रघुवंश, ७

शिव के 'कुमार' स्वामिकार्त्तिकेय, स्कंद, 'सेनानी' और 'महासेन' भी कहलाते हैं। ये किस 'सेना' के 'सेनानी' थे और इनकी 'महासेना' क्या थी. यह जिज्ञासा भी तुरंत शांत हो जाती है जब जान जाते हैं कि ये 'देवों के सेनापति' थे और इनकी महासेना 'देवसेना' थी। पर क्या ये 'देवसेना' के वैसे ही 'पति' थे जैसे कोई 'सेनापति' किसी 'सेना' का 'पति' होता है? न। 'देवसेना' इनकी प्रेयसी का नाम था, व्यक्तिवाचक नाम। श्री मल्लिनाथ ही लिखते हैं—'स्कंदेन युक्तां देवसेनामिव देवसेना नाम देवपुत्री स्कंदपत्नी तामिव'। यह देवसेना किस 'देव' की पुत्री थी, वायुपुराण यों समझाता है—

शतक्रतो रूपवती देवसेनेति या सुता
सा महेंद्रेण रत्यर्थं भार्यात्वेनोपपादिता।
उदीर्णसेनापतये महासेनाय सुव्रतः ॥

पर 'देवीभागवत' में स्वयं 'देवसेना' आत्मकथा सुनाती है—

ब्रह्मणो मानसी कन्या, देवसेनाहमीश्वरी।
सृष्ट्वा मां मनसा धाता, ददौ स्कंदाय भूमिप ॥

—स्कंध ११, अध्याय ४६, श्लोक २५।

यही 'देवसेना' 'षष्ठी देवी' के नाम से प्रसूति-गृह में छठी के दिन अपनी पूजा लेती है—

षष्ठांशा प्रकृतेर्या च, सा च षष्ठी प्रकीर्तिता।
बालकानामधिष्ठात्री, विष्णुमाया च बालदा ॥
मातृकासु च विख्याता, देवसेनाभिधा च या।
प्राणाधिकप्रिया साध्वी, स्कंदभार्या च सुव्रता ॥

—देवीभागवत ११।४६,४७

कार्तिक शुक्ला षष्ठी 'स्कंदषष्ठी' कही जाती है, वह भी 'स्कंद' की 'दयिता' (प्रिया) तिथि है—

कार्तिकेयस्य दयिता एषा षष्ठी महातिथिः।
देवसेनाधिपत्यं हि प्राप्तमस्यां महात्मना ॥ —व्रतराज।

बात यह निकली कि 'देवसेना' इनकी पत्नी का नाम पुराणों में सर्वत्र नहीं, तो 'बहुत्र' अवश्य है। पर 'देवसेना' को पत्नी मान लेने से तो नाटक का अंतिम दृश्य बेकार चला जाता है। ऐसी स्थिति में दोनों का 'संयोग' उचित होता। वहाँ 'स्कंद' का 'कौमार-व्रत' कुछ विलक्षण जान पड़ता है। 'काव्य इतिहास नहीं है' कहकर 'स्कंद' और 'देवसेना' के संयोग का समर्थन मजे में किया जा सकता है। पर 'स्कंद' का पौराणिक पक्ष अभी पूरा पूरा सामने आया कहाँ। 'देवसेना' की दृष्टि से तो वह आ गया, पर उनके 'कौमार-व्रत' की दृष्टि से कहाँ आया। अब थोड़ी इसको भी छान-बीन कर ली जाय।

'स्कंद' का एक नाम 'कुमार' भी है। 'अमरकोश' की व्याख्या 'अमर-कोशोद्घाटन' में उसके प्रणेता भट्ट क्षीर स्वामी ने 'कुमार' का अर्थ 'ब्रह्मचारी' ही किया है, पर भट्टोजी दीक्षित के सुपुत्र श्रीभानु जी दीक्षित को यह व्याख्या पसंद नहीं आई। अतः अपनी 'सुधा' नाम की व्याख्या में उन्होंने कुमार शब्द की निरुक्ति कैसी की है लगे हाथ इसे भी निपटा लिया जाय। 'कुमारयति क्रीडति कुमारक्रीडायाम्'। 'कुत्सितो मारोऽस्येति वा' 'कुः पापपेषदर्थयो'। कौमार-यति दुष्टान्। यत्तु ब्रह्मचारित्वात् कुमारः इति स्वामिनोक्तम्। तन्न।" यदि 'कुमार' का अर्थ 'ब्रह्मचारी' नहीं तो 'कुत्सिता मारोऽस्य' तो हो सकता है न। अजी इस ब्रह्मचर्यप्रिय 'कुमार' से तो कवि लोग 'ब्रह्मचर्यश्री' के वितरण की प्रार्थना बराबर करते आए हैं। देखिए न इसके 'संयम' को—

त्रिकसदमरनारीनेत्रनीलाब्जखंडान्यधिवसति सदा यः संयमाधःकृतानि।
न तु रुचिरकलापे वर्तते यो मयूरे वितरतु स कुमारो ब्रह्मचर्यश्रियं वः॥

और पढ़िए 'यह भी कथा है कि पार्वती जी ने एक बार कहा था कि जो कोई सबसे पहले पृथ्वी की प्रदक्षिणा करके आवेगा, उसके साथ ऋद्धि सिद्धि का विवाह होगा। तदनुसार 'स्कंद' मोर पर चढ़कर पृथ्वी-प्रदक्षिणा करने निकले। पर गणेशजी ने सोचा कि माता ही पृथ्वी का रूप है, अतः उन्होंने पार्वतीजी की प्रदक्षिणा करके उन्हें प्रणाम किया। पार्वती ने उनके साथ ऋद्धि-सिद्धि का विवाह कर दिया। जब स्कंद लौटकर आए, तब उन्होंने देखा कि गणेश का विवाह हो गया है अतः उन्होंने सदा कुँआरे रहने का प्रण किया।' (हिंदी शब्दसागर)। भंडारकर ने तो 'देवसेना' के संबंध में अपनी 'शंका' भी स्पष्ट कर दी है—'देवसेना' स्कंदपत्नी, परहेप्स इट मिअरली मीन्स 'दि आर्मी-आफ् दि गाड्स्' परसानीफाइड ऐज स्कंदज वाइफ।' मैं समझता हूँ कि 'कामजित्' 'देव-सेनारति' या 'देवसेनाप्रिय' स्कंद का जो चरित्र 'स्कंदगुप्त' नाटक में रखा गया है उसकी पौराणिक पीठिका अब स्पष्ट हो गई। इस

पीठिका पर उनके और उनकी प्रेमिका के चित्र-चरित्र देखे-दिखाए जायँ तो न कहीं 'रस-विरोध' दिखाई दे और न कहीं 'शील-शैथिल्य'।

दिखाया या कहा जाता है कि 'स्कंदगुप्त' विरागी मनोवृत्ति का है। क्षत्रिय के लिए यह दोष है, यह 'अनार्यजुष्ट हृदयदौर्बल्य' युवराज की शोभा नहीं। पर स्कंदगुप्त क्षात्रधर्म से कहाँ उदासीन है। अधिकार-लोलुपता से अवश्य उदासीन है। यह उदासीनता भी उसके चारित्र्य का अंग है, इसी के कारण उसने राज्य पुरगुप्त को सहर्ष सौंप दिया। वह स्पष्ट गरजता है—'भटार्क, यदि कोई साथी न मिला तो साम्राज्य के लिए नहीं, जन्मभूमि के उद्धार के लिए मैं अकेला युद्ध करूँगा और तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी होगी, पुरगुप्त को सिंहासन देकर मैं वानप्रस्थ-आश्रम ग्रहण करूँगा। आत्महत्या के लिए जो अस्त्र तुमने ग्रहण किया है, उसे शत्रु के लिए सुरक्षित रखो।' अंत में उसी भटार्क को दिखा देता है—'भटार्क, मैंने तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी की। लो, आज इस रणभूमि में पुरगुप्त को युवराज बनाता हूँ। देखना, मेरे बाद जन्मभूमि की दुर्दशा न हो। (रक्त का टीका पुरगुप्त को लगाता है)' इस पर भटार्क भी कहता है—'देवव्रत अभी आपकी छत्रछाया में हम लोगों को बहुत सी विजय प्राप्त करनी हैं, यह आप क्या कहते हैं।'

तो क्या 'स्कंद' में 'देवव्रत' (भीष्म पितामह) की कल्पना भी अंतर्गूढ़ है। अवश्य। 'गांगेय' ने अपने भाई विचित्र-वीर्य को राज्य ही नहीं सौंपा आमरण ब्रह्मचर्य का पालन भी किया, 'कौमारव्रत' लिया और इस 'गांग' (स्कंद) ने भी उन्हीं का अनुसरण किया—तन से, मन से, वचन से। वह देवसेना के यह कहने पर कि 'अब मुझे छुट्टी मिले' सहृदयता और मतिमत्तापूर्ण उत्तर देता है—'तुम चली जाओ ऐसा मैं किस मुँह से कहूँ। (कुछ ठहरकर सोचते हुए) और किस वज्रकठोर हृदय से तुम्हें रोकूँ। इससे देवसेना, देवसेना तुम जाओ। हत-भाग्य स्कंदगुप्त, अकेला स्कंद, ओह।'

प्रश्न हो सकता है कि दर्शक या पाठक की मनोगत संभावना के विपरीत दोनों को पृथक् क्या इसी पौराणिक विधान के हेतु कर दिया गया था, या कहीं कुछ साहित्यिकता भी है। सीधा उत्तर है कि 'शील' की उच्च भूमि पर स्थापित करने की नाट्य-दृष्टि भी इसमें है। पुरगुप्त को राज्य अर्पित कर देने से स्कंद की लोकगत उच्चता का पता चला। उनके 'महेंद्रविक्रम' की सार्थकता इस त्याग से सिद्ध हो गई और 'देवसेना' से संपर्क स्थापित करने पर जो भावी जीवन की उच्चता प्रतिपादित नहीं हो पा रही थी, व्यक्तिगत दृष्टि से उसकी स्थापना भी 'देवसेना' से पृथक् रहने से भलीभाँति हो गई। ऐसा व्यक्ति यदि 'संयोगसुख-

नाम पर धीरे-धीरे कैसे जीवन का अयथार्थ रूप सामने रखा जाने लगा, यह पृथक् ही विचारणीय विषय है। उसकी विवेचना में रत होने से बहुत आगे निकल जाना पड़ेगा। इसलिए अभी यही कहना प्रसंगानुकूल है कि साहित्यिक कहानी ऐयारी, तिलस्मी, औपदेशिक कहानियों की भाँति जीवन का अयथार्थ, शुद्ध चमत्कारोत्पादक स्वरूप नहीं ग्रहण करती। जासूसी कहानी में उन कहानियों की अपेक्षा यथार्थ का अधिक ग्रहण हो, कहीं वस्तु चाहे अधिक बुद्धिसंगत हो, पर उसके संबंध में यह तो मानना ही पड़ेगा कि बुद्धि के कौशल का प्रदर्शन जासूसी कहानी के लिए जितना आवश्यक है, उतना जीवन का प्रकृत रूप नहीं। जासूसी कहानी में घटित घटनाएँ बुद्धिग्राह्य या संभावित हो सकती हैं, पर वे किसी जासूस द्वारा अनुभूत नहीं होतीं। लेखक के मस्तिष्क का ही संसार, उसमें कल्पित, शुद्ध कल्पित जीवन ही प्रस्तुत किया जाता है। यदि किसी जासूस के जीवन की अनुभूत या घटित घटनाएँ उसमें रखी जायँ तो कदाचित् साहित्यिक कहानी के वह अधिक निकट दिखाई पड़े। पर प्रायः ऐसा नहीं होता। हमारा साहित्य जीवन से संबद्ध है। अतः साहित्य की प्रत्येक शाखा—कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि—जीवन का यथार्थ रूप सामने करने का प्रयास बराबर करती रहती है। इसमें यथार्थ साध्य होता है, साधन भी हो सकता है।

साहित्य-साधना में यथार्थ की रक्षा के लिए अनुभूति या भाव का प्रमुख स्थान भारतीय साहित्यशास्त्र ने माना है। अनुभूति आंतर होती है, व्यक्ति-व्यक्ति में उसका अवस्थान होता है और भावक या अनुभावक हृदयों से एक ही भाव-धारा प्रवाहित होती है। यह साहित्य की प्रत्येक शाखा के लिए यथार्थ है—भारती दृष्टि से। पर पश्चिमी समीक्षा ने कथा-वाङ्मय के लिए स्वभाव या परिचय या व्यक्तिगत विशेषता का मान किया। एक का स्वभाव दूसरे से भिन्न होता है, अत्यधिक साम्य होने पर भी। एक का आंतर भाव दूसरे से अभिन्न होता है या अभिन्नत्व के निकट पहुँच जाता है, व्यक्तिगत रूप में अत्यधिक वैषम्य होने पर भी। स्वभाव में भेद की प्रवृत्ति है, भाव में अभेद की प्रवृत्ति है, क्योंकि यहाँ 'स्व' या पर का भेद नहीं। एक सामान्य है, दूसरा सर्वसामान्य। नई कहानियों का प्रचलन होने पर भारतीय परंपरा, परिस्थिति, संस्कृति, रीति-नीति से परिचित-पोषित साहित्यकारों के समक्ष यह समस्या जटिल रूप से सामने आई कि केवल भारतीय रंग-ढंग का ही ग्रहण किया जाय अथवा केवल पश्चिमी प्रवाह में बहा जाय या दोनों का समन्वय किया जाय। अन्य साहित्य-शाखाओं की चर्चा का त्याग करके कहानी के क्षेत्र में देखते हैं तो यह स्पष्ट दिखाई देता है कि यहाँ तीन प्रकार के कर्ता-निर्माता दिखाई देते हैं।

(१) स्वभाव के वैलक्षण्य पर विशेष ध्यान देनेवाले।

(२) भाव के प्रभाव पर प्रधान दृष्टि रखनेवाले।

(३) दोनों (स्वभाव और भाव) के समन्वय का प्रयत्न करनेवाले।

पहले प्रकार के कथाकारों ने भारतीय घटनाएँ लीं, भारतीय रीति-नीति की विनियोजना की, पर व्यक्तिगत विशेषताओं, जातिगत संस्कारों, वर्गगत व्यवहारों का अपनी कहानियों में, उपन्यासों में विशेष उल्लेख किया। अर्थात् वस्तु भारतीय थी, पर सिद्धांत या शास्त्र या साहित्य-व्यवस्था विदेशी थी। यहाँ के समाज का विश्लेषण वे पश्चिमी ढंग-ढर्रे पर कर चले। उनके निर्माण में पर्यवेक्षण-निरीक्षण, अध्ययन-मनन आदि के कारण कहानी में अपने ढंग की कुछ बातें अवश्य आती रहीं, पर उनका मानदंड बहुत कुछ अपना न था। प्रेमचंद या इसी प्रकार के अन्य अनेक कहानीकारों ने ऐसी ही कहानियाँ प्रस्तुत कीं।

दूसरे प्रकार के कथाकार भाव पर दृष्टि जमाकर चले। स्वभाव का चित्रण-अंकन उनमें था, पर उधर पाठक को ले जाने की तत्परता उनमें न थी। भारतीय साहित्य के चमत्कारों की ओर उनकी दृष्टि गई। भाव की धारा के लिए, उसकी सजावट के लिए वे पुराने सज्जा-संभार को नए ढंग से कहानी में रखने लगे। अलंकरण, निरूपण, वर्णन-बाहुल्य आदि पुरानी विधियाँ नए उक्ति-वैचित्र्य के साथ कहानी में रखी जाने लगीं। कहीं कहीं तो साज-सज्जा का दबाव इतना अधिक भी हो गया कि घटना-चक्र उसी में फँस गया। उसका प्रवर्तन धीमा पड़ गया। इस प्रकार के कथाकारों में श्री चंडीप्रसाद 'हृदयेश' या इसी प्रकार के अन्य कहानीकारों का नाम लिया जा सकता है।

तीसरे समूह में उन्हें रखना चाहिए जिन्होंने न तो भाव-पद्धति का ही त्याग किया और न स्वभाव-चारित्र्य आदि के संकलन का। दोनों को मिलाने की चेष्टा करके उन्होंने कहानी के वे तत्त्व भी अपना लिए जो नए ढंग के थे और अपनापन भी बनाए रखा। ऐसे कृतिकारों में जयशंकर 'प्रसाद' जी का नाम सर्वप्रथम लिया जा सकता है। यहाँ इसका भी स्मरण कर लेना चाहिए कि 'प्रसाद' जी का आविर्भाव यद्यपि साहित्य-क्षेत्र में उत्पन्न नूतन परिस्थिति के बीच हुआ तथापि वे अपने परंपरागत साहित्य से एकदम विच्छिन्न नहीं हुए थे। उनकी पुरानी कविताएँ, उनके पुराने नाटक तथा उनकी पुरानी कहानियाँ विशेषतया आख्यान आदि जिनका संग्रथन 'चित्राधार' में हुआ है, इसके प्रमाण हैं। काव्य के क्षेत्र में उनके लाक्षणिक प्रयोग, उनके प्रतीक, उनकी काव्य-समय-पालन की अभिरुचि और नाटक के क्षेत्र में भारतीय नाट्य-

विधान विशेष रूप से संधि-संकलन की प्रवृत्ति इसके लिए प्रमाण है। कहानी में, उपन्यास में उनकी यह प्रवृत्ति बराबर बनी रही है। नए ढंग से कहना चाहें तो यों कह सकते हैं कि उन्होंने अपने उपन्यासों और कहानियों में 'काव्य-तत्त्व' का विधान बनाए रखा है।

काव्य-तत्त्व का यह विधान तीन रूपों में दिखाई देता है। एक तो जीवन में प्रविष्ट होकर भी उन्होंने जीवन के विशेष मार्मिक पक्ष को ही स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उनकी कहानियाँ अधिकतर प्रेम के विविध स्वरूपों की व्यंजना में संलग्न दिखाई पड़ती हैं। प्रेममय जीवन का कोई एक छाँटा हुआ रूप उनकी कहानियों में नहीं है, पर प्रेम के अनेक संश्लिष्ट रूप उनमें अवश्य दिखाई देते हैं। जीवन में ऐसे प्रसंग निरंतर आया करते हैं कि एक प्रकार के प्रेम का दूसरे प्रकार के प्रेम से विरोध हो। देश-प्रेम, राष्ट्र-प्रेम या विश्व-प्रेम का व्यक्तिगत प्रेम से विरोध हो सकता है। प्रसाद जी ऐसी स्थिति में यदि पुराने ढंग के लोगों का अनुगमन करते तो व्यापक प्रेम की विजय दिखाकर पराङ्मुख हो जाते। यदि नए प्रकार के कहानीकारों का साथ देते तो व्यक्तिगत प्रेम के कारण उत्पन्न चारित्र्य को अधिकाधिक झलकाने में प्रवृत्त होते और बँगला के शरच्चंद्र की भाँति पात्रों की विलक्षणता या यथार्थ चरित्र को अधिकाधिक स्पष्ट करके पाठकों का रंजन करते, पर उन्होंने मध्यम मार्ग का अवलंबन करके दोनों पक्षों को बनाए रखने का प्रयास किया है। इस प्रकार की उनकी कहानियाँ विशेष मार्मिक हुई हैं और उनकी उत्कृष्ट कहानियों में हैं। पुरस्कार, आकाशदीप, सालवती आदि में जीवन के द पक्ष लौकिक और वैयक्तिक किस प्रकार सामने किए गए हैं और किस प्रकार दोनों के निर्वाह का प्रयास किया गया है यह ध्यान देने योग्य है। इस विधान से प्राचीन भावधारा की काव्यात्मक प्रवृत्ति को आश्रय तो मिला ही साथ ही चारित्र्य के आभोग के लिए भी कहानी में अवकाश निकल आया। नए ढंग के कहानी-लेखक स्थल-वर्णन से तो प्रायः विमुख हो गए हैं, व्यक्ति के रूप-चित्रण की प्रवृत्ति उनमें है, पर वह भी काम भर को ही। उसका भी विस्तार कहीं नहीं मिलता। प्रसाद जी ने स्थल-वर्णन, प्रकृति-दर्शन से अवसर पाकर कहानी के छोटे आकार में भी पराङ्मुखता नहीं दिखलाई। उसका महाकाव्यों का सा विस्तार तो इनके उपन्यासों में भी नहीं है, पर उनका बहिष्कार भी नहीं है, संग्रह-पोषण ही दिखाई देता है। यह इनका दूसरा काव्यात्मक विधान है जो इन्हें अन्य कहानीकारों से पृथक् कर देता है। अन्यों ने क्वचित् इसका प्रयोग किया है तो इन्होंने सर्वत्र। अवसर आने पर उसका

त्याग नहीं किया। प्रसाद जी ने साहित्य की विभिन्न शाखाओं में प्रायः सबमें, कुछ न कुछ निर्माण-कार्य किया है। यदि उत्कर्ष की दृष्टि से देखा जाय तो उनके विभिन्न रूपों का क्रम यों होगा—कवि←नाटककार←कहानीकार←उपन्यासकार←निबंधकार या आलोचक। इससे भी उनमें कवित्व का प्राधान्य समझ में आ सकता है। प्रकृत्या वे कवि थे। भारतीय परंपरा में 'कवि' शब्द व्यापक अर्थ वाला है, उसमें सब प्रकार की शक्तियाँ निहित मानी जाती रही है।

उनके 'कवि' रूप का प्रकर्ष कहानियों की अभिव्यंजन-पद्धति में भी मिलता है। उनका प्रत्येक पात्र विशेष प्रकार की उक्तियाँ कहता है, विशेष रूप में बोलता है। प्रायः आलोचकों ने इस ओर इंगित किया है कि प्रसाद के पात्र 'प्रसाद' के रूप में बोलते हैं। अपना रंग इन्होंने सभी पर चढ़ाया है। यह रंग अभिव्यंजन-पद्धति में, आन-बान में दिखाई देता है। इनके व्यक्तित्व का आवरण सबने ओढ़ लिया है। इस प्रकार इनकी कहानियों में तीन काव्यात्मक अंग दिखाई देते हैं—प्रेमधारा, वर्णन की अभिरुचि और अभिव्यंजन का वैशिष्ट्य। इसी से कुछ लोगों ने इनकी कहानियां को भावप्रधान कहा है। पर वे शुद्ध भाव-प्रधान नहीं हैं उनमें स्वभाव का संमिश्रण भी है। प्रसाद के प्रत्येक पात्र में उसका व्यक्ति-वैलक्षण्य स्पष्ट दिखाई देता है। इस वैलक्षण्य के लिए इन्होंने पात्रों के अनेक प्रकार के युग्मक या जोड़े भी सामने किए हैं। दो पात्र परस्पर-विरोधी मनोवृत्तियों के भी दिखाई देते हैं या एक ही प्रकार की मनोवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते हुए भी सूक्ष्मतया एक दूसरे से भिन्न हो जाते हैं। उदाहरणार्थ यदि दो प्रेमी व्यक्तियों को लें तो किसी एक का प्रेम एकनिष्ठ होगा तो दूसरे का बहुनिष्ठ। किसी का प्रेम सामाजिक बंधन का आग्रही होगा तो दूसरे का स्वच्छंद। एक ही क्षेत्र में किस प्रकार वैविध्य का प्रसार करने में ये समर्थ हो सके हैं इसके लिए इनकी कहानियाँ, इनके नाटक प्रमाण हैं। निष्कर्ष यह कि प्रसाद प्राचीन और नवीन पद्धतियों का समन्वय, अच्छा संमिश्रण करके चलते थे। अपनेपन की भी इन्होंने रक्षा की और नवीनता का भी स्वागत किया और अपने ढंग से उसका विकास भी किया।

लक्षण और हेतु

इधर कुछ दिनों से 'प्रगतिवाद' नाम बहुत सुनाई पड़ रहा है। पहले तो यह कविता के क्षेत्र में ही लगाया जाता था, पर अब यह अपने हाथ-पैर फैला रहा है, पद्य से गद्य में भी यह घुसने लगा है। इसका स्वरूप क्या है यह तो इसके पक्ष का समर्थन करनेवाले भी नहीं बतला सके हैं। पर इसका अधिक विरोध होने पर इसके उग्र से उग्र आलोचक (समर्थक) यह कहने लग गए हैं कि इसका लक्ष्य भारतीय काव्य-परंपरा का प्रतिवाद नहीं है। यह तो उन सभी रचनाओं का अभिनंदन करनेवाला है जिनमें विकास का बीज हो। वे रचनाएँ चाहे आज की हों चाहे आज से सैकड़ों वर्ष पूर्व की। बहुत प्रयत्न करने पर और इस वाद के अनेक हिमायतियों से सभाओं में तथा संलापों में पूछने पर भी जब इसका स्वरूप वे न बतला सके—उनके लक्षणों की अति-व्याप्ति या अव्याप्ति के कारण जब उन्हें ही असंतोष और खीझ का सामना करना पड़ा, तब स्वयं ही इसके समझने में प्रवृत्त होना पड़ा। इस वाद के लक्षण स्वरूप-लक्षण न बतलाकर यदि इसके नाम पर चलनेवाली रचनाओं का वर्ण्य विषय, वर्णन-प्रणाली और भाषा पर विचार कर लिया जाय तो बहुत संभव है कि इस 'वाद' का रूप समझा जा सके। जब साहित्य में कोई प्रवृत्ति आती है तब उसमें गुण और दोष दोनों ही मिले रहते हैं, विशेषतया उस प्रवृत्ति में जो 'वाद' का रूप धारण कर लेती है या करना चाहती है। इसलिए प्रगतिवाद में भी गुण-दोष दोनों दिखाई पड़ रहे हैं। संप्रति इसके गुण-पक्ष या सत्पक्ष का ही विचार करना अच्छा होगा।

'प्रगतिवाद' नाम बहुतों को नहीं रुचता। अँगरेजी के 'प्रोग्रेस' शब्द का पर्याय 'प्रगति' शब्द माना गया है। पर इस शब्द से 'प्रोग्रेस' का भाव ठीक-ठीक व्यक्त नहीं होता। 'प्रोग्रेस' में 'प्रो' का अर्थ है 'आगे' और 'ग्रेस' का अर्थ है 'चलना'। ऐसी स्थिति में 'प्रगति' के स्थान पर 'पुरोगति' शब्द उसके तात्पर्य को कदाचित् और अच्छी तरह प्रकट कर सकता। जिनसे छूटकर या जिन्हें छोड़कर गति मिली है उन्हें पीछे रहने देकर आगे बढ़ जाना 'पुरोगति' हुई।

'प्रगति' का अर्थ तो हुआ 'तीव्रगति', साहित्य में जितनी गति होना चाहिए उतनी नहीं है, कम पड़ गई, शिथिल हो गई है, इसलिए उसकी गति को तीव्र कर देने को 'प्रगति' कहेंगे। तात्पर्य यह कि 'प्रगति' गति में ही होगी, प्रवाह से 'प्रगति' का संबंध है, पर 'पुरोगति' तो 'प्रतिगामिता' से या स्थिरता से, गति-हीनता से आगे बढ़नेवाली गति होगी। यदि यह कहिए कि प्रवाह का ही आगे बढ़ना 'पुरोगति' है और 'प्रगति' का अभीष्ट अर्थ है, तब जिन रचनाओं के लिए इस शब्द का व्यवहार हो रहा है उनमें प्रवाह के आगे बढ़ने या उसके तीव्र होने की प्रवृत्ति ही नहीं है। साहित्य का प्रवाह वस्तुतः उसकी परंपरा होती है। अपनी परंपरा को ये रचनाएँ बढ़ानेवाली या उसकी गति में तीव्रता लानेवाली नहीं हैं। वस्तुतः 'प्रगतिवाद' एक प्रकार का 'स्वच्छंदतावाद' ही है, और 'स्वच्छंदतावाद' में दूसरे का 'छंद' त्याग कर अपना ग्रहण करना ही पड़ता है। बिना त्याग के 'स्वच्छंदता' कहाँ। चाहे यह त्याग आंशिक ही क्यों न हो। अतः 'प्रगतिवाद' नाम उन रचनाओं के लिए जो इस नाम पर चल रही हैं ठीक ही नहीं है। फिर भी जो नाम 'गड्डुलिका-प्रवाह' में चल पड़ा है उसीसे इसकी प्रवृत्ति का विचार किया जाता है।

जैसे जीवन में नवीन जागर्ति उस समय होती है जब भौतिक परिवर्तनों के कारण पुरानेपन को ज्यों का त्यों ग्रहण किए रहने में जीवन-यापन या जीवन-रक्षा संभव नहीं रह जाती, वैसे ही साहित्य में भी कोई 'वाद' तब खड़ा होता है जब साहित्य वास्तविकता से हटने लगता है। 'वाद' या 'फैशन' के रूप में ही साहित्य का सर्जन होने लगता है, व्यावहारिकता या वास्तविकता का ध्यान वह छोड़ बैठता है। क्या प्रगतिवाद का भी उदय इसीसे तो नहीं हुआ? मेरे विचार में प्रगतिवाद के उदय का कारण भी यही है। आरंभ में इसका संबंध कविता से ही रहा है, अतः इस बात का विचार करने के लिए प्रगतिवाद' के पूर्व की कविताओं का रूप समझने की आवश्यकता है। प्रगतिवाद के उदय के पूर्व जिन काव्य-रचनाओं का हिंदी में अत्यधिक प्रसार था वे छायावाद या रहस्यवाद की रचनाएँ थीं। छायावादी या रहस्यवादी रचनाओं में वास्तविकता नहीं रह गई थी यह बात स्वीकार करनी पड़ती है। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि साहित्य जीवन से संलग्न होकर चलता है, विलग्न होकर नहीं। पर रहस्यगान जीवन से विलग्न हो गया था जीवन की कठोरता, उसकी प्रफुल्लता, उसके हर्ष-शोक आदि को छोड़कर वह 'जीवन के उस पार' अपनी नौका टिकाने लगा था। 'अनंत' में उड़ान भरनेवाले कवियों या पक्षियों से यदि अनंत नहीं तो हिंदी-गगन तो अवश्य भर गया था। जीवन को त्याग

कर और आकाश के परदे को फाड़कर दूसरी ओर झाँकनेवालों की जीवन-त्यागिनी प्रवृत्ति को कुछ लोगों ने 'पलायनवाद की प्रवृत्ति' कहा है, अर्थात् ये जीवन से ऊबे हुए, उसकी कठोरता से व्यथित होकर 'उस ओर' गए थे। ऐसी स्थिति में 'इस ओर' को सामने लानेवालों की आवश्यकता होने लगी थी और फलस्वरूप 'प्रगतिवाद' के भीतर ऐसी रचनाएँ आने लगीं जो साहित्य को फिर वास्तविक जीवन से जोड़ने में संलग्न हुईं।

यहाँ रहस्यवाद या छायावाद का केवल वही पक्ष या उसके किसी पक्ष का वह अंश ही सामने रखा जा रहा है जो 'वाद' के प्रभाव से कहिए या पलायन की वृत्ति से कहिए प्रकृत न रहकर विकृत हो गया था। इसका तात्पर्य यह नहीं कि रहस्यवाद की सारी रचनाएँ किसी काम की नहीं थीं या उनका कोई जीवनगत मूल्य ही नहीं था। फिर उन रचनाओं के संबंध में एक बात और कह देनी आवश्यक है। रहस्यवाद काव्य की वास्तविक धारा के रूप में भारत में या भारतीय काव्य-परंपरा में वस्तुतः अनावश्यक था। भले ही प्रगतिवादियों ने उसे जीवन के विरुद्ध कहकर उसे त्यागा हो, पर उसमें वस्तुतः काव्य की धारा के रूप में भारतीय काव्य-परंपरा के बीच प्रवाहित होने की शक्ति नहीं थी। फैशन के रूप में रहस्य-धारणा इतने दिनों तक प्रवाहित होती रही और उससे काव्य का बहुत कुछ भांडार भी भरा, पर वह भारत के काव्य-प्रवाह में मिलनेवाली प्रणाली नहीं थी। उसमें पाई जानेवाली विशेषताओं के कारण यद्यपि भारतीय काव्य के सच्चे रूप को भली भाँति समझनेवाले आचार्यों या समीक्षकों ने भी उसे स्वीकृत कर लिया, पर वह यहाँ की प्रकृत काव्य-धारा कभी न हुई थी और न होने की संभावना थी। हिंदी-साहित्य का इतिहास जाननेवाले इस बात से अवगत होंगे कि रहस्यवाद केवल आधुनिक काल में ही हिंदी में नहीं आया, पहले भी आ चुका है, पर वह शुद्ध काव्य-धारा में उस समय भी नहीं मिल सका था। सूफियों का विदेशी रहस्यवाद एक ओर तो कबीर आदि संतों द्वारा पद्य-रचना में सांप्रदायिक रूप लेकर हिंदी में प्रविष्ट हुआ और दूसरी ओर प्रेम-गाथा लिखनेवाले सूफी कवियों द्वारा प्रबंध-काव्यों में मिलाया गया। यद्यपि सूफी कवियों में भी वह सांप्रदायिक ही था, पर उनमें काव्य-तत्त्व की पहचान निर्गुनिये संतों की अपेक्षा अधिक थी, अतः उन्होंने प्रेम-कथाओं के सहारे इस रहस्यवाद को सामने किया। अव्यक्त सत्ता या अलौकिक धारणा को व्यक्त सत्ता या लौकिक जीवन के भीतर दिखाने का प्रयत्न किया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इनका प्रभाव कबीर आदि संतों से अधिक परिमाण में और अधिक विस्तृत क्षेत्र पर पड़ा। फिर भी इस अव्यक्त सत्ता का

राग अलापनेवालों को भारतीय काव्य-धारा ने ऐसा छिपाया कि रीतिकाल का अंत होते न होते उस धारा का भी लोप हो गया। भारतीय काव्य-परंपरा और जीवन के सच्चे रूप को जाननेवाले कवियों ने कृष्ण का वह व्यक्त रूप सामने किया जिसमें सूफी-भावनागत अव्यक्त सत्ता का रहस्यवाद छिप गया। सूफी रहस्यवाद के प्रभाव से भले ही कृष्णोपासक-संप्रदाय में रहस्योपासना का प्रसार हुआ हो पर हिंदी-काव्य की प्रकृत धारा में वह कृष्णभक्ति के प्रकट रूप में ही जा मिला। घनआनंद की रचना में सूफी रहस्यवाद दिखाई पड़ता है, पर कृष्ण-भक्तिभावना में लिपटा हुआ। अव्यक्त सत्ता का व्यक्त सत्ता में लोप हो गया है। रसखानि, आलम आदि ने भी ब्रह्म-प्रेम के सिद्धांत की बातें कही हैं, पर जब प्रेमगान करने की आवश्यकता हुई तब उन्होंने वृंदावन में क्रीड़ा करता हुआ श्रीकृष्ण का बाल्य या यौवन ही सामने रखा, 'शून्य महल' में 'सेज' नहीं बिछाई। तात्पर्य यह कि भारतीय जीवन और साथ ही साहित्य ब्रह्म की गोचर सत्ता अवतारवाद के रूप में पहले ही, बहुत प्राचीन काल से स्वीकृत कर चुका था, अतः रहस्य के लिए यहाँ गुंजाइश ही नहीं थी। दूसरे शब्दों में कहें तो यों कहेंगे कि रहस्यवाद के नाम पर जो रहस्य खोले जाते हैं उनमें कोई नवीन रहस्य सामने नहीं लाया जाता, नए नए रूपकों, प्रतीकों या आवरणों द्वारा वे ही बातें कही जाती हैं जो यहाँ के तत्त्वदर्शी या कवि पहले ही कह चुके हैं। 'वेद' और 'कतेब' की बात करनेवालों को झूठा कहकर कबीर आदि संत जैसे 'वेद' और 'कतेब' की ही बातों को उलटवासियों या निर्गुन-बानियों में कथते रहे वैसे ही रहस्यवादी भी। अतः सच पूछिए तो रहस्यवाद की स्वीकृति की आवश्यकता ही नहीं थी। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि रहस्यवाद की जीवन और काव्य-परंपरा से विच्छिन्नता ने यह आवश्यकता उत्पन्न कर दी थी कि साहित्य फिर वास्तविक जीवन से जुड़े। जो 'निवृत्ति' और 'प्रवृत्ति' नामों को रखकर भारत को 'निवृत्ति' की ओर जानेवाला बतलाकर रहस्यवादी या छायावादी कविता को उत्कृष्ट या वास्तविक कविता कहना चाहते हैं, उन्हें भी यह ध्यान में रखने की आवश्यकता है कि 'निवृत्ति' लक्ष्य है और 'प्रवृत्ति' पथ। पहला साध्य है और दूसरा साधन। साध्य के लिए साधन का त्याग संभव ही नहीं है। साधन नहीं तो साध्य की प्राप्ति भी नहीं। इसलिए 'निवृत्ति' के नाम पर 'प्रवृत्ति' मार्ग का त्याग न भारतीय जीवन में हुआ, न यहाँ के तत्त्वदर्शियों ने ही बतलाया और न काव्य ने ही कथा। अतः 'निवृत्ति' के नाम पर रहस्यवाद को उत्तम या सर्वोत्कृष्ट अथवा भारतीय रूप का बोध करानेवाली काव्यधारा कैसे माना जा सकता है।

'छायावाद' के साथ केवल रहस्यवाद ही नहीं आया था, प्रतीकवाद और अभिव्यंजनावाद भी आया था। 'छायावाद' की रचना का जनता से विच्छिन्न होने का प्रमुख कारण यह भी हुआ। काव्य का बोधगम्य होना आवश्यक है। यदि यह बहुतों की समझ में ही न आए तो उनके लिए तो यह निरर्थक ही हो जाता है। भारत की हिंदीभाषी अधिकांश जनता पुरानी भाषा होने पर भी रामचरित-मानस, सूरसागर आदि को अपने गले का हार बनाए हुए है, संस्कृत से भरे 'प्रियप्रवास' को पढ़ती है, इतिवृत्तात्मक 'भारत-भारती' का भी पारायण करती है, पर छायावादी रचना से वह विमुख हुई। उसके प्रतीक और उसकी अभिव्यंजना उसकी समझ में या तो आती ही नहीं या माथा खपाने पर आती हैं। केवल संगीत या शब्द-ध्वनि पर सिर मटकाने-वालों की बात नहीं कही जा रही है, उनकी बात कही जा रही है जो काव्य का रस लेना चाहते हैं, 'वाहवाही' द्वारा जो अपने अज्ञान को छिपाना नहीं चाहते, जो हिंदी को प्यारभरी दृष्टि से देखते हैं। कबीर की उलटबासियों से जनता क्यों घबरा गई, इसी लिए न कि उन्होंने शब्दों या प्रतीकों का मनमाने या सांप्रदायिक अथवा रहस्यात्मक, गोप्य अर्थ में प्रयोग किया है। यही या ऐसी ही बात छायावाद के भीतर प्रतीकवाद और अभिव्यंजनवाद ने कच्चे कवियों में उत्पन्न कर दी। भारतीय काव्यों का अध्ययन बिना किए भारतीय काव्य-परंपरा को बिना समझे-बूझे, और जहाँ से वाद आए थे वहाँ की प्रवृत्तियों का भी विवेक बिना प्राप्त किए बहुत से कवि कहलाने का हौसला रखनेवाले अपनी टूटी वीणा लिए हिंदी-क्षेत्र में अनंत का राग अलापने लगे। उनका रोदन अरण्यरोदन, अथवा अरण्यगायन ही कह लीजिये, हुआ। अधिकांश जनता उनको न पढ़ सकी, पढ़कर न समझ सकी, समझकर उसमें रस न पा सकी। यद्यपि अपने संतोष के लिए वे यह कह लेते हैं कि कवि 'स्वांतः-सुखाय' लिखता है पर भारत में रचना 'स्वांतःसुखाय' नहीं होती रही। रस का सिद्धांत ही इसका विरोधी है। तुलसी के 'स्वांतःसुखाय' का अभिप्राय 'चित्तविश्रांति' या 'मनस्तुष्टि' है, उन्होंने केवल अपने लिए रचना नहीं की। वे तो चिल्लाकर कहते थे—

कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुरसरि-सम सब कहँ हित होई॥

इस 'अभिव्यंजना' का परिणाम यह हुआ कि भाषा में बड़ी अव्यवस्था हो गई। शब्द अपने जाने-बूझे या प्रकृत अर्थ से दूर जा पड़े। मुहावरे बदल गए। जिन मुहावरों का जिस अर्थ में प्रयोग होता था उससे भिन्न

अर्थ में उन्हीं का प्रयोग होने लगा। प्रणाली के साथ भाषा का घनिष्ठ संबंध है, वह अजनबी बन बैठी। छायावाद के समर्थ कवियों ने कोई नया प्रयोग चलाया नहीं कि 'मनोरथी' कवियों ने उसे लोका नहीं और कर चले उसका तथा उसी रंग-ढंग के बने अन्य प्रयोगों का व्यवहार। इस प्रकार काव्य सचमुच कवियों के अपने चित्त के सुख या मनोरंजन के लिए ही रह गया। जनता को रसास्वाद मिलना तो दूर, उसका मनोरंजन भी न हो सका। इस प्रकार विषय, प्रणाली और भाषा की अननुकूलता, दुरूहता और अव्यवस्था ने यह आवश्यकता उत्पन्न कर दी थी कि काव्य-रचना की दृष्टि बदले। फल-स्वरूप 'प्रगतिवाद' के नाम से रचनाएँ प्रस्तुत होने लगीं, जिन्होंने कच्चे-पक्के ढंग से जीवन को सामने करने का प्रयास किया।

२

दो टाट

'प्रगतिवाद' क्यों और कैसे हिंदी-साहित्य में सामने आया, इस पर तो विचार हो चुका, पर प्रगतिवाद का ठीक ठीक रूप जानने के लिए यह समझ लेना भी आवश्यक है कि उसमें दो टाट हैं या थे। एक टाटवाले जीवन की वह समस्या सामने लाते हैं जिसका संबंध व्यावहारिक या यों कहिए कि शारीरिक स्थिति से है। खाने, कपड़े तथा जीवनयापन की कठिनाइयों को सामने करके जीवनगत आर्थिक वैषम्य की रूपरेखा खींचने के प्रयास में वे लगे दिखाई देते हैं। इसे हम जीवन का बाह्य पक्ष ही मानते हैं। जीवन के आभ्यंतर पक्ष पर भी प्रगतिवादियों की दृष्टि गई है, यह प्रसन्नता की बात है। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि जीवन में प्रेम का बहुत बड़ा महत्त्व है। यदि प्रेम न हो तो जीवन में प्रवाह न आए। संसार के सभी साहित्यों की रचनाएँ उलट-पलट जाइए। उनमें प्रेम सदा किसी न किसी रूप में वर्तमान मिलेगा। अन्य साहित्यों की बात जाने दीजिए, हिंदी-साहित्य को ही उठा लीजिए। जिसे वीरगाथा-काल कहते हैं उसमें शुद्ध उत्साह की रचनाएँ होती रही हों ऐसा नहीं है। युद्ध उन ग्रंथों में कार्य रूप में प्रदर्शित है। कवियों ने उसका कारण प्रेम को निर्दिष्ट किया है। ये युद्ध क्यों होते थे, प्रेम के कारण, शत्रुता के कारण नहीं। शत्रुता तो प्रेम के लिए मोल ली जाती थी। किसी राजा की रूपवती कन्या का पता चला, बस लड़ाई ठन गई—कन्या दो या युद्ध करो। होमर की रचनाओं के लिए कहा जाता है कि उनमें प्रेम और युद्ध है। हिंदी के वीरगाथा-काल की कृतियों में भी प्रेम और युद्ध ही है। आगे चलिए तो भक्तिकाल में वीरगाथाओं के भीतर छिपी प्रेम की यह धारा लौकिक आलंबन छोड़कर अलौकिक आलंबन की ओर उन्मुख हो गई। रीतिकाल या शृंगार-काल में अलौकिक आलंबन तो भक्तिकालवाला ही बना रहा, पर प्रेम फिर लौकिक हो गया। आधुनिक काल में प्रेम के लौकिक रूप ने फिर पलटा खाया, वह अलौकिक अर्थात् उदात्त रूप की ओर बढ़ा। नायक-नायिकाओं के शृंगार से पीछा छुड़ाकर प्रेम कहीं देशभक्ति के रूप में, कहीं प्रकृति-राग के रूप में और कहीं असीम के प्रणय के रूप में व्यक्त हुआ। प्रगतिवादियों का प्रेम फिर से लौकिक होने जा रहा है, तो इसे ऐतिहासिक

प्रतिवर्तन मानने में कोई हानि नहीं है। पर इस प्रेम के स्वरूप पर विचार करने के पहले यह भी देख लेना चाहिए कि इसकी आवश्यकता क्यों पड़ी।

बात यह थी कि सुधारवादी आंदोलनों के कारण हिंदी-साहित्य में प्रेमचर्चा की रोक-थाम होने लगी थी। शृंगार-काल के शृंगार को लोगों ने 'भ्रष्ट' और 'अश्लील' न जाने क्या क्या कहना आरंभ किया। भारतेंदु-युग तक तो उसका प्रवाह कुछ उदात्त और परिष्कृत रूप में प्रवाहित होता रहा, पर द्विवेदी-युग में उसके व्यापक परिष्कार की आकांक्षा दिखाई पड़ी। फल यह हुआ कि शृंगारकाल के कृष्ण-प्रेम का रूप ही बदल दिया गया। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय का 'प्रियप्रवास' इसका ज्वलंत उदाहरण है जिसमें श्रीकृष्ण महापुरुष के रूप में चित्रित किए गए और उन पर से वासनात्मक प्रेम का वह आवरण जो शृंगारकाल में चढ़ा माना गया था—उतार फेंका गया। गोपियों और विशेषतया राधा से उनका जो प्रेम इसमें प्रदर्शित किया गया वह पूर्णतया मर्यादावादी है। इतना सब होते हुए भी 'हरिऔध' जी के इस प्रबंध-काव्य में अपनी परंपरा का निर्वाह अवश्य है, भले ही उसका परिष्कार हो गया हो। पर कुछ लोग इस परंपरा में भी बँधना नहीं चाहते थे। उन्होंने स्वच्छंदता ग्रहण की। इन स्वच्छंदतावादियों में श्रीधर पाठक और रामनरेश त्रिपाठी का नाम लिया जाता है और ठीक लिया जाता है। एकांतवासी योगी, पथिक, मिलन में प्रेम के मर्यादावादी रूपों की पूरी झलक है, यद्यपि परंपरा की शृंखला तोड़ डाली गई है। द्विवेदी-युग की मर्यादावादी प्रवृत्ति प्रेम का उदात्त रूप ही सहन कर सकती थी। फल यह हुआ कि प्रेम के प्रति स्वच्छंद (या अनुदात्त कहिए) रूप की वासना खुल खेलने का मैदान माँग रही थी। पद्य के क्षेत्र में तो वह अपना पद आगे न बढ़ा सकी, पवित्र प्रेम की अधिकतर खंडकाव्य के भीतर अभिव्यक्ति करके या रहस्यवाद की अलौकिक प्रणयमयी मुक्तक-रचना से संतोष करके वह वासना तृप्त हो गई। बात कही जाती थी, पर मर्यादा का बाँध तोड़कर नहीं। किंतु गद्य के क्षेत्र में उसे फैलने का मैदान यथार्थवाद या तथ्यवाद की आड़ में बेखटके मिल गया।

गद्य में प्रेमचंद जी द्विवेदी-युग के पक्के प्रतिनिधि थे। उन्होंने मर्यादावाद का ध्यान सबसे अधिक रखा है, प्रेम का अश्लील या अपवित्र कहा जानेवाला हलका छींटा भी उन्होंने नहीं पड़ने दिया। 'सेवासदन' की सुमन वेश्या का रूप धारण करके भी, काजल की कोठरी से बेदाग निकल आई है। 'शतरंज के खिलाड़ी' कहानी में इसका अवसर आया तो 'किसी विशेष कारण से' कहकर जान बचा ली गई। इसलिए उनका रूप पूर्ण और सच्चा

मर्यादावादी है, इसमें कोई संदेह नहीं। पर उसी समय अँगरेजी कहानियों, उपन्यासों, नाटकों और बँगला के उपन्यासों, नाटकों, कहानियों आदि में मस्ती के साथ यथार्थवाद चला आ रहा था, भला इस मस्ती के आगे आदर्शवाद कब तक टिका रहता। फल यह हुआ कि गद्य में इसे आसन जमाने का अवसर मिल गया। देख लीजिए, 'प्रसाद' के नाटकों में आदर्श प्रेम से कंधा भिड़ाकर 'लोभ' वाला प्रेम भी खड़ा है। यहाँ भी वह कुछ न कुछ मर्यादा का रूप बनाए ही रहा। पर पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', ऋषभचरण जैन, चतुरसेन शास्त्री आदि की तथ्यवादिनी रचनाएँ बाढ़ की भाँति फैलने लगीं। इन्हें भाँति-भाँति के नाम देकर इनकी भर्त्सना, कुत्सा भरपेट की गई, पर इनका वेग न रुका। जब तक बाढ़ का पानी उतर नहीं गया, इन्होंने साहित्य-क्षेत्र को बहुत दूर तक, बहुत दिनों तक भी, ढके रखा। इनको भारतीय समीक्षा की दृष्टि से कुछ लोगों ने सामान्य जनता में बड़ी ललक से पढ़ी जानेवाली किस्सा-कहानियों का साहित्यिक रूप मात्र कहा। इसलिए इस क्षेत्र में आनेवालों ने भय से कहिए या मोरचा लेने के उत्साह से कहिए इस काम-वृत्ति के लिए वैज्ञानिक आधार-भूमि का अनुसंधान करने की सोची। अंत में उन्हें पश्चिम के मनोवैज्ञानिक 'फ्रायड' का सहारा 'डूबते को तिनके का सहारा' मिल गया। अब यथार्थवाद के साथ मनोविज्ञान का शास्त्रोक्त पक्ष भी जोड़ा जाने लगा है। कहीं मनोवैज्ञानिक (साइकोलाजिकल) और कहीं मनोविश्लेषणात्मक (साइकोअनलिटिकल) रूप में तथ्य का बड़े अभिमान के साथ चित्रण और विश्लेषण होता है। बड़े दंभ के साथ कहा जाता है कि नारी की शारीरिक कामवृत्ति संतानोत्पत्ति से शांत हो जाती है, पर मानस कामवृत्ति इतने से ही शांत नहीं हो सकती। फ्रायड के मनोविश्लेषण की मीमांसा और कामवृत्ति के विस्तृत विवेचन में फँसने की आवश्यकता यहाँ नहीं। यहाँ तो केवल प्रगतिवादियों के इस दल के उठ खड़े होने का संक्षिप्त इतिहास भर देना था।

इस प्रकार यह बड़े मजे में कहा जा सकता है कि शृंगारकाल में पद्य के क्षेत्र में जिस प्रकार नायक-नायिका-भेद (राधाकृष्ण की आरोपित भक्ति) का शास्त्रीय पक्ष सामने करके पुराने कवि लौकिक प्रेम की विस्तार के साथ निर्भयतापूर्वक झाँकियाँ कराया करते थे उसी प्रकार मनोविज्ञान का विदेशी शास्त्रीय पक्ष सामने करके वर्तमान काल में नवीन लेखक लौकिक प्रेम की उछल-कूद दिखाना चाहते हैं। यदि कोई कहना चाहे तो कह सकता है कि जब हम पहले को त्याज्य नहीं मानते तो दूसरे को भी त्याज्य नहीं कह सकते।

यह दूसरी बात है कि हम विश्लेषण करके इस तथ्य का अन्वेषण करें कि इसकी सीमा कहाँ तक जा सकती है। कामवृत्ति की यह प्रेरणा विदेशी शासन के कंधे पर चढ़कर चल रही थी। इस अंध-पंगु-न्याय की मीमांसा स्वतंत्र भारत में व्यर्थ हो गई है। यहाँ तो यही कहना है कि प्रगतिवाद का पहला पक्ष शारीरिक या श्रमिक है, तो दूसरा मानसिक या कामुक। 'कामुक' शब्द शुद्ध 'काम' से बना समझा जाय, जैसे 'भाव' से 'भावुक'। यदि 'ठक' प्रत्यय से सिद्ध हो तो क्या संस्कृत में जैसे 'भाव' से 'भावक' और 'भाविक' बनते हैं, वैसे ही हिंदी में काम से 'कामक' या 'कामिक' बनाएँ ? पर संस्कृत-व्याकरण निषेध करता है और अँगरेजी जाननेवालों को 'कामिक' सचमुच हास्यास्पद लगेगा। इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया होगा कि 'प्रगतिवाद' का यह पक्ष भी हिंदी में प्रतिवर्तन (रीऐक्शन) के कारण ही खड़ा हुआ।

३

मानवता

ॐ सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै,

तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।

संसार में जो मंगल है वह स्थिर है, ऐसा नहीं माना जा सकता। 'मंगल' निरंतर गतिमान् है। इसी गत्वर मंगल का अधिष्ठान सत्साहित्य के भीतर हुआ करता है, जिससे जगत् का वास्तविक कल्याण होता है। प्रगतिशील आंदोलन चल पड़ने से नवयुवकों का ध्यान इस वास्तविकता की ओर आकृष्ट हुआ है, पर साथ ही यह कह देना आवश्यक है कि प्रगतिवाद ने संप्रति जो रूप धारण किया है, उसमें लोकानंदविधायक 'शिव' का वह संपूर्ण रूप नहीं आ सका है जो हृदय के प्रकृत विस्तार का पूरा परिचय देता हो। प्रगतिवादी दृष्टि के संमुख समाज के शोषक और शोषित ही आते हैं। पर हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि केवल शोषक और शोषित की दो श्रेणियाँ बना देने से ही साहित्य का काम नहीं चल सकता। ऐसा करने पर एक पक्ष छूटा जा रहा है। यह पक्ष है उस मानव या मानव-समूह का जो पीड़ित की पीड़ा का नाश किया करता है। इस पक्ष के छूट जाने से सच पूछिए तो साहित्य की लक्ष्य-पूर्ति में बहुत बड़ी कमी रह जाती है। साहित्य का वास्तविक लक्ष्य है हृदय का परिष्कार। इस परिष्कृति का भली भाँति दिग्दर्शन कराना, बिना उस तीसरे पक्ष को सामने लाए असंभव सा है। इसकी ओर से आँख मूँद लेने से काम नहीं चल सकता। संभव है इस दृष्टि-विस्तार में कोई राजनीतिक मत बाधक होता हो। यदि ऐसा हो तो राजनीति को अपने ढंग से विचार करने का अवसर देकर और उसका पथ छोड़कर आप साहित्य-क्षेत्र की उस संपूर्ण जीवन-व्यापिनी विस्तृत भूमि पर आइए जिसमें हृदय की नाना आवश्यकताओं का संचार होता है। ऐसा करने पर ही लोक के बीच मंगल के अधिष्ठान का व्रत आप पूर्ण कर सकेंगे। प्रगतिवाद पर कई दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। स्थूल रूप से ये दृष्टियाँ ऐतिहासिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और साहित्यिक हो सकती हैं।

हमारे वर्तमान साहित्य का जो स्वरूप दिखाई दे रहा था, उसे दृष्टि-पथ

में रखने से प्रगतिवादी आंदोलन का सूत्रपात ऐतिहासिक आवश्यकता प्रतीत होता है। इधर के हिंदी-साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण बात छूट गई थी। वह इस चेतना के जागरण से विरत हो रहा था कि मनुष्य का मनुष्य के प्रति क्या कर्तव्य होना चाहिए। इसी कमी की पूर्ति के लिए प्रगतिवाद की अवतारणा हुई। अतः आवश्यकता इस बात की है कि हमारे साहित्य की यह नवीन धारा मानव के प्रति मानव के कर्तव्य की अनुभूति पाठक के हृदय में जगाकर उसे लोकमंगल की साधना में प्रवृत्त करे। हिंदी का पुराना इतिहास देखिए तो 'वीरगाथाकाल' का साहित्य उत्साह और वीरत्व की भावना का संचार कर कर्मठ तो बनाना चाहता है, पर सामाजिक कर्तव्यशीलता की वह पूर्ण भावना उसमें नहीं दिखाई देती जो लोक के सभी व्यक्तियों का ध्यान रखते हुए चलती है। इस प्रकार की सर्व-कल्याणकारी भावना के विस्तार का अवकाश भक्ति-काल में मिला, पर उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति उस समय भी नहीं हो सकी। कारण यह है कि उस समय के अधिकांश कवि सौंदर्य का गत्यात्मक स्वरूप लेकर नहीं चले। भगवान् की अनंतसौंदर्यमयी निरंतर प्रफुल्ल मूर्ति ही उनके समक्ष अधिक रही जो लोकरंजन मात्र कर सकती थी। परमात्मा की सुखमा में ही वे अधिक मग्न हुए। हाँ, तुलसी एक ऐसे महाकवि उस काल में अवश्य आए जिन्होंने भगवान् की कला का प्रकाश अनेक कठिनाइयों और विपत्तियों के अंधकार के बीच किया। उनके राम दैत्यों का नाश कर लोक की अनेक विघ्न-बाधाओं को मिटाते हुए उसके बीच मंगल की प्रतिष्ठा करते दिखाई देते हैं। रूप-सौंदर्य और कर्म-सौंदर्य का ऐसा अद्भुत समन्वय अन्यत्र दुर्लभ है। तुलसी के राम राजा की-पिता की-आज्ञा शिरोधार्य कर वनवास भी स्वीकार करनेवाले हैं। ग्रामवासियों के बीच पहुँचकर मानव से मानव की प्रकृत एकता का आभास भी देनेवाले हैं। वन की जंगली जातियों तक से मैत्री भाव रखनेवाले हैं—वे दिव्य सौंदर्य के लोकरंजनकारी और अदम्य कर्मठता के लोकमंगलविधायक रूपों की समन्वित मूर्ति हैं। पर इस प्रकार की गत्यात्मक मंगल मूर्ति का अवस्थान भक्तिकाल की सामान्य विशेषता नहीं रही। आधुनिक काल के अंतर्गत भारतेंदु में इस प्रकार की प्रवृत्ति का आभास पुनः मिला, जिसका थोड़ा परिष्कार द्विवेदी-युग में हुआ। इसके अधिक विकास की अपेक्षा थी। पर द्विवेदी-युग के समाप्त होते ही 'छायावाद' की लहर आई जिसमें एक प्रकार से लोकमंगल की यह भावना डूब गई।

जगत् के बीच विधाता के व्यक्त प्रसार की ओर से कवियों की दृष्टि जब हट गई तो सामाजिकता की भावना भला कहाँ रहती। व्यक्त प्रसार का तात्पर्य

व्यक्तिरूप जीवन नहीं वरन् प्रकृति और समाज का वह समष्टि स्वरूप है जो हृदय के भीतर विराट् की अनुभूति जगाता है। धर्म इसी विराट् स्वरूप का उपदेश करता हुआ ज्ञान का दान देता है, पर साहित्य, सर्वभूतस्थित इस विराट् की अनुभूति हृदय में उत्पन्न करता है। इसी से मानव के प्रति मानव के कर्तव्य की भावना मन में उदित होती है। मनुष्य के प्रति मनुष्य के कर्तव्य की भावना को उद्बुद्ध और विकसित करना ही प्रगतिवाद का लक्ष्य होना चाहिए।

लोकमंगल की प्रतिष्ठा के लिए यह आवश्यक है कि समाज के वैषम्य का नाश किया जाय। संप्रति समाज के भीतर जो प्रत्यक्ष वैषम्य है, वह आर्थिक है। इसे तो वे भी मानते हैं जो समाजवादी नहीं हैं। पर इसका कारण है उस साधन का निर्माण जिसने विनिमय के लिए वाहन या साधन का कार्य किया है। वह साधन है मुद्रा, व्यक्ति जिसके संचय से अमीर और अनुपलब्धि से गरीब बनता है। यदि यह साधन हटा दिया जाय तो यह वैषम्य बहुत कुछ ठीक हो सकता है। पर इस बीसवीं शती में इस विचार की व्यावहारिक परिणति कठिन है। प्रगतिवाद जिसका सहारा पाकर चलना चाहता है, उस रूस ने मुद्रा का व्यवहार तो जारी रखा है, पर उसकी व्यवस्था दूसरे ढंग से की है। वितरण का कार्य राष्ट्र के हाथ में हो। अपने समाज की प्रकृति के अनुकूल हमारे यहाँ भी कोई इस प्रकार की अपनी आर्थिक व्यवस्था स्थापित करने का उपक्रम हो तो वैषम्य कदाचित् थोड़ा-बहुत दूर हो सके। इधर समाज के संघटन ने भी कुछ ऐसे साधन अवश्य एकत्र कर दिए हैं, जिनके कारण वैषम्य उत्पन्न हो गया है। उसे दूर करने के लिए हमें मनुष्य की उन उदात्त वृत्तियों को जागरित करना होगा जो मानव में पारस्परिक समानुभूति का प्रसार करती हैं। हमें इसके लिए प्रेम का ही नहीं, करुणा का वह संदेश भी देना होगा, जिसका आदर्श वाल्मीकि और बुद्ध ने हमारे सामने रखा है।

हमारे नवयुवक साहित्यिकों को इस बात का विचार करना चाहिए कि हमारे राष्ट्र की चेतना कैसी हो। इस दृष्टि से हमें द्विवेदी-युग से आगे बढ़ना होगा। द्विवेदी-युग की राष्ट्रीय चेतना एकदेशीय थी। हमारी राष्ट्रीय चेतना का आधार 'वसुधैव कुटुंबकम्' होना चाहिए। इस भाव की सच्ची व्याप्ति तभी होगी, जब हम अपने साथ ही दूसरों का भी बराबर ध्यान रखें। राष्ट्रीय चेतना कोई नई बात नहीं है। इसका ध्यान हमारे पूर्वज बराबर रखते आए हैं।

पर उनके संमुख भारत ही नहीं संपूर्ण वसुधा भी थी। जरा सोचिए तो सही कि उनका हृदय कितना विशाल रहा होगा, जिनकी वाणी से वेद और उपनिषद् के अमर संदेश निःसृत हुए थे। हमें अपने उन पूर्वजों का

गर्व होना चाहिए जिनका हृदय विश्व-हृदय के साथ तादात्म्य का अनुभव किया करता था। इस समय उसी व्यापक राष्ट्रीय चेतना के प्रसार की आवश्यकता है। कुछ प्रगतिवादियों को इस प्रवृत्ति की ओर झुकते देख प्रसन्नता होती है। पर इस भावना का निरंतर 'विकास' होना चाहिए। किसी राजनीतिक भावना में बँधे रहना साहित्य का काम नहीं।

संतोष की बात है कि भयंकर नैराश्य और विलक्षण व्यक्ति-वैचित्र्यवाद की लहर अब लुप्त हो गई है। शुद्ध व्यक्तिवादी साहित्य का निर्माण बहुत कुछ उठ चुका है, क्योंकि किसी उच्चकोटि की परंपरावाले तथा शुद्ध सामाजिक भावना से पूर्ण वाङ्मय में वह बहुत दिनों तक टिक नहीं सकता। व्यक्तिवैचित्र्यवाद की यह आँधी विदेश से, पश्चिम से ही आई। इसका बड़ा अनिष्टकारी प्रभाव हमारे साहित्य पर पड़ा, जिससे उसकी प्रकृत गति कुछ समय के लिए अवरुद्ध हो गई। पर ऐसा मत समझ बैठिए कि हमारे साहित्य पर विदेशी प्रभाव कभी पड़ा ही नहीं। रीतिबद्ध कवियों की बात तो छोड़िए, हिंदी के समर्थ कवि घनआनंद आदि तक इससे नहीं छूट सके हैं। पर जरा यह तो देखिए कि कैसी सफाई के साथ विदेशी प्रवृत्ति को अपने में पचाकर उसे कैसी स्वाभाविक पद्धति पर उन्होंने अपनाया है। विदेशी प्रवृत्तियों का ग्रहण अपनी प्रकृति के बिलकुल अनुरूप अपने ढंग से ही होना चाहिए इसे बिहारी, घनआनंद आदि हमें सिखा गए हैं। अपने नवीन कवियों से यह बात और भी जोर देकर कहनी है।

अंत में एक बात और कहनी है। हमें केवल बुद्धिवादी साहित्य नहीं, वरन् हृदयवादी साहित्य चाहिए। क्योंकि यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि साहित्य का कार्य अनुभव कराना है, ज्ञान कराना दूसरे शास्त्रों का कार्य है। साहित्य हृदय के परिष्कार के द्वारा ही समाज का कल्याण करता है। अतः हमें ऐसे ही साहित्य की आवश्यकता है जो मार्मिक भावों की उद्भावना द्वारा हमारे हृदय में नाना भावों का संचार करे। इसके लिए आवश्यक है कि साहित्यकार जनता के वास्तविक जीवन के भीतर पैठकर उसका परिचय प्राप्त करे, जनता के समीप पहुँचे, गाँवों में जाय, किसानों के जीवन का निरीक्षण करे, श्रमिकों के बीच जाय और उनके हर्ष-विषाद सुख-दुःख को निकट से देखे और समझे तभी वह जन-मानस को अपनी रसीली रचना से तृप्त कर सकेगा, जिससे देश और जाति का उद्धार होगा। केवल फैशन के लिए प्रगतिवाद को अपनाना भूल होगी। साहित्य की रचना का उद्देश्य गंभीर है। उसका प्रयोग भी गंभीरतापूर्वक होना चाहिए। समाज के वास्तविक कल्याण और नवीन परिष्कृत हृदय की स्थापना के लिए प्रगतिशील आंदोलन की आवश्यकता है, यह विश्वास कर कार्य करने से ही लोक-मंगल के लक्ष्य की पूर्ति हो सकती है।

४

रसभूमि

रसभूमि लौकिक भूमि ही है, अलौकिक भूमि नहीं। रसभूमि को अलौकिक भूमि मानने से बहुत अधिक वाग्विसर्ग के अनंतर उसकी अलौकिकता सिद्ध होती है। लोकभूमि पर स्थित काव्यपुरुष के पौरुष या कवितारमणी की रमणीयता में अलौकिकता के दर्शन करना भी हृदय का उद्गार है, बुद्धि का निश्चयात्मक व्यापार नहीं। इस अलौकिकता से काव्य के प्रकृत विश्लेषण का मार्गावरोध तो होता ही है, स्वयं कविता भी स्वर्ग की अप्सरा बनने लगती है, कभी कभी विदेशी परी तक। अतः वाङ्मय के शास्त्र और काव्य दोनों पक्षों के हितार्थ रस को लोकभूमि मानना ही उचित है। स्वयं उन लोगों ने भी काव्यव्यापार को लौकिक मानदंड से ही नापा है जो उसकी अलौकिकता की घोषणा करते आ रहे हैं। भारत के शास्त्रीय आलोचकों की बात कही जा रही है, पश्चिम के उन व्यक्तिवादी कला-प्रेमियों की नहीं जो काव्य की समीक्षा के नाम पर भी वस्तुतः काव्य करने के अभिलाषी हैं।

प्रगतिशील कर्ताओं का दावा है कि हम जो काव्य प्रस्तुत कर रहे हैं वह लोकभूमि पर प्रतिष्ठित है, हम अलौकिक विश्व में विहार करनेवाले, जीवन से पलायित कवि नहीं हैं। बहुत ठीक। पर जीवन की विस्तृत भूमि में से जो भूमिखंड आपने अपनी क्रीड़ा के लिए चुना है क्या वह रसभूमि की व्याप्ति का भी प्रमाण देनेवाला है। यदि उसमें व्याप्ति का प्रमाण प्रस्तुत करनेवाली यह रसभूमि नहीं है तो भारतीय दृष्टि से उसकी सीमा बहुत छोटी माननी पड़ेगी। हृदय तो इसे मानने के लिए संनद्ध नहीं होता कि जो पश्चिम में हो वही पूर्व में भी हो; जो उत्तर में हो वही दक्षिण में भी हो। जो रूस में हो वही भारत में भी हो। अनिवार्यता सिद्ध किए बिना केवल यह घोषणा करना ठीक नहीं कि हमें जीवन का आदर्श बदलना है, 'साहित्य' उसमें सहायता दे, हमें पुरानी रूढ़ियाँ तोड़नी हैं, साहित्य 'हथौड़ा बने, कुल्हाड़ी बने, कुल्हाड़ी चलाए, कविबुद्धि फावड़ा लेकर पुराना खेत खोदे, भावुक सहृदय लाल झंडा लिए साम्यवाद या समाजवाद का प्रचार करता फिरे।' कम से कम इसे काव्य या साहित्य की अनिवार्य या पूर्ण भूमि कहना बुद्धिगम्य तो है ही नहीं, हृदयसुलभ भी नहीं है। इसका प्रमाण चाहते हों

तो यह इस बात की छानबीन से मिल जायगा कि रसभूमि का समावेश ऐसी रचनाओं में कितना हो सका है। यदि प्रगतिवादी रचना सचमुच लोकभूमि पर ही खड़ी होना चाहती है तो उसे आँख मूँदकर किसी का अनुगमन करने के बदले आँख खोलकर अपना मार्ग निर्दिष्ट करना होगा।

भारतीय रसभूमि किस प्रकार लोकभूमि होने का प्रमाण उपस्थित करती है इसके लिए देखना होगा उसके अंतर्गत स्वीकृत भावभूमि का रंगस्थल, उसमें पहुँचे हृदय का वह निर्विशेषत्व जो जाति, वर्ग, वर्ण, संप्रदाय आदि के भेदों का त्याग किए हुए अथवा इन विशेषों से तटस्थ होकर अभेद की पताका फहरा रहा है। प्रेम, हास, आश्चर्य, उत्साह, शोक, क्रोध, भय, घृणा, शांति, भक्ति, श्रद्धा, वात्सल्य आदि भावों में भेद का वैषम्य नहीं, अभेद का साम्य है। इस साम्य के बिना साहित्य में साम्यवाद कैसा। इस सामाजिकता के बिना 'समाजियों' के हेतु समाजवाद कैसा। मनोवेग के इस निदर्शन के बिना काव्य में प्रगति कैसी। 'पूँजीपति तेरा नाश हो, ऐ कंकालों का रक्त चूसनेवाले, तेरे ये प्रासाद नष्ट हो जायँ। अथवा ओ मजदूर, तू उबल पड़, तू रुद्र का तांडव कर, तेरी गर्जना से सातवें खंड में बैठे अर्थपिशाचों की स्थूल काया भूमि पर लुंठित होने लगेगी, उनका ब्रह्मांड चकनाचूर हो जायगा' आदि मुख में शाप है और हृदय में रोष। केवल दुर्वासा बनने से उनके जीवन में क्या प्रगति आ सकती है जो श्रम की गति के विचार से अधिक चलने के अभ्यासी हैं। यही क्यों जो जीवन आप सामने ला रहे हैं वह क्या केवल करुणा का पात्र है, क्या वह उत्साह का भांडार नहीं बन सकता, प्रेम की वीथिका में नहीं टहल सकता, वात्सल्य की छाया में विश्राम नहीं कर सकता। पर इधर इन नए कर्ताओं की दृष्टि नहीं जा रही है। हाँ, पुराने कवियों की मंडली से इसमें निर्वाचित प्रशस्त हृदय श्रीसुमित्रानंदन की पविदृष्टि अवश्य अपनी व्याप्ति का आभास देती है जो इनकी करुणा का ही नहीं इनके जीवन के हर्ष, सारल्य, दृढ़ता, विनोद, वात्सल्य आदि के कई पक्ष बड़ी ही मार्मिक शैली से सामने लाती है। और कहीं से नहीं तो प्रगतिवादियों को उन्हीं की गतिविधि से कुछ समझने बूझने और अपने पथ के निर्दिष्ट करने में कुछ सहायता लेनी चाहिए।

सोचिए तो सही कि यदि दलित-वर्ग का जीवन इतना खोखला हो गया है जितना आप कहकर कान में नहीं, छाती में मुक्के मारकर, कबुलवाना चाहते हैं तो वह चल कैसे रहा है। वास्तविकता यह है कि उनका हृदय नहीं मरा है, वे जीते हैं, हर्ष और उल्लास लिए हुए जीते हैं। धनिकों की मार, समाज की उपेक्षा की चोट उन्हें लगती है अवश्य, पर उन्होंने अपनी मनुष्यता नहीं खो दी है।

उनके स्त्री-बच्चे हैं वे उन्हें चाहते हैं, दुलराते हैं। वे समाज में जहाँ वास्तविक महत्ता के दर्शन करते हैं हृदय के टोंकते ही नतमस्तक होते हैं। उनका जीवन ऐसा विकृत या पतित नहीं है जिसकी सूचना दे देकर कवि उन्हें पागल बना देने को बावले होते रहते हैं। यदि उनके जीवन से साहित्य को संलग्न करने की दीक्षा रूस ने दी है तो साहित्य में उनका सारा जीवन तो लाइए, अधूरे से कब तक काम चलेगा। उनके जीवन के उल्लास की भी वृद्धि कीजिए, जिससे वे समाज में मनुष्यता की उत्तरोत्तर परिष्कृत भूमि पर चलने के अभ्यासी बनें। इसके लिए रसभूमि की व्यापक वीथिकाएँ पड़ी हैं, बड़े आनंद से आप स्वयं इनमें चल सकते हैं, उन्हें चला सकते हैं और साथ ही उनके इन सब चित्रों के धक्के से क्रूर हृदय का बंद कपाट खोल सकते हैं, उस क्रूर या कलुषित हृदय का कपाट जो उनके लिए कभी खुला ही नहीं, जो खुलकर बंद हुआ उसके खुलने में तो देर ही न लगेगी। किवाड़ खोलने के स्थान पर उसमें आग लगा देना, क्रांति करने पर तुलना 'साहित्य' का काम नहीं। साहित्य हृदय के किवाड़ बाहर से नहीं तोड़ता, भीतर से आप से आप खुलवाता है; वह भीतर आग लगाता है, वहाँ क्रांति करता है। इसमें जहाँ बुद्धिप्रसूत कड़वे राजनियम विफल हो जाते हैं वहीं साहित्य की हृदयसंपृक्त मधुरिमा आप से आप खींच लेती है। वह हृदयरोग पर रामबाण का काम करती है—अचूक। पर वह हृदय से संपृक्त हो तभी, उसमें मन की मिश्री घुली हो तभी, बुद्धि का दूषीविष भाव को जगा या जिला नहीं सकता, उसे मार भले डाले। 'रस' की प्रकृत मनोगति ही अमृत है, भरुहाई हुई कृत्रिम प्रगति विष की घूँटी है।

अंत में यह भी कह दूँ कि रूस की अनुकृति पर सोच समझकर अपने काव्य की 'गति' को 'प्रगति' में परिणत करना चाहिए। रूस के साहित्य की उतनी पुरानी परंपरा नहीं है, उसके लोकजीवन की उतनी पुरानी संस्कृति नहीं है, उसके समाज में वह विविधता नहीं रही है। समाज की जिस समता का अनुराग वह दिखला रहा है वह प्राकृतिक और सामाजिक नियमों के विपरीत है। काव्य के आधुनिक युग की जिस रंगभूमि में प्रगतिवादी कविता अपने गीत गाना चाहती है उसकी अंतःपटी ऐसी शून्य नहीं है, इतनी खाली भी नहीं है कि उसकी उपेक्षा करके नए परदे, बेमेल परदे, केवल रक्तवर्णवाले हथौड़े और फावड़े के ही परदे लटकाए जायँ। उसमें देश की विभूति के दृश्य अंकित हैं, उसमें प्रकृति की रंगबिरंगी छटा चित्रित है, उसमें इतिहास के अतीत जीवनखंड की झाँकियाँ हैं, उसमें विश्वात्मा की काल्पनिक, सजीव तथा सगुण मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं, उसमें अर्थवैषम्य से विदलित प्राणियों के कंकाल अवस्थित हैं, उसमें जीवन के हर्षोल्लास

की प्राप्ति का मार्गनिर्दिष्ट है, उसमें करुणा के आँसू प्रवाहित हैं, उसमें क्रोध का भैरवनाद है, उसमे आश्चर्य का विवृत मुखमंडल है, उसमे घृणा की सिकुड़ी नासिका है, उसमे भय का सिमटा शरीर है—उसमें क्या नहीं है !

इन सब नेपथ्यों (परदों) में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि कहीं 'सांप्रदायिकता' की कूँची नहीं फिरी है, कहीं भेदभाव की लीपा-पोती नहीं है, कहीं विदेशी शृंखला की चकतियाँ नहीं लगाई गई हैं। केवल अभिनंदन है उन विदेशी प्रेरणाओं का, जिनकी अपने यहाँ अपेक्षा हो सकती थी। रहस्यवाद से तात्पर्य है, जिसके लिए भारतीय काव्य-परंपरा 'विधि' नहीं 'निषेध' का सिर हिलाती है। पर यदि उसका ग्रहण हुआ तो उससे अपने साहित्य की कोई विशेष हानि नहीं हुई, वह यहाँ आकर आप से आप उसी अनंत में विलीन हो रहा है, जिसकी पुकार करता वह आया था। वह जाते जाते हिंदी को बहुत कुछ न सही, थोड़ी बहुत शक्ति अवश्य दे गया। वाणी की शक्ति, अभिव्यजना की शक्ति, प्रयोगों की शक्ति वह लुयता गया है। पर जिस भूमि पर प्रगतिवादी रचना खड़ी हो रही है उस पर इतनी साज-सज्जा कदाचित् एकत्र न हो सकेगी। इसी से कहता हूँ कि यदि प्रगतिवाद काव्यक्षेत्र मे कोई विलायती बीज बोना चाहता है तो उसे यह भी विचारना होगा कि वह बीज यहाँ के जलवायु म पनपगा या नहीं, यदि पनप भी आया तो उसके क्षुप हरे भरे रह सकेंगे या नहीं, यदि हरे भरे हो भी गए तो उनमें दाने भी पड़ेंगे या नहीं। समष्टि में यह कि खेती में कुछ काटने को भी रह जायगा या फावड़ा चलाना ही हाथ रहेगा।

प्रकृत विषय पर आइए। प्रगतिवाद जिस छोर पर खड़ा हो रहा है, वह मुख्यतः श्रमिकों का छोटा सा कोना है। भाई, उनकी हृदयविदारक दशा सहृदयों को अवश्य व्यथित करती है। औरों की राम जाने, साहित्यिक तो निश्चय ही हृदय में आसन जमाने के लिए उनका अभिनंदन करता है। पर विचारिए तो आपकी हाट मे उन श्रमिकों के कारुणिक जीवन के ही चित्र कितने लटकाए गए हैं। आप तो अधिकतर हुंकार करते हैं। आपके देश के सनातन आदर्श काल के अनेक धक्के खाकर भी अभी जीवित हैं। कितनी ही संस्कृतियाँ कब्र म गड़ गईं, पर अज्ञात काल से समय समय पर अपना रूप सँवारती चली आती आपकी भारत की संस्कृति अभी जी रही है, चिरकाल तक जीती रहेगी। सोचिए वह कौन सा तत्त्व है जिसके कारण भारत का प्राण उसकी संस्कृति अभी जी रही है, दासता में भी जीती रही, दरिद्रता म भी बनी रही। साहित्य कहेगा कि वह तत्त्व है 'हृदय', वह हृदय जो बुद्धि से सहयोग करके चलता है, वह हृदय जो रस की उच्च लोकभूमि पर, व्यक्ति के कज्ञागादी टीले पर नहीं, ले जाता है।

उसमें विविधता है, अनेकता है और सबमें से बहनेवाली समता की धारा है, सबको गूँथनेवाला एकता का सूत्र भी है। उसका साम्य अनेकत्व में एकत्व की स्थापना करता है। प्रकृत विविधता का गला घोंटकर वह कृत्रिम साम्य को जीने की घूँटी नहीं पिलाता। सोचिए कि रूस के बुद्धिजीवी और हृदयजीवी साम्य का डंका पिटते ही वहाँ से क्यों भाग खड़े हुए। आपको इसका भी विचार करना होगा कि क्या रूस में ऐसा ही कोने पर खड़ा होनेवाला प्रगतिवाद है। भारत अभी इतना आत्मविस्मृत नहीं हो गया है कि हथौड़े की चोट से जगाया जाय। साहित्य और संस्कृति के नाते पश्चिमवाले घूमते-फिरते बहते-बहाते भारतीय रसधारा के निकट आ रहे हैं, और कहाँ यहाँवाले जीवन के खंड-खंड करके अखंड कला की सृष्टि कर रहे हैं। खंड जीवन की पुकार, अखंड जीवन की आकांक्षा बतलाई जा रही है। अतः निवेदन है कि ठंढे चित्त से सोच-विचार कर अपने प्रगतिवाद का अंचल पसारिए। शाप या रोष संचारी भाव मात्र हैं, क्रोध स्थायी नहीं, रौद्र रस नहीं, अन्य रसों की क्या कथा। इसलिए जीवन के सुख-दुःख की व्याप्ति का राजपथ ग्रहण कीजिए, 'प्रगति' की यह सँकरी पगडंडी त्यागिए।

५

स्वरूप-भेद

छायावादी युग में अभिव्यंजना मात्र को ही सब कुछ माननेवालों पर विदेशी साहित्य की अभिव्यंजना का प्रभाव था फिर भी एक साहित्य-क्षेत्र का दूसरे साहित्य-क्षेत्र पर पड़ा प्रभाव सजातीय होने से विशेष अनिष्टकारक नहीं होता। कुछ बातें बेमेल पड़ती हैं, कुछ वस्तुस्थिति के विपरीत होती हैं, पर बहुत सी ऐसी रहती हैं जो साहित्य में उपादेय कही जा सकती हैं। नूतनता के प्रवाह में कभी कोई ऐसी प्रवृत्ति प्रधान हो जाती है जिसमें लाघव होता है, चमत्कार होता है, भले ही वह पहले क्वचित् ही दिखाई देती रही हो। जैसे वर्तमान हिंदी-काव्य में लाक्षणिकता अँगरेजी भाषा के प्रभाव से अत्यधिक बढ़ी, विरोधाभास की शैली के संकेत का आतिशय्य हुआ। यद्यपि ये पद्धतियाँ काव्य-जगत् में थोड़ी बहुत पहले भी थीं, पर व्यापक रूप में नहीं। इधर विदेशी प्रेरणा से पद्य गद्य दोनों में उनका व्यवहार बढ़ा। नराकार-कल्पना के अति प्रचार से लाघव भी हुआ। अभिव्यंजना अपनी 'अति' के कारण अवश्य वर्जन की वस्तु जान पड़ी, पर वह अपेक्षित थी। 'अति' से अनेक रचनाएँ सबके लिए बोधगम्य नहीं रह गईं। उनकी विशिष्ट पदावली सार्वजनीन नहीं थी। भारतीय परंपरा के कवियों ने भी सीमोल्लंघन किया था, पर एक ढंग से। इससे उनकी कृतियों के समझने में बहुतों को कठिनाई नहीं होती थी। थोड़ा वे श्रमसाध्य भर हो गई थीं। ऐसे कवियों ने अपना स्वर बदला। वे छायावादी युग में शैली का विशिष्ट विधान करके भी वस्तु का त्याग नहीं कर सके थे। पर व्यक्तिवादिनी अभिरुचि गहरी न होने से उन्होंने या उनकी परंपरा में पड़नेवालों ने लोक को प्रधान रूप दिया। वे लोकभूमि पर दिखाई पड़े। केवल उनकी कथन-शैली में ही व्यक्तिगत भेदकता के चिह्न रह गए। काव्य-वस्तु उन सबमें लौकिक हो रही छायावादी युग के पूर्व जैसी लौकिक वर्ण्य-भूमि थी वैसी ही इनकी हुई, पर विकसित और व्यापक दृष्टि लेकर। इनमें जो कहीं कहीं रहस्यात्मक प्रवृत्ति जगी थी, उसका इन्होंने त्याग कर दिया। ये अव्यक्त ब्रह्म के स्थान पर व्यक्त ब्रह्म के ही उपासक रह गए। अमूर्त के स्थान पर मूर्त की ही पूजा करने लगे। पर साहित्य का वह साँचा इन्होंने नहीं त्यागा जिसमें हृदयों को समेटने की शक्ति थी। इन्होंने व्यक्तिवादी स्वार्थ का त्याग किया और परमार्थ का संग्रह। ये सच्चे जन-प्रेमी थे।

छायावादी युग में हुए अभिव्यंजना के अतिरेक से एक वर्ग में प्रतिवर्तन हुआ। यहाँ शुद्ध वस्तुमात्र का ग्रहण होने लगा। कारण यह था कि जीवन में कुछ लोग रूसी साम्यवाद या समाजवाद का प्रसार करना चाहते थे। बस, इन्होंने भी साम्यवाद के चारणों का काम उठाया। विदेशी समाजवाद साहित्य की स्वतंत्र सत्ता नहीं स्वीकार करता। जिस साहित्य-रचना का हमारे जीवन के कार्यकलापों से सीधा और प्रत्यक्ष संबंध न हो वह किसी काम की नहीं। प्रत्येक श्रमिक के जीवन के विविध क्षेत्रों के अनुरूप उमंगवर्द्धिनी वृत्ति ही वस्तुतः साहित्य है। वही काव्य काव्य है जो किसी की श्रम-साधना में उत्तेजक हो। संपूर्ण जीवन की व्यापक भावधारा के स्थान पर श्रम के विशिष्ट स्वरूपों के अनुरूप ही विविध प्रकार की वृत्तियों का महत्त्व माना गया। अतः जीवन के विच्छेद के आधार पर ही इनका मूल्य भी आँका गया। शोषक और शोषित वर्ग में से शोषित वर्ग ही कवि की रचना का लक्ष्य हो गया। कवि भी शोषित के पक्ष-समर्थन में काव्य-भंगिमा से ही विद्रोहात्मक सर्जना से वर्गभेद उभाड़ने में लगा। चाहें तो उन्हीं के शब्दों में कहें कि 'क्रांतिकारी सृष्टि होने लगी'। भारतीय काव्य-परंपरा में काव्य का लक्ष्य निर्विशेष आनंद की अभिव्यक्ति था। पर विदेशी साम्यवाद या समाजवादी प्रेरणा से यह वर्ग प्रायः विक्षोभ से भरा सामने आया। ये कृतियाँ वादग्रस्त हो गईं। जीवन में आर्थिक वैषम्य है, अनेकों को पेट भर अन्न नहीं मिलता, तन पर कपड़े नहीं हैं, जीवन में बहुतों को बाल-बच्चों के भरण-पोषण में विशेष कष्ट उठाना पड़ता है। जीवन का यही वर्तमान रूप चित्रित करना उनका लक्ष्य हुआ। इनकी दृष्टि में पिछले युग की सारी या अधिकांश सृष्टि सामंतवादिनी थी। राम, कृष्ण, शिवा, प्रताप आदि उच्चवर्ग के थे, उनकी प्रशस्ति जनवाणी नहीं कही जा सकती। प्राचीन काव्य पुराणपंथी है, शोषकों का समर्थक, शोषितों का उपेक्षक। इस कवि-वर्ग ने जन-जीवन की वाणी का ग्रहण क्यों किया, इसी का यह समाधान है। पर उनके कार्यों और कृतियों के मानने से ही यह स्पष्ट है कि उनकी सर्जना भावप्रेरित न होकर बुद्धि-बोधित है।

विदेश से रहस्यवाद की प्रेरणा पहले भी आई थी। सूफियों का रहस्यवाद यहाँ आया, पर वह पंथों में ही सिमटकर रह गया। शुद्ध काव्य के क्षेत्र में उसका ग्रहण एक तो हुआ ही नहीं और हुआ भी तो सगुण काव्यधारा में वह डूब गया। छायावादी युग में भारतीय परंपरा के उद्बोधक कवि में रहस्य की प्रवृत्ति कभी कभी ही होती थी और वह सगुण-मार्गी पुराने भक्तों से मिलती जुलती हुआ करती थी। इसलिए वह जगत् के मेल में ही थी। लोक की सहज वृत्ति के अनुरूप थी। अतः प्रगतिवादी ढंग की जो शाखा इन कवियों की फूटी

उसने रहस्यात्मकता का त्याग इसलिए कर दिया कि उन्हें सब जग 'सियाराम मय' जान पड़ा। ये संन्यास-मार्ग के बदले कर्ममार्ग के पथिक थे। ये समझते थे कि

निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन न जानहि कोइ

—'मानस' (उत्तरकांड)

इस नाना-रूपात्मक जगत् के विराट् रूप के दर्शन ही कठिन हैं, निर्गुण का अनुमान तो सरल ही है। इसीसे थोड़ी बहुत बची खुची रहस्यात्मकता का भी इन्होंने त्याग कर दिया। यह त्याग इसलिए नहीं किया गया था कि रहस्यात्मक कविता करने से हमें रोटी नहीं मिलती अतः इसे लिखकर हम व्यर्थ समय क्यों खोएँ। भारतीय काव्य-धारा में रहस्यवाद की पृथक् प्रवृत्ति अपेक्षित ही नहीं है इसलिए व्यर्थ उसकी एक प्रणाली निकालकर बहने या बहाने की अपेक्षा उसे उसी में अंतर्लीन कर लेना उचित है। इसीसे इनमे आर्त लोगों के प्रति जो करुणा उदित हुई वह प्रकृतिस्थ थी। ये सच्चे भक्तों की ही भाँति 'कामये दुःख-तप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्' के लिए विशेष गतिमान् हुए।

दूसरी ओर जीवन का चरम लक्ष्य यदि उदरपरायणता ही नहीं तो भरण-पोषण तो माना ही जाता है। इनकी दृष्टि में न तो ईश्वर कुछ है और न विश्वात्मा। यह सही है कि सामाजिक स्वरूप दोषपूर्ण हो गया है, पर आचरण, त्याग आदि को तिलांजलि देने की सलाह कची बुद्धिवालों को देना साहित्य का काम तो नहीं है और किसी विद्या का हो तो हो। साहित्य का कार्य जीवन के सर्वात्म-भाव की दृष्टि से उच्च विचार जगाना भी है। वह अपनी रंजकता और रसात्मकता के द्वारा पहले मन को अपने अधीन करता है फिर उस पर अच्छा या बुरा प्रभाव डालता है, वह समाज में कल्याण की सृष्टि करनेवाला है। वह 'शिववादी' है। वह कामनाओं को परिष्कृत करके काम को भस्म करके 'रसायन' प्रस्तुत करनेवाला है। इसीसे वह स्वार्थ के स्थान पर परमार्थ की ओर ले जाने-वाला है। पर राजनीतिक क्षेत्र मे एक स्वार्थ की दूसरे 'स्वार्थ' से ऐसी भिड़ंत होने लगी कि जीवन का सारा समन्वय संघर्ष मे खो गया। जीवन के परस्पर विरोधी विधानों मे स्वार्थ की वृत्ति को दबाने की मनःस्थिति उत्पन्न करके साहित्य विशेष लोकोपयोगी बन जाता है। स्वार्थ या अहंता का जब तक शमन न होगा, अहंभाव जब तक विश्वात्म-भाव में लीन न होगा तब तक लोक का समुचित चालन भी नहीं हो सकता। केवल स्वार्थबुद्धि को उभाड़ते रहने से पशुता की वृद्धि तो हो सकती है, पशुपतित्व (शिवत्व) नहीं आ सकता। जड़ता की जड़ गहराई तक जा सकती है, चैतन्य की चोटी दिखाई भी नहीं पड़ सकती, उस पर पहुँचना तो दूर की बात है। साहित्य इससे प्रत्येक मन को सम रखना चाहता

है, वह साम्य ही की ओर ले जाता है, समरसता में सानता है। मनोजगत् की विषमता दूर करना उसका काम है। जब तक मनोजगत् की विषमता दूर नहीं होती तब तक दृश्य जगत् की विषमता भी दूर नहीं हो सकती। 'स्वार्थ' का पाठ पढ़ने या सुनने से स्वार्थियों की ही सृष्टि हो सकती है, यही हो रहा है। भारतीय काव्यधारा के कवियों ने भारतीयता का ग्रहण उसकी उत्कृष्टता के कारण कर रखा है, शुद्ध भावुकता-वश नहीं। पर उदरपरायणता का पाठ पढ़ानेवाले रूसी प्रभावापन्न प्रगतिवादी भारतीयता का विरोध इस हेतु कर रहे हैं कि उसके मान लेने से 'स्वार्थ' की सिद्धि नहीं हो पाती।

यही कारण है कि प्रथम वर्ग के कवियों में वस्तु और 'शैली' दोनों का समन्वय है। छाया-रहस्य युग में उन्होंने वस्तु को कुछ गौण कर रखा था इतिवृत्तात्मकता हटाने के लिए, एक शैली को अपेक्षाकृत प्रधान बना दिया था चित्रमयता लाने के लिए, तो अब इन्होंने फिर वस्तु को प्रमुख बना रखा है विशेष जीवनोपयोगिता के कारण और काव्य की सरलता के नाते, शैली की प्रभावुकता का भी त्याग नहीं किया है। हाँ, उसे गौण अवश्य कर रखा है। किंतु द्वितीय वर्ग के कवि केवल वस्तु पर दृष्टि रखनेवाले हैं। शैली का एक प्रकार से उन्होंने त्याग ही कर दिया है। इनकी कृतियाँ रूखी-सूखी होने लगी हैं। किसी रचना को काव्य का रूप प्राप्त करने के लिए शैली की सरसता अपेक्षित है। काव्य की रंजकता या सरसता के बिना दूसरे वर्ग के कवियों की कृति वह प्रभाव भी उत्पन्न नहीं कर पाती जिसके लिये उसकी सृष्टि होती है। 'प्रभाव' के बिना केवल वस्तु 'भाव' से कृति व्यर्थ चली जाती है चाहे वह अच्छी वृत्ति जगाने वाली हो चाहे बुरी। प्रभावुकता और प्रभविष्णुता के बिना काव्य की रमणीयता कैसी। इसलिए इन प्रच्छन्न बौद्धों की कृति काव्य ही नहीं रह जाती। किंतु अनेक वस्तुओं में स्वतः ऐसा आकर्षण होता है, उनके प्रति दीर्घकाल के अभ्यास के कारण कुछ वस्तुओं के नाम और उल्लेख मात्र में हृदय को खींचने की शक्ति रहती है, ये ऐसे ही पदार्थों का संग्रह करते फिरते हैं। 'अलमतिविस्तरेण' के स्मरण के साथ ही हम कहना यह चाहते हैं कि प्रगतिवादी कवियों में दो वर्ग हैं। एक तो पूर्ववर्ती भारतीय कवियों की परंपरा के 'प्रगतिशील' कवि, दूसरे रूसी साम्यवाद या अर्थवाद के अनुवर्ती 'प्रगतिकामी' कवि। पहले वर्ग के कवियों का विकास स्वाभाविक, अपेक्षित और अभिनंदनीय है पर दूसरे वर्ग के कर्ताओं का उद्भव अस्वाभाविक, अनपेक्षित और अनभिनंदनीय। किसी साहित्य का दूसरे साहित्य पर पड़ा प्रभाव सजातीय होने से अनुकूल होने पर भी निगर्हणीय नहीं हो सकता, पर साहित्य पर किसी विजातीय क्षेत्र का प्रभाव

अनुकूल होने पर भी ग्राह्य नहीं होता, प्रतिकूल होने पर तो किसी प्रकार नहीं। साहित्य प्रचार का साधन बनाया तो जा सकता है, पर ऐसी स्थिति में वह साहित्य रह जायगा इसी में संदेह है। साहित्य साधन ही है, पर उसका साध्य बाहर नहीं भीतर है। अंतर्जगत् की साधना ही साहित्य की साधना है। जब तक साहित्य उसका प्रबंध नहीं कर लेता बहिर्जगत् की सच्ची उपकारिता उसमें आ ही नहीं सकती। साहित्य जीवन से संबद्ध है अवश्य, पर भीतर से, बाहर से नहीं। जो इसे नहीं समझते वे साहित्य नहीं समझते। वे 'वाद' को समझते हैं, पर साहित्य को खाक नहीं समझते।

प्रबंध-कविता—कुरुक्षेत्र

'कुरुक्षेत्र' बिहार के सुकवि श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' की 'प्रबंध-कविता' है और 'उदयाचल' (पटना) से प्रकाशित हुई है। पर इसमें प्रबंधात्मकता कितनी है इसे स्वयं कवि के मुँह से ही सुन लीजिए—"मुझे जो कुछ कहना था, वह युधिष्ठिर और भीष्म का प्रसंग उठाए बिना भी कहा जा सकता था, किंतु, तब यह रचना, शायद, प्रबंध के रूप में नहीं उतरकर मुक्तक बनकर रह गई होती। तो भी यह सच है कि इसे प्रबंध के रूप में लाने की मेरी कोई निश्चित योजना नहीं थी। यही नहीं, इस 'प्रबंध कविता' में 'व्यास' और 'महाभारत' का भी 'बंध' नहीं है 'कुरुक्षेत्र' की रचना भगवान व्यास के अनुकरण पर नहीं हुई है और न महाभारत को दुहराना ही मेरा उद्देश्य था।" जो भी हो, जिन्हें शास्त्र का विशेष आग्रह हो वे इसे 'खंड-काव्य' कह सकते हैं। क्योंकि 'एक देशानुसारि तत्' कहलाता ही है वह, महाकाव्य के आदर्श पर निर्मित होने से।

'कुरुक्षेत्र' नाम प्रसंगप्राप्त होते हुए भी, प्रतीकात्मक है। जैसे 'महाभारत' युद्ध-महायुद्ध का प्रतीक हो गया वैसे ही 'कुरुक्षेत्र' भी। वस्तुतः 'कुरुक्षेत्र' युद्ध की मीमांसा है। लेखक ने कहा भी है—" 'कलिंग-विजय' नामक कविता लिखते लिखते मुझे ऐसा लगा, मानो, युद्ध की समस्या मनुष्य की सारी समस्याओं की जड़ हो। इसी क्रम से द्वापर की ओर देखते हुए मैंने युधिष्ठिर को देखा, जो 'विजय' इस छोटे से शब्द को कुरुक्षेत्र में बिछी हुई लाशों से तोल रहे थे। किंतु, यहाँ भीष्म के धर्म-कथन में प्रश्न का दूसरा पक्ष भी विद्यमान था। आत्मा का संग्राम आत्मा से और देह का संग्राम देह से जीता जाता है।"

'निवेदन' से उद्धृत कथनांशों से स्पष्ट है कि ग्रंथ का निर्माण प्रबंध की रचनात्मकता को लक्ष्य करके नहीं हुआ है, वस्तुतः युद्ध की 'साहित्य-दर्शन' की दृष्टि से मीमांसा ही उसका लक्ष्य है और युद्ध की यह मीमांसा उसके शाश्वत या नित्य स्वरूप को लक्ष्य करके की गई है। 'युद्ध एक निंदित और क्रूर कर्म है किंतु इसका दायित्व किस पर होना चाहिए।' युद्ध का पाप करनेवाला कौन—

पापी कौन मनुज से उसका न्याय चुरानेवाला।
या कि न्याय खोजते विघ्न का सीस उड़ानेवाला।

'पांडवों को निर्वासित करके एक प्रकार की शांति की रचना तो दुर्योधन ने भी की थी, तो क्या युधिष्ठिर महाराज को इस शांति का भंग नहीं करना चाहिए था।' 'ये ही कुछ मोटी बातें हैं जिन पर सोचते सोचते यह काव्य पूरा हो गया।'

अब ग्रंथ के परिचय पर आइए। इसमें सात सर्ग हैं। युद्धारंभ में जैसा व्यामोह या 'विरक्ति' अर्जुन को हुई थी और जिसका समाधान स्वयं लीला-पुरुषोत्तम को करना पड़ा था उसी प्रकार की 'विरक्ति' या 'निर्वेद' युधिष्ठिर को युद्धांत में हुआ। इसका समाधान देवव्रत भीष्म पितामह ने किया। प्रथम सर्ग में युधिष्ठिर का निर्वेद वर्णित है। इसके अनंतर भीष्म पितामह उनका प्रबोध करते हैं, दृष्टांतों से युद्ध का रहस्य समझाते हैं। युधिष्ठिर के निर्वेद का मूल है—

चाहता लड़ना नहीं समुदाय है,
फैलती लपटें विषैली व्यक्तियों की साँस से।
× × × ×
पाँच ही असहिष्णु नर के द्वेष से
हो गया संहार सारे देश का।

धर्मराज युधिष्ठिर इस झगड़े में क्यों पड़ गए—

उलट दी मति मेरी भीम की गदा ने
और पार्थ के शरासन ने अपनी कृपाण ने।
और जब अर्जुन को मोह हुआ रण बीच
बुझती शिखा में दिया घृत भगवान् ने।

उन्हें संशय होता है कि यह नीतिविरुद्ध क्यों है—

ध्वंसजन्य सुख साश्रु दुःख शांतिजन्य
ज्ञात नहीं कौन बात नीति के विरुद्ध है।
जानता नहीं मैं कुरुक्षेत्र में खिला है पुण्य
या महान् पाप यहाँ फूटा बन युद्ध है।

पाप-पुण्य, नीति-अनीति, धर्म-अधर्म के निर्णय की जिज्ञासा युधिष्ठिर का पक्ष है, वे व्यक्तिवादी हैं, उनकी वृत्ति अंतर्मुख है। इनके समाधान का पक्ष भीष्म पितामह का विचार-विमर्श है। वे लोकवादी हैं, उनकी वृत्ति बहिर्मुख है। युधिष्ठिर साधुमत के पक्षपाती हैं, वे त्याग, तपस्या, करुणा, क्षमा, अहिंसा को

ही जीवन का वास्तविक उच्च स्वरूप मानते हैं, उसे पुण्य, धर्म, नीति समझते हैं। युद्ध को व्यक्तिगत स्वार्थ का परिणाम मानकर किसी रूप में ग्राह्य नहीं समझ पाते। भीष्म पितामह लोकमत के पक्ष से अनीति-विरोधी युद्ध का समर्थन करते हैं, उसे धर्म, पुण्य बतलाते हैं, युधिष्ठिर की जिज्ञासा का उन्होंने स्पष्ट उत्तर दिया—

तप्त होता क्षुद्र अंतर्व्योम पहले व्यक्ति का।
और तब उठता धधक समुदाय का आकाश भी।

× × × ×

युद्ध में मारे हुओं के सामने थे नहीं।
उद्देश्य केवल पाँच के सुख दुःख ही।

रहे धर्माधर्म और पाप-पुण्य। इसके लिए स्पष्ट उत्तर यह है कि

है बहुत देखा सुना मैंने मगर
भेद खुल पाया न धर्माधर्म का,
आज तक ऐसा कि रेखा खींचकर,
बाँट दूँ मैं पुण्य को औ पाप को।

× × × ×

छीनता हो स्वत्व कोई, और तू
त्याग तप से काम ले, यह पाप है।
पुण्य है विछिन्न कर देना उसे
बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ हो।

वास्तविकता यह है कि साधुमत या व्यक्तिधर्म तथा लोकमत या समष्टिधर्म की दृष्टियाँ भिन्न भिन्न होती हैं—

व्यक्ति का है धर्म तप, करुणा, क्षमा,
व्यक्ति की शोभा विनय भी त्याग भी।
किंतु उठता प्रश्न जब समुदाय का
भूलना पड़ता हमें तप त्याग को।

बात यह है कि जगत्प्रपंच का निर्माण 'गुण-दोषमय' है। ये गुण और दोष, सत् और असत्, अच्छे और बुरे यदि पृथक् पृथक् होते तो प्रपंच की समस्या सरलता से सुलझ जाती, क्षीर-नीर की भाँति उभय पक्ष एक दूसरे में संयुक्त हैं, ओत-प्रोत या अनुस्यूत हैं, उन्हें विवेक से ही पृथक् किया जा सकता है। दूसरी बात यह भी है कि जगत्-प्रपंच में असत् पक्ष का ही प्राधान्य भी है और उस असत् पक्ष का निराकरण तप-त्याग के मनोबल से यदि असंभव नहीं तो समय-

साध्य अवश्य है। प्रकृति इतना समय कहाँ देती है कि मनोबल से सारी सृष्टि का सुधार कर दिया जाय—

तप का परंतु वस चलता नहीं सदैव
पतित-समूह की कुवृत्तियों के सामने।

और

हिंसा का आघात तपस्या ने कब कहाँ सहा है।
देवों का दल सदा दानवों से हारता रहा है।

× × × ×

क्योंकि युधिष्ठिर एक, सुयोधक अगणित अभी यहाँ हैं।

इसलिए निश्चित है कि

चुराता न्याय जो, रण को बुलाता भी वही है।
युधिष्ठिर स्वत्व की अन्वेषणा पातक नहीं है।

× × × ×

महाभारत नहीं था द्वंद्व केवल दो घरों का,
अनल का पुंज था इसमें भरा अगणित नरों का।

दूसरे तीसरे सर्गों में इन्हीं सिद्धांतों का विस्तृत विवेचन है। चौथे सर्ग में क्षात्रधर्म का स्वरूप समझाया गया है और भीष्म ने अपने 'द्विविध' रूप की सफाई दी है

धर्म, स्नेह दोनों प्यारे थे, बड़ा कठिन निर्णय था।
अतः एक को देह, दूसरे को दे दिया हृदय था।

× × × ×

सच है, था चाहता पांडवों का हित मैं सन्मन से,
पर, दुर्योधन के हाथों में बिका हुआ था तन से।

× × × ×

बुद्धि शासिका थी जीवन की, अनुचर मात्र हृदय था।
मुझसे कुछ खुलकर कहने में, लगता उसको भय था।

पंचम सर्ग में युधिष्ठिर की ग्लानि का फिर से वर्णन है। भगवान् ने गीता में युद्ध की संहार-लीला को 'अनघ' कहा है। युधिष्ठिर के सामने प्रश्न है

सोचे कि एक नर की हत्या यदि अघ है,
तब वध अनेक का कैसे कृत्य अनघ है।

वे कहते हैं—

कुछ के अपमान के साथ पितामह,
विश्व-विनाशक युद्ध को तोलिए।

छठे सर्ग में कवि वर्तमान युग के संवर्धित तेज और ज्ञान के साथ उसके कर्म की तुलना करके दोनों के असमन्वय का हेतु खोजता है। कवि विकासवादी है। वह कहता है—

पूर्व युग सा आज का जीवन नहीं लाचार,
आ चुका है दूर द्वापर से बहुत संसार।
× × × ×
यह प्रगति निस्सीम नर का यह अपूर्व विकास।
चरण-तल भूगोल मुट्ठी में निखिल आकाश।

फिर भी

अपहरण शोषण वही कुत्सित वही अभियान,
खोजना चढ़ दूसरों के भस्म पर उत्थान।

इसका हेतु यही है कि

किंतु है बढ़ता गया मस्तिष्क ही निःशेष,
छूटकर पीछे गया है रह हृदय का देश।

मूल कारण यह है कि मनुष्य ने जो विकास किया, अपने लिए सुख और समृद्धि के जो साधन निकाले उनकी पहुँच शरीर और बुद्धि तक ही अधिकतर हो सकी, हृदय का समुचित अंश उसमें नहीं है। विकसित मानव पशु-पक्षियों, सरीसृपों से, हिंस्र जीवों से अपने त्राण का मार्ग बहुत कुछ निकाल चुका। प्राकृतिक उपद्रवों की शांति और संहार की सामग्री और उपचार भी उसने अधिकांश प्राप्त कर लिए, पर अभी एक व्यक्ति को दूसरे के भय से, एक जाति को दूसरी जाति के भय से, एक देश को दूसरे देश के भय से बचानेवाला मार्ग वह भली भाँति क्या, बिलकुल नहीं निकाल सका है। इसका वास्तविक कारण यही है कि उसके मस्तिष्क और बुद्धि का विकास या शोथ पीलपाँव की भाँति हो गया है और हृदय का उतना विकास नहीं हो सका। वह उस बच्चे की भाँति जान पड़ता है जिसका माथा तो तरबूजे की भाँति हो और शरीर रामतरोई की तरह। मनुष्य का यह विकास कैसे हो, कौन करे। यही प्रश्न बहुत से महात्माओं के सामने रहा है। पर यदि अत्युक्ति न मानी जाय तो कहना पड़ेगा कि साहित्य की स्वतंत्र समृद्धि ही इसका मार्ग निकाल सकती है। भारत ही यह देन दे सकता है, जिसने हृदय के विस्तार और औदार्य का अभ्यास बहुत दिनों से किया-

कराया है और जिसको जीवन की आदिम असभ्यावस्था छोड़े बहुत दिन हो चुके हैं। जिस साम्य की पुकार चारों ओर से मची हुई है उसका विधान भारत कर चुका है, उसे नए आधुनिक रूप में लानेवाले सहृदय मनीषी की आवश्यकता है। कुरुक्षेत्र का कवि भी जगत् का त्राण 'साम्य' के विधान में देखता है, उसी से नवविश्व का निर्माण हो सकेगा—

श्रेय होगा मनुज का समताविधायक ज्ञान,
स्नेह-सिंचित न्याय पर नवविश्व का निर्माण।

× × ×

साम्य की वह रश्मि स्निग्ध, उदार,
कब खिलेगी, कब खिलेगी विश्व में भगवान्।

प्रश्न उठता है कि यह 'साम्य' क्या रूसी साम्य है। वस्तुतः रूसी साम्य एकांगदर्शी दिखाई देता है, वह बाहर बाहर देखनेवाला है, भीतर के साम्य का उसने कोई उपाय नहीं सोचा है। क्रांति से यही हो सकता है कि पददलित और शोषित त्राण पा जायँ, पर वे भी पददलक और शोषक न हो जायँ इसकी व्यवस्था न वर्तमान राजनीति कर पाती है और न प्रस्तावित भावी समाजनीति कर पाएगी। मानवता के त्राण और साम्य के शाश्वत नित्य रूप के दर्शन के लिए पुरुषार्थ के सम्यक् स्वरूप के संघटन की आवश्यकता है, उसके एकांगी ग्रहण से समाज का कल्याण नहीं हो सकता। वह केवल अर्थ (मार्क्स-रूस) के शोध या चिंतना से पूर्ण न होगा, चाहे अर्थ का कितना ही व्यापक, उच्च और गंभीर अर्थ क्यों न ग्रहण किया जाय। वह केवल 'काम' (फ्रायड-योरप) की तृप्ति या पूर्ति से भी संपूर्ण नहीं हो सकता चाहे 'काम' का कितना ही उदात्त, परिष्कृत और महान् तात्पर्य क्यों न निकाला जाय। उसके लिए 'धर्म' (श्रीकृष्ण-भारत) की भी आवश्यकता है और वह 'धर्म' 'कर्म' का ही, सत्कर्म का ही, निष्काम कर्म का ही स्वार्थ से रहित परार्थ और परमार्थ से युक्त कर्म का ही रूप है। संप्रति इसी धर्म का अभाव है। कर्म के न होने से पुरुषार्थ विकलांग हो रहा है। धर्म या कर्म की अभिव्यक्ति क्षात्र तेज में ही होती रही है। यही सच्चा क्षात्र तेज आज विश्व से तिरोहित हो गया है। पीड़ित या निर्बल का पक्ष लेकर संतप्त की करुणा से प्रेरित, अत्याचारी के प्रति क्रोध से संक्षुब्ध और अत्याचार के प्रशमन के लिए वीरत्व के उत्साह से संवलित खड्ग लेकर ही क्षात्र तेज विश्व का मंगल-साधन कर सकता है, वाणिज्य या 'अर्थ' के हाथ में खड्ग का जाना उसका अपमान है, उसका पतन है, विश्व के विनाश का द्वार है—

'वाणिज के हाथ की कृपाण ही अशुद्ध है।'

आज 'तुला' का दंड साधनेवाला, राजदंड लेकर सबको साध रहा है। विश्व त्रस्त है। 'अर्थ' ही 'अनर्थ' का कारण हो रहा है। शोषण, उत्पीड़न निर्दलन, प्रतिहिंसा, प्रतिशोध आदि 'अर्थ' के ही अनर्थ हैं। 'धर्म' की मध्यस्थता हटी और 'अर्थ' ने 'अनर्थ' किया, 'काम' ने बेकाम कर डाला। पुरुषार्थ के लिए चतुर्वर्ग को चाहे न लें, पर त्रिवर्ग के बिना उसकी सच्ची और परिपूर्ण अभिव्यक्ति असंभव है।

सप्तम सर्ग में कवि ने इसी कर्म की व्याख्या भीष्म के द्वारा कराई है। उसने स्पष्ट कर दिया है कि विरक्त संन्यासी से अधिक आवश्यकता लोक को रागात्मक कर्मयोगी की है। 'योगः कर्मसु कौशलम्' की बड़ी विस्तृत और ओजस्विनी व्याख्या यद्यपि कवि ने स्वतः उद्भूत तर्कणा के सहारे की है। पर यह उसके द्वारा की हुई सर्व-प्रथम व्याख्या नहीं है। मैं तो यही समझता हूँ कि 'विदेहों' की जैसी ख्याति थी उसकी सिद्धि 'दिनकर' ने अपनी इस मीमांसा द्वारा भी की है। 'देवीभागवत' में शुकदेव जी के अकाल वैराग्य की बात उठाकर कहा गया है कि अपने पिता व्यास जी को तर्क द्वारा परास्त करने के उपरांत उन्हीं के कहने से वे विदेहराज राजर्षि जनक के पास गए और उनसे तर्क करने पर विदेह ने उनकी जिज्ञासा शांत की। वहाँ वे ही बातें कही गई हैं जिनका समर्थ और सार्थक विस्तार कुरुक्षेत्र के सप्तम सर्ग में है। अंतर इतना ही है कि उसमें अकाल वैराग्य का निषेध है और इसमें वैराग्य का ही निषेध अथवा तिरस्कार वा बहिष्कार है। पर जनक ने जिस तत्त्व का प्रतिपादन किया है उसके अंतर्गत इस लोकभावना का भी समाहार हो जाता है। वे कहते हैं—

महाभूतानि सर्वत्र निःसंगः क्व भविष्यसि।
आहारार्थे सदा चिंता निश्चितः स्याः कथं मुने।
दंडाजिनकृता चिंता यथा तव वनेऽपि च।
तथैव राज्यचिंता मे चिंतमानस्य वा न वा।
सुखं स्वपिमि विप्राहं सुखं भुंजामि सर्वदा।
न बद्धोऽस्मीति बुद्ध्याहं सर्वदैव सुखी मुने।
त्वं तु दुःखी सदैवासि बद्धोहमिति शंकया।
इति शंकां परित्यज्य सुखी भव समाहितः।
देहोऽयं मम बंधोऽयं न ममेति च मुक्तता।
तथा धनं गृहं राज्यं न ममेति च निश्चयः॥

—१।१६।२०.

वस्तुतः इसी 'मम' या 'अहं' का विसर्जन आवश्यक है। बिना 'अहं' का—स्वार्थ का—विसर्जन किए सम्यक् कर्म की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। कर्म के साथ इसी मुक्ति का, इसी परार्थ या परमार्थ का योग होने से कर्म या धर्म की छटा फूटती है। यही 'पुरुषार्थ' के चतुर्वर्ग की संघटना है। एक छोर पर 'धर्म' और दूसरे छोर पर 'मुक्ति'-मोक्ष तथा बीच में 'अर्थ' और 'काम'। यदि इसकी साधना हो सके तो लोकलीन भी लोकत्यागी से उत्कृष्ट है—लोकत्यागी मरकर कैवल्य या मोक्ष या परमपद पाएगा पर लोकरागी तो जीवन्मुक्त हो रहेगा। 'विरागी' घर से—गार्हस्थ्य से—नहीं भागता वह तो जीवन से ही भागता है, वह पलायनवादी है—

धर्मराज, क्या यती भागता कभी गेह या वन से।
सदा भागता फिरता है वह एकमात्र जीवन से॥

संसार में सुख कहीं अलग किया हुआ नहीं मिलता, वह दुःख में मिला हुआ रहता है। कर्म के द्वारा कर्मठ इसी दुःख या विषाद की मलिन छाया को हटा कर सुख या आनंद की ज्योति को प्रस्फुटित और प्रकाशित होने का अवसर देता है। विरागी या संन्यासी तो पका-पकाया ही सिद्ध रूप चाहता है; साधना के कष्ट को, आग छूने के दाह को दूर से ही नमस्कार करता है, वह 'मीठा मीठा गप और कड़ा कड़वा थू' को चरितार्थ करता है—

ऊपर सब कुछ शून्य शून्य है कुछ भी नहीं गगन में।
धर्मराज, जो कुछ है, वह है मिट्टी में जीवन में॥

ग्रंथ के परिचय के साथ उसके प्रतिपाद्य की भी विवेचना कर लेने के अनंतर यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने प्राचीन इतिवृत्त का सहारा लेकर आधुनिक समस्याओं का समाधान करने का प्रयास किया है। ग्रंथ में विचारों का ही प्राधान्य है और दृष्टांतादि के द्वारा उसका बड़े ही हृदयग्राही रूप में स्थापन किया गया है। विचारों के न्यास और वाक्य-विन्यास में निगूढ़ बंध इतना अधिक है कि प्रत्येक छंद व्याख्या के विस्तार की भूमि पाकर स्वच्छंद निबंध का हेतु बन सकने की समर्थता को प्राप्त हो गया है। ऐसी कसावट 'दिनकर' ऐसे सुकवि में इस बात का प्रमाण है कि हिंदी-साहित्य में आधुनिक युग की स्वच्छंद काव्यधारा का एक प्रवाह वह भी है जो जीवन की बढ़ती हुई संकुलता के अनुरूप कठिन कविकर्म में निरत होकर साहित्य की साधना को सिद्धि तक पहुँचाने की क्षमता रखता है या रखने की योग्यता से युक्त है, केवल भूख-प्यास और लाड़-प्यार की बहिरंग भूमि पर ही उछल-कूद मचानेवाले गतिशील लोगों को थोड़ा बहुत कवि-कर्म की संवर्धमान कठिनता का भी विचार करके उसमें लगना चाहिए। अंतरंग और

बहिरंग का समन्वय किए बिना साहित्य की प्रक्रिया पूरी हो ही नहीं सकती। 'कुरुक्षेत्र' में इसका विचार रखा गया है, यह संतोष की बात है। लोकसंग्रह की ओर उन्मुख होने या करने के लिए कुछ उच्च भावभूमि, विचारभूमि और कर्मभूमि अपेक्षित होती है। तभी सच्ची प्रगति संभव है अन्यथा दुर्गति या अधोगति के सिवा कुछ हाथ नहीं लग सकता। कविता की जो 'गत' होगी वह अनिर्वचनीय होगी। 'साहित्य' की अपनी दृष्टि से भी काम लेना चाहिए। मत-वालों और वादग्रस्तों के पीछे बावले बने घूमने से साहित्य का नाश ही होगा, कुछ उसका उत्थान नहीं।

कुरुक्षेत्र के संबंध में फिर भी एक बात कहनी है। यद्यपि युधिष्ठिर का निर्वेद लेने से प्रसंग की वक्रता का न्यास ग्रंथ में अवश्य हो गया है, पर अर्जुन के मोह की निवृत्ति के अनंतर कर्म की जो यथार्थ भूमि सामने आई इसमें वैसी भूमि के लिए अवकाश न होने से साहित्य की संतुष्टि नहीं हो सकी। प्रबंध में घटनात्मक, वर्णनात्मक अवयव का तिरस्कार 'बहुपि स्वेच्छया कामं प्रकीर्ण' की रुचिवालों का फैशन हो रहा है। हम इतना ही कह सकते हैं कि यह फैशन या यह शौक अच्छा नहीं है। काव्य-रचना के ग्राहक भी कई प्रकार के होते हैं उनकी ओर दृष्टि रखने पर घटनात्मक अंश का बहिष्कार समर्थनीय नहीं दिखाई देता। यद्यपि संस्कृत के कुछ पिछले काँटे के प्रबंध-काव्यों में भी यही प्रवृत्ति रही, पर वर्णनात्मक अंश के बाहुल्य से उसका काम चलाया गया। 'कुरुक्षेत्र' में इसके लिए भी अवकाश नहीं रह गया है। फिर भी जो कुछ है नए कर्ताओं के देखते बहुत ही प्रभविष्णु है।

२

निबंध-कविता

श्री दिनकर की छह रचनाएँ देखने में आई हैं—रेणुका, हुंकार, रसवंती, द्वंद्वगीत, कुरुक्षेत्र और धूप-छाँह। इनमें से धूप-छाँह बालकों के लिए लिखी गई कविताओं का संग्रह है और 'इसमें धूप कम और छाया अधिक है'। 'अनुवाद प्रायः सर्वत्र ही स्वच्छंद हुआ है'। कुरुक्षेत्र प्रबंध-कविता है। शेष प्रकीर्ण रचनाएँ हैं; जिनमें से कुछ पद्य-निबंध हैं और कुछ मुक्तक गीत। हिंदी में मुक्तक काव्य की पुरानी प्रणाली एक प्रकार से भारतेंदु-युग में ही समाप्त हो चुकी थी। एक ही छंद में रस का भराव समाप्त सा हो गया। कवित्त-सवैया लिखनेवाले ही कभी-कभी ऐसा करते थे। भारतेंदु-युग में पद्य-निबंध लिखने का चलन भर हुआ था, द्विवेदी-युग में प्रधान धारा पद्य-निबंधों की ही रही। जो कवित्त-सवैयों में प्राचीन कैंड़े के मुक्तक लिखते भी थे उनकी भी अधिकांश रचना पद्य-निबंध के ही रूप में मिलती हैं। भारतीय परंपरा की प्रगतिवादी कविता द्विवेदी-युग का पुनरुत्थान है। इसमें उस युग के अभावों की पूर्ति भी है, वह विकसित होकर सामने आई है। यही कारण है कि 'कुरुक्षेत्र' के अतिरिक्त दिनकर की समस्त रचनाएँ पद्य-निबंध ही हैं। अब कवित्त-सवैयों की पुरानी पद्धति ही उठ गई है। दिनकर ने अपनी प्रबंध-कविता में इस प्रणाली का भी उपयोग किया है। इससे इनकी बहुविध विधान की क्षमता का पता चलता है।

'रेणुका' में संगृहीत कविताएँ तीन खंडों में विभक्त हैं—'व्योम कुंजों की परी अयि कल्पने', 'गा रही कविता युगों से मुग्ध हो' और 'फूँक दे जो प्राण में उत्तेजना'। प्रथम खंड में कल्पना का अवतार व्योम से पृथ्वी पर किया गया है और अधिकतर भारत के अतीत गौरव की गाथा गाई है। अतीत का यह अनुराग भी भारतीय परंपरा के कवियों की विशेषता है। वह नवीन गायक जो सारी परंपराओं को तोड़ने की बात कहकर भी अतीत गौरव की गाथा सुनाता चलता हो, भारतीय भावापन्न ही है, पर जो अतीत की धर्मभूमि का त्याग कर वर्तमान की केवल अर्थभूमि पर ही टिकता हो, वह अभारतीय है। अर्थ की अनर्थकारी क्रीड़ा वर्तमान को ही लेने से सामने आती है। काव्यक्षेत्र में भारतेंदु-युग से ही अतीत की छटा के दर्शन कराने का चलन हो गया था, किंतु उसमें अधिकतर

बहिरंग का समन्वय किए बिना साहित्य की प्रक्रिया पूरी हो ही नहीं सकती। 'कुरुक्षेत्र' में इसका विचार रखा गया है, यह संतोष की बात है। लोकसंग्रह की ओर उन्मुख होने या करने के लिए कुछ उच्च भावभूमि, विचारभूमि और कर्मभूमि अपेक्षित होती है। तभी सच्ची प्रगति संभव है अन्यथा दुर्गति या अधोगति के सिवा कुछ हाथ नहीं लग सकता। कविता की जो 'गत' होगी वह अनिर्वचनीय होगी। 'साहित्य' की अपनी दृष्टि से भी काम लेना चाहिए। मतवालों और वादग्रस्तों के पीछे बावले बने घूमने से साहित्य का नाश ही होगा, कुछ उसका उत्थान नहीं।

कुरुक्षेत्र के संबंध में फिर भी एक बात कहनी है। यद्यपि युधिष्ठिर का निर्वेद लेने से प्रसंग की वक्रता का न्यास ग्रंथ में अवश्य हो गया है, पर अर्जुन के मोह की निवृत्ति के अनंतर कर्म की जो यथार्थ भूमि सामने आई इसमें वैसी भूमि के लिए अवकाश न होने से साहित्य की संतुष्टि नहीं हो सकी। प्रबंध में घटनात्मक, वर्णनात्मक अवयव का तिरस्कार 'बहुपि स्वेच्छया कामं प्रकीर्णं' की रुचिवालों का फैशन हो रहा है। हम इतना ही कह सकते हैं कि यह फैशन या यह शौक अच्छा नहीं है। काव्य-रचना के ग्राहक भी कई प्रकार के होते हैं उनकी ओर दृष्टि रखने पर घटनात्मक अंश का बहिष्कार समर्थनीय नहीं दिखाई देता। यद्यपि संस्कृत के कुछ पिछले काँटे के प्रबंध-काव्यों में भी यही प्रवृत्ति रही, पर वर्णनात्मक अंश के बाहुल्य से उसका काम चलाया गया। 'कुरुक्षेत्र' में इसके लिए भी अवकाश नहीं रह गया है। फिर भी जो कुछ है नए कर्ताओं के देखते बहुत ही प्रभविष्णु है।

निबंध-कविता

श्री दिनकर की छह रचनाएँ देखने में आई हैं—रेणुका, हुंकार, रसवंती, द्वंद्वगीत, कुरुक्षेत्र और धूप-छाँह। इनमें से धूप-छाँह बालकों के लिए लिखी गई कविताओं का संग्रह है और 'इसमें धूप कम और छाया अधिक है'। 'अनुवाद प्रायः सर्वत्र ही स्वच्छंद हुआ है'। कुरुक्षेत्र प्रबंध-कविता है। शेष प्रकीर्ण रचनाएँ हैं; जिनमें से कुछ पद्य-निबंध हैं और कुछ मुक्तक गीत। हिंदी में मुक्तक काव्य की पुरानी प्रणाली एक प्रकार से भारतेंदु-युग में ही समाप्त हो चुकी थी। एक ही छंद में रस का भराव समाप्त सा हो गया। कवित्त-सवैया लिखनेवाले ही कभी-कभी ऐसा करते थे। भारतेंदु-युग में पद्य-निबंध लिखने का चलन भर हुआ था, द्विवेदी-युग में प्रधान धारा पद्य-निबंधों की ही रही। जो कवित्त-सवैयों में प्राचीन कँड़े के मुक्तक लिखते भी थे उनकी भी अधिकांश रचना पद्य-निबंध के ही रूप में मिलती हैं। भारतीय परंपरा की प्रगतिवादी कविता द्विवेदी-युग का पुनरुत्थान है। इसमें उस युग के अभावों की पूर्ति भी है, वह विकसित होकर सामने आई है। यही कारण है कि 'कुरुक्षेत्र' के अतिरिक्त दिनकर की समस्त रचनाएँ पद्य-निबंध ही हैं। अब कवित्त-सवैयों की पुरानी पद्धति ही उठ गई है। दिनकर ने अपनी प्रबंध-कविता में इस प्रणाली का भी उपयोग किया है। इससे इनकी बहुविध विधान की क्षमता का पता चलता है।

'रेणुका' में संगृहीत कविताएँ तीन खंडों में विभक्त हैं—'व्योम कुंजों की परी अयि कल्पने', 'गा रही कविता युगों से मुग्ध हो' और 'फूँक दे जो प्राण में उत्तेजना'। प्रथम खंड में कल्पना का अवतार व्योम से पृथ्वी पर किया गया है और अधिकतर भारत के अतीत गौरव की गाथा गाई है। अतीत का यह अनुराग भी भारतीय परंपरा के कवियों की विशेषता है। वह नवीन गायक जो सारी परंपराओं को तोड़ने की बात कहकर भी अतीत गौरव की गाथा सुनाता चलता हो, भारतीय भावापन्न ही है, पर जो अतीत की धर्मभूमि का त्याग कर वर्तमान की केवल अर्थभूमि पर ही टिकता हो वह अभारतीय है। अर्थ की अनर्थकरी क्रीड़ा वर्तमान को ही लेने से सामने आती है। काव्यक्षेत्र में भारतेंदु-युग से ही अतीत की छाया के दर्शन कराने का चलन हो गया था, किंतु उसमें अधिकतर

ऐतिहासिक अतीत ही काव्यबद्ध हुआ, पर द्विवेदी-युग में इतिहास की सीमा के भीतर पुराण भी गृहीत हो गया और नई कविता इतिहास-पुराण दोनों से उपबृंहित होने लगी। वर्तमान युग में पुराण फिर हट गया है। अतीत की स्मृति के चित्र अधिकतर इतिहास से ही लिए जाते हैं। दिनकर में भी यह प्रवृत्ति है। द्वितीय खंड में अधिकांश रचनाएँ प्रकृति-संबंधी हैं। प्रकृति के प्रति इनका झुकाव भी इनके परंपरित रूप का परिचायक है। लोक में लीन होनेवाला प्रकृति से अपने को विरक्त नहीं कर सकता। परंपरित प्रगतिशील कवि की विशालता का पता नरक्षेत्र और प्रकृतिक्षेत्र दोनों में विचरण करने से लगता है। नया प्रगतिकामी नरक्षेत्र के आगे बढ़ता ही नहीं। नरक्षेत्र में भी उसका एक कोना ही अपनी उछल-कूद के लिए चुनता है और उसकी उछल-कूद में भी विविधता नहीं, कुछ थोड़े से अभ्यस्त कौतुक ही रहते हैं। इन कौतुकों के प्रदर्शन में भी कला नहीं होती। इतनी परिमिति में वह कब तक टिक सकेगा, कहा नहीं जा सकता। तृतीय खंड में प्राचीन वैभव की स्मृति जगाने और उसके ग्रहण की उत्तेजना भरने का प्रयास है। प्राचीनता हमारे अखंड जीवन का पता देती है। हम किसी जीवन के खंड हैं, पर उससे संबद्ध हैं, इसका ज्ञान होता रहता है। जो प्राचीनता या अतीत का त्याग कर देता है वह अपने जीवन को खंडित कर लेता है, अवस्थान से नुचकर वह अलग हो जाता है। आगे वह क्या हो जायगा कहा नहीं जा सकता। भारत अपनी अतीत स्मृति से ही जगत् में पृथक् सत्ता बनाए रहा है, अन्यथा अमेरिका, आस्ट्रेलिया आदि तो न जाने क्या के क्या हो गए, कहाँ पहुँच गए, यवनान, मिस्र और असुरिया की प्राचीनता का नाम सुनते हैं, पर वे क्या थे और आज क्या हैं। भारत को जो उसी में मटियामेट करना चाहते हैं या मिट्टी में मिला देना चाहते हैं, वे उसके मित्र तो नहीं हैं और चाहे जो हों। दिनकर किस प्रकार अतीत, वर्तमान और भविष्यत् की परंपरा को अखंड देखते हैं इसे उन्हीं के कंठ से सुनिए—

वर्तमान की चित्रपटी पर भूतकाल संभाव्य बने।
गत विभूति भावों की आशा ले युगधर्म पुकार उठे॥

पुरानी कविता में केवल असाधारणता का परिचायक पदार्थ ही काव्य का वर्ण्य माना जाता था, पर प्राचीन भारतीय काव्यों का अनुशीलन करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि वहाँ साधारण-असाधारण का भेद भाव नहीं था। आगे चलकर चमत्कार की वृत्ति संस्कृत-काव्य में बहुत बढ़ गई, फलतः काव्य में असाधारण वस्तु और असाधारण शैली दोनों की माँग हुई। इसका दुष्परिणाम हिंदी का उत्तर-मध्यकालिक साहित्य भोग चुका है। हिंदी के आधुनिक प्रवाह में यह मान्य हो

चुका है कि प्रत्येक पदार्थ काव्य का विषय हो सकता है। जिन पदार्थों से हमारे पूर्वज भी रागात्मक संबंध जोड़ चुके हैं, वासनात्मक संस्कार के कारण हमारे राग को जगाने में उनकी शक्ति अधिक अवश्य है। वर्तमान जीवन की नई वस्तुओं के प्रति राग की गहराई नहीं हो सकती। द्विवेदी-युग में रेल, हवाईजहाज आदि पर भी कुछ रचनाएँ रची गईं, पर इस युग में अब इन पर लिखने कोई नहीं जाता। कदाचित् श्रमिकों में उमंग भरने के लिए प्रगतिकामी ऐसा प्रयास शीघ्र करें। दिनकर मानते तो यही हैं कि

रजकण से ले पारिजात तक कोई रूप अगेय नहीं।

पर वर्तमान उद्भूतियाँ उनका वर्ण्य नहीं हैं। अपने अतीत के वैभव का विनाश कवि को बारंबार रुलाता है। यद्यपि भारत के अतीत के गायक पहले भी हो चुके हैं, पर कहना पड़ता है कि दिनकर की सी करुणात्मिका, विद्राविणी और उत्तेजिका रचना किसी की नहीं है। काव्य में समन्वित प्रभाव का विशेष महत्त्व होता है। जिन वस्तुओं का आकलन और अंकन किया गया है, भाषा की जैसी ओजस्विनी प्रासादिकता का निर्वाह किया गया है वही नहीं, वैसी प्रभावान्विति भी अन्यत्र दुर्लभ है।

'हुंकार' में राष्ट्रीय कविताएँ संगृहीत हैं। 'रेणुका' में यद्यपि कवि व्योम-कुंजों में विचरण करनेवाली कल्पना को शून्य से उतारकर ठोस लोकभूमि पर खड़ा कर चुका था, पर उसमें अतीत के स्वातंत्र्य और सांप्रतिक दासत्व के वैषम्य के कारण स्थान-स्थान पर वेदना का स्वर गूँजता रहा है। 'रेणुका' में कवि के आँसू बिखरे पड़ते हैं। रस की दृष्टि से यह दयावीरत्व की भूमि पर पहले देश के दैन्य के प्रति अपनी दया या करुणा को जगाता है या यह स्वतः जगती है। उत्साह वहाँ भी था, पर अभी यह देश को दैन्य की स्थिति तक पहुँचानेवाले के प्रति क्रोध का हुंकार नहीं बना था। इस संग्रह में यह क्रोधाभिभूत होकर लक्ष्य-वेध के लिए प्रस्तुत हो जाता है। 'रेणुका' वस्तुतः हुंकार की पीठिका या भूमिका है। देश में दैन्य का, अभाव का राज्य है, कवि उसको दूर करने के लिए प्रयत्नशील है। हुंकार की रचना वीरता का पूर्ण उन्मेष लिए हुए आई है। भारत कृषिप्रधान देश है, सबसे अधिक चोट कृषकों पर ही पड़ी है। कृषकों के मेध से भारत की राजधानी रक्तारू हो चुकी है। स्त्री और बच्चे भूख से मर रहे हैं। ईश्वर के प्रति की गई गुहार काम नहीं दे रही है, अब भारत के शौर्य के जगे बिना उसका उद्धार नहीं हो सकता। 'हुंकार' में यौवन की उमंग छलकी पड़ रही है। देश की दुर्दशा ने सुषुप्त युवक भारत को सहसा जगा दिया है। वह अब राष्ट्र का उद्धार किए बिना रुकनेवाला, दम लेनेवाला नहीं दिखाई देता। कवि ने स्पष्ट कर दिया है—

समय द्वंद्व की ओर सिसकते मेरे गीत विकल धाए,
आज खोजते उन्हें बुलाने वर्तमान के पल आए।
× × × ×
अपनी हूति धरो ज्वाला में कुछ तुम भी बलिदान करो।

दिनकर में भाव-चक्र की पहचान बहुत ही समीचीन है। उत्साह के साथ रोष या क्रोध का वह आवेश काम का नहीं हो सकता जो महानाश या महाप्रलय का दृश्य उपस्थित करने को आहूत करता हो। दूसरे शब्दों में कवि में आत्म-विश्वास परिपूर्ण है। महानाश की कल्पना करना नैराश्य की अंतःप्रेरणा से ही हो सकता है। विश्वास के अंतःसंज्ञा में निहित होने से ही आशावाद के दर्शन होते हैं। दिनकर में यह अपने पूर्ण विकसित रूप में मिलता है। 'हुंकार' जागरूकता, जय और ज्योति का काव्य है। सच्चे कर्ममार्गी का यही रूप होता है, वह अंधकार में भी कर्म की ज्योति फैलाकर सबको जगा सकता है। उपनिषदों की यह ध्वनि उसके काव्य में स्पष्ट सुनाई पड़ती है।

तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय।

सुनिए—

अमृत गीत तुम रचो कलानिधि, बुनो रश्मियों की जाली।
तिमिर ज्योति की समरभूमि का मैं चारण मैं बैताली॥

'दिनकर' तो जागरण का ही, प्रभात का ही, प्रकाश का ही प्रतीक है—

ज्योतिर्मयि अंतःशिखा अरुण है मेरी,
हैं भाव अरुण, कल्पना अरुण है मेरी।
मैं विभापुत्र जागरण गान है मेरा,
जग को अक्षय आलोक दान है मेरा।
× × × ×
रण की ओर चरण दृढ़ जिनके मन के पीछे करुण पुकार,
नमन उन्हें मेरा शत बार।

हुंकार में विशुद्ध क्षात्र तेज का बहुत ही तेजस्वी रूप दिखाई देता है। वह क्षात्र धर्म जो निर्बल, असहाय, पीड़ित का उद्धार करने के लिए अपने जीवन की बलि सानंद देने को उत्तेजित करता है। यह वही क्षात्र धर्म है जिसके वर्णन से पुराणों की कथाएँ भरी पड़ी हैं। सुरेंद्र को भी इस क्षात्र तेज की अपेक्षा रहती थी, दानवों को परास्त करने के लिए इसने शताधिक बार अमरावती का आमंत्रण स्वीकार किया था। इसी के स्वागत में इंद्र को 'अर्ध सिंहासन' का आसन देना

पड़ता था। अतः सुरत्व में नरत्व से इसी दृष्टि से कोई महत्व नहीं। तुलसीदास ने 'मानस' में इसी क्षात्र धर्म की महिमा का गान किया है। परमार्थ और लोक-रक्षण जिसका सहज कर्म था, देवों को स्वार्थी बनाने पर उनकी कुछ लोगों ने बड़ी भर्त्सना की है, पर यह किसी ने न देखा कि परमार्थ की साधना का जो प्रतीक उस महात्मा ने खड़ा किया उसके समक्ष देवत्व का, पुजवाने मात्र का, स्वार्थ किस खेत की मूली था। तुलसी के 'मानस' में इंद्र स्वार्थी, सिंहासन-लोभी नरेश का प्रतीक-मात्र है। ऐश-आराम में पड़ा रहनेवाला, सिंहासन-रक्षा के लिए संदेह में अनेकों का संहार करानेवाला, जिसकी रक्षा शरणागत होने पर क्षत्रिय ही कर सकता था, पर जो उसके सिंहासन का लोलुप कभी नहीं होता था। तुलसी और 'मानस' की सामयिकता और राष्ट्रीयता अभी अनुसंधायकों को खोज रही है, उसकी व्याख्या केवल भक्ति और काव्य की ही दृष्टि से कर देने से पूरा नहीं पड़ता। दिनकर भी नरता को सुरता से श्रेष्ठ मानते हैं इसी परमार्थ के कारण—

नरता मानवता पौरुष से बढ़कर,
सुर में क्या गुण श्रेष्ठ जिन्हें हम सीखें।

* * *

साक्षी है इतिहास किंतु संगर में स्वर्ग हारता ही आया पृथ्वी से

अब 'रसवंती' को उठाइए। 'इसकी रचना निरुद्देश्य प्रसन्नता से हुई है और इसमें किसी निश्चित संदेश का अभाव सा है'। वस्तुतः 'रेणुका' और 'हुंकार' में कवि-मानस का उग्र अंश प्रबल है और 'रसवंती' में कोमल। मृदुल भावों को जगानेवाली अनेक रचनाएँ इसमें दिखाई देती हैं। यदि पक्षियों के साधन से कहना चाहें तो 'रेणुका' में 'चातक' की चेतना प्रमुख है और 'हुंकार' में श्येन (बाज) का शौर्य। 'रसवंती' में तो कोकिल की काकली है। पिछली रचनाओं में जीवन का पुरुष पक्ष सामने रखा गया है, पौरुष का संदेश दिया गया है और इसमें प्रकृति-पक्ष प्रदर्शित है, रमणीयता का आस्वाद है। 'रसवंती' वस्तुतः व्यक्तिवादिनी रचना कही जायगी। कवि का लोकोन्मुख रूप जितना ही प्रखर है, व्यक्तिलीन मुद्रा उतनी ही सुकुमार; छायावादी युग का काव्य व्यक्तिबद्ध तो था ही, उसमें सौकुमार्य का संभार भी था। 'रसवंती' उसी का अग्रिम सोपान है। उस युग में जीवन से दूर किसी अतींद्रिय जगत् की साकार कल्पना की जाती थी, पर इसमें जो कुछ भी है जागतिक है। नवीन युग की व्यक्तिबद्ध रचनाओं में समर्थ कवियों के द्वारा यह विशेपता भी आ रही है कि वे किसी वर्ण्य विषय को उसकी परिमिति में न देखकर विश्व-विभूति के रूप में देखते हैं।

इसका कारण यही है कि इन कर्ताओं में लोकानुभूति प्रधान है। व्यक्ति भी यहाँ जाति का प्रतिनिधि बनकर आता है। यद्यपि द्विवेदी-युग में इसका आभास मिला था, पर छाया-युग में शुद्ध व्यक्ति-पक्ष की उड़ान के चक्कर में उसका परिष्कार न हो सका। प्रगति ने लोक-भूमि पर स्थित होकर उसके विश्व-दर्शन किए। पर यह विश्वदर्शन यथार्थवादी ही है। छायायुगीन काव्य भी यथार्थवादी बनाना चाहता था, पर बन न सका। यदि वह आकाश-पताल एक करने में न लगता तो उसमें यथार्थ के बीज अंकुरित होकर ही न रह जाते। कोमलता के दोनों विभाग इसमें सुरक्षित हैं—शीतलता और दाहकता या मधु और अग्नि—

कोकिलों ने सिखलाया कभी माधवी कुंजों का मधुराग।
कंठ में आ बैठी अज्ञात कभी बाड़व की दाहक आग॥

इसमें राग की तीनों भूमियाँ हैं। पूर्वराग, अनुराग और प्रराग की। यद्यपि यह कवि की आरंभिक कृति ही है, पर इसमें प्रौढ़ता अधिक है। कवि की भाषा और भावों के वेग में साम्य नहीं है। दिनकर के मानस का वेग तीव्र होता है, चाहे वह वेग उग्र भावों का हो चाहे कोमल भावों का। इसलिए कहना पड़ता है कि कवि हृदय-पक्ष-प्रधान है। उसमें भावुकता अधिक है, कलात्मकता अपेक्षाकृत कम। ऐसे ही कवि काव्य का रूप बनाए भी रहते हैं। कला का उतना ही योग होना चाहिए जिससे काव्य अपने सहज रूप का त्याग न कर सके। उर्दू में बनावट अधिक भर गई, भाव दौड़कर भी अनुगामी ही रह गया। 'रसवंती' का नाम सार्थक है।

'द्वंद्वगीत' में व्यक्ति और लोक का तुल्य-बल से विधान है। 'रेणुका' और 'हुंकार' में लोक प्रधान है, 'रसवंती' में व्यक्ति। 'द्वंद्वगीत' में दोनों का ही निरूपण है। 'सुख दुःख, ऊँच नीच, छोटा बड़ा, स्वाधीनता पराधीनता बंध मुक्ति आदि को युग्मक में रखकर देखा गया है और देखा गया है मानवता की कसौटी पर कसकर।' यद्यपि काव्य में मानवता की ही अंतर्भूमिका रहती है, पर प्रवाह में वह सर्वत्र स्पष्ट झलकती नहीं। वर्तमान नई कविता की विशेषता यह है कि वह मानवता को सर्वत्र उभारे चल रही है। प्राचीन कविता में प्रबंध के मैदान में तो इसकी झलक कवि बराबर दिया करते थे, पर मुक्तक या प्रकीर्ण में उसे झलका नहीं पाते थे। वर्तमान कविता प्रबंध के अभाव को लिए दिए खड़ी हुई, अतः इस मानवता को झलकाने की आवश्यकता थी। काव्य की अंतश्चेतना मानवता के भी आगे जानेवाली है, वह प्राणिमात्र के साथ समानुभूति

या अनुकंपन करनेवाली है। भारत का आदिकवि ही प्रमाण है। आज मानवता से आगे काव्य नहीं जाना चाहता, पर काव्य कहता है कि तुझे परमाणु तक से अपने हृदय का तार मिलाना होगा। कवि की काव्य-प्रेरणा भी आदिकवि की सी ही है, यहाँ भी 'शोकः श्लोकत्वमागतः' है —

तू कहता कवि मुझे किंतु आहत मन यह कैसे माने,
इतना ही है ज्ञान कि मेरी व्यथा उमड़कर छंद हुई।



वीरकाव्य—हल्दीघाटी

करुणा और उत्साह दोनों ऐसे भाव हैं जिनका बहुत अधिक प्रभाव समाज पर देखा जाता है। पहला दुःखात्मक है और दूसरा सुखात्मक। यदि समाज में केवल करुणा का ही भाव आदृत रहता तो संभवतः वह जी न सकता। पर उत्साह के आदर ने उसे जीने के लिए मार्ग खोल दिया। करुणा में पड़ा रहनेवाला रोएगा, माथा पीटेगा, कोने में पड़ा रहेगा, पर उत्साह से भरकर मनुष्य हँसेगा, उछलेगा और जीवन में प्रवृत्त होगा। इसलिए लौकिक दृष्टि से उत्साह का बहुत अधिक माहात्म्य है। करुणा का आत्मपक्ष छोड़कर जब लोकपक्ष ग्रहण किया जाय तो स्पष्ट पता चल जाता है कि उसकी तुष्टि उत्साह से ही होती है। यदि कोई किसी के दुःख में समानुभूति दिखाना चाहे तो उसे उत्साह दिखाना पड़ेगा। किसी का दुःख देखकर यदि दूसरा केवल रोने लगे तो दुखी व्यक्ति को थोड़ी देर के लिए भले ही सांत्वना मिल जाय, किंतु उसके दुःख की चिरनिवृत्ति इस प्रकार न हो सकेगी। यदि कोई उत्साह दिखाकर उसका दुःख दूर कर दे तो सच्ची करुणा करेगा। इसमें संदेह नहीं कि करुणा भावों के प्रेरक रूप में बहुत स्थानों में देखी जाती है, और संभवतः इसी प्रेरकत्व पर दृष्टि रखकर रससिद्ध कवि भवभूति ने 'एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्' कह डाला था, पर क्या केवल प्रेरक को ही सारा गौरव प्राप्त होना चाहिए। कर्मसौंदर्य की ओर ले जानेवाले भाव को एकदम भुला देना चाहिए। समाज ऐसा कभी नहीं कर सकता। जो आग में कूदेगा, प्रवाह में बहने के लिए कटिबद्ध होगा वही उसके सामने आएगा, उसी की प्रशंसा होगी। कूदने आदि की प्रेरणा करनेवाले को कौन देखता या पूछता है। छत्रपति शिवाजी के हृदय में प्रेरणा उत्पन्न करनेवाले समर्थगुरु रामदास का गौरव मान लेने पर भी हम अधिक महत्त्व शिवाजी को ही देते हैं। गुरुजी की प्रशस्तियाँ हमने नहीं गाईं, पर शिवाजी की प्रशस्ति में न जाने कितने कवियों की वाणी अब तक प्रवृत्त हो चुकी है।

दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार भावों के मूल में करुणा का प्रेरकत्व मिलता है उसी प्रकार भावों को सम्यक् स्वरूप प्राप्त करने के लिए उत्साह भी मूल में देखा जा सकता है। यदि प्रेम करने में उत्साह न हो, क्रोध करने में

उत्साह न हो, यदि घृणा करने में उत्साह न हो, करुणा करने में उत्साह न हो, तो उसे कोई लक्षित भी नहीं करता। इसके विपरीत उत्साह के योग से उनका सच्चा स्वरूप निखर आता है। इसे ही शास्त्रीय शब्दों में 'वेग' कहते हैं। इसी 'वेग' के कारण भावों को 'मनोवेग' कहा जाता है। यह ठीक है कि विवेचनात्मक दृष्टि से उत्साह और वेग को एक ही नहीं कहा जा सकता। शास्त्रीय दृष्टि से ऐसा करना मूढ़ता समझा जा सकता है। पर जिस तथ्य को दृष्टि में रखकर भवभूति ने 'एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्' कहा था, क्या उसी प्रकार एक दूसरे तथ्य को ध्यान में रखकर 'एको रसो वीरः' कहना रोका जा सकता है। जब रस-चमत्कृति को सामने रखकर श्री नारायण कृती ने आश्चर्य के परिपाक अद्‌भुत को ही 'एको रसः' कहा था और शृंगार की व्यापकता एवं प्रधानता देखकर 'एको रसः प्रणय एव' भी कहा जा चुका है तब बेचारे उत्साह के परिपाक 'वीर' ने ही क्या बुराई की है। इस विचार से तो ऐसा कहा ही जा सकता है। मंगलाप्रसाद-पारितोषिक-प्राप्त श्री वियोगी हरिजी ने अपनी 'वीरसतसई' में उत्साह को इसी मानतुला से तौला है, वहाँ विरहिणी गोपिकाएँ भी वीर मानी गयी हैं।

अब शास्त्राभ्यासियों के ही विचार से देखिए। काव्य, विशेष रूप से दृश्यकाव्य और प्रबंधकाव्य के विषय में रस की व्यवस्था करते हुए उन्हीं शास्त्राभ्यासियों ने यह माना है कि उनमें केवल दो ही प्रधान रस रह सकते हैं शृंगार या वीर। बेचारे भवभूति के 'एको रसः करुण' को यहाँ भी स्थान न मिला। वीर को यहाँ स्थान तो प्राप्त है। छोड़िए मूढ़तावाले विचार को, यही मान लीजिए कि वीर रस की प्रधानता काव्यों में आचार्य लोग भी मानते आए हैं। इस प्रधानता का कारण यही है कि जनता के हृदय में, पाठकों के मन पर जितना शृंगार और वीर का प्रभाव पड़ता है, उतना औरों का नहीं। करुणा में रो भले ही लें, उसके दृश्य हम बारंबार भले ही देखें, वैसे ग्रंथ हम बारंबार भले ही पढ़ें, पर उससे हमारे जीवन में वह माधुर्य, वह कर्म सौंदर्य सहसा नहीं प्रकट हो सकता जो वीर से प्रकट होता है। दूसरी बात यह है कि करुणा की प्रधानता मनुष्य के हृदय को सह्य नहीं है पर वीर की प्रधानता को वह सह सकता है। अतः शास्त्रों मे 'करुण' वीर का सहायक माना गया है। करुणा की प्रेरणा से वीर रस की पुष्टि होती है। वह दुःखित की करुणा को दूर करके मानव-हृदय को परितोष देता है, क्षोभ नहीं। वीर रस में इसी कारण कई भेद भी हो जाते हैं—दानवीर, दयावीर, धर्मवीर, युद्ध-वीर आदि। दानवीर, दयावीर और धर्मवीर में दूसरे का दुःख प्रेरक होता है और युद्धवीर मे साक्षात् अपना ही या अपनों का दुःख। अपना, अपने परिवार, अपनी

प्रजा, अपने देश का दुःख भी अपना ही दुःख है। इसी कारण युद्धवीर में ही कवियों ने वह विशेषता देखी है जो काव्य में उनके वर्णन को अधिक महत्त्व देती है। दयावीर, दानवीर, धर्मवीर आदि में व्यक्तिपक्ष की प्रधानता होती है, पर युद्ध-वीर में जहाँ अपना ही दुःख प्रेरक नहीं होता वहाँ लोक-पक्ष की प्रधानता हो जाती है। कवियों के वर्ण्य, उनकी प्रशस्ति के नायक इसी कारण युद्धवीर ही होते आए हैं, अन्य प्रकार के वीर कम।

लोकरंजक या लोकदुःख के निवारक वीरों का ही काव्य में महत्त्व होने का एक कारण और है। जो अपने उत्साह की अभिव्यक्ति के लिए लड़ते रहे हैं, जिनके उत्साह का प्रेरक लोकपीड़ा या लोकरंजन नहीं रहा है उनके विषय में लिखी गई कविता का लोक में आदर कम होता है। जिस चाव से शिवाजी के चरित्र पढ़े जाते हैं उस चाव से साधारण नरेशों या राजाओं की लड़ाई के नहीं। पद्माकर ने 'हिम्मतबहादुर-विरुदावली' में कवित्व की तड़क-भड़क अधिक दिख-लाने का प्रयत्न किया, पर उसे कितने लोग पढ़ते हैं। पद्माकर को लोग शृंगार का ही कवि मानते रहे। बहुत से लोग तो यह भी नहीं जानते कि उन्होंने वीर रस का प्रबंधकाव्य भी लिखा है। दूसरी ओर भूषण ने शास्त्रीय विधान की पूर्ति वैसी नहीं भी की जैसी होनी चाहिए, पर पुण्यचरित्र शिवाजी के चरित्र के कारण भूषण वीर रस के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। है इतना महत्त्व किसी और कवि का। रासा के रचयिता भी उनके सामने दब गए। समाज अपनी दृष्टि से या अपनी तुला से काव्यों को परखता है। इसी कारण कविता की नाड़ी पहचाननेवाले लोक-हृदय का अनुरंजन करनेवाली कविता ही प्रस्तुत करते हैं, ऐसे ही उदात्तचरित नायकों को लेते हैं जो लोकहृदय को प्रभावित कर सकें।

शिवाजी की विरुदावली तो थोड़ी बहुत गाई भी गई, महाराज छत्रसाल की कीर्ति भी काव्यबद्ध हुई, किंतु महाराणा प्रताप के अदम्य उत्साह की अभि-व्यंजना करनेवाला कोई काव्य पुरानी हिंदी में प्रस्तुत न हो सका। स्व० राधाकृष्ण-दासजी ने एक नाटक अवश्य लिखा, पर संगीतमय वाणी में, प्रबंध के प्रवाह में, उनके चरित का वर्णन नहीं किया गया। पं० श्यामनारायण पांडेय की 'हल्दीघाटी' देखकर ऐसा जान पड़ा कि हिंदी के इस अभाव की ओर भी नवीन कवियों का ध्यान जाने लगा। यह शुभ लक्षण है। हिंदी-साहित्य में जो विशिष्ट नायकों की वीररस-भरी चरितावली का अभाव था, वह पूरा हो गया। हमारे अतीत इतिहास का यह मधुरिमामय दृश्य काव्यबद्ध होकर सहृदयों का अनुरंजन करने के लिए सामने आ खड़ा हुआ। एक बार यह फिर कहना पड़ा कि 'ते हि नो दिवसा गताः।' महाराणा प्रताप, महाराज छत्रसाल और छत्रपति शिवाजी वे वीर थे जो

जनता के हृदय की पुकार बनकर प्रतिपक्षियों से लड़ रहे थे। अकबर की कूटनीति और औरंगजेब के अत्याचारों में तात्त्विक दृष्टि से कोई भेद नहीं था। यदि ऐसा न होता तो साम्राज्यवाद के विरुद्ध हम कभी उठने का प्रयत्न न करते।

यहाँ और बातों को थोड़ी देर के लिए छोड़कर यह देखने की आवश्यकता है कि 'हल्दीघाटी' का साहित्यिक मूल्य क्या आँका जा सकता है। श्रव्यकाव्य के दो भेद किए जाते हैं—एक प्रबंध और दूसरा निर्बंध। प्रबंधकाव्य पढ़नेवाले या सुननेवाले के हृदय पर स्थायी प्रभाव उत्पन्न करता है, पर निर्बंध या मुक्तक रचना कुछ समय के लिए आनंद में मग्न करके विरत हो जाती है। सौ मुक्तक पढ़कर सौ बार हम आनंद में पृथक्-पृथक् मग्न होंगे, किंतु सौ छंदों में यदि सानुबंध रचना पढ़ी जाय तो सौ बार में जो आनंद प्राप्त हुआ है उसकी समष्टि से भी कई गुना आनंद हमें प्राप्त होगा। किसी कीट के पास आकर कोई भृंगी यदि क्षणभर के लिए रुककर अपनी ध्वनि सुनाकर चला जाया करे तो यह कीट भृंगी कीट जीवनभर नहीं हो सकता, चाहे वह सैकड़ों बार अपनी ध्वनि सुना जाया करे। किंतु यदि वह निरंतर उसके चतुर्दिक गूँज करता रहे तो थोड़े समय में ही उसे भृंगी बना डालेगा। इसी प्रकार मुक्तकों के पढ़ने से हमारे भाव उद्बुद्ध होकर शांत नहीं होते। भाव अनुभूति में 'परिणत' हो जाता है, और अनुभूति दृढ़ होकर हमारी प्रकृति का संस्कार करती है। हमारे शील का निर्माण प्रबंधों से बहुत कुछ हो सकता है, मुक्तकों से वैसा नहीं। जिन मुक्तकों में रसमय खंडदृश्य लेकर रचना की जाती है उनका प्रभाव अधिक हो सकता है, पर वह हमारे जीवन को सहसा मोह नहीं सकता। अच्छे मुक्तकों की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा करते हुए प्रबंध के इसी वैशिष्ट्य को ध्यान में रखकर कहा जाता है कि 'प्रबंधशतायते'। निष्कर्ष यह कि मुक्तकों की अपेक्षा प्रबंध का बहुत अधिक माहात्म्य है।

अब यह देखना चाहिए कि प्रबंधकाव्यों में होता क्या है। प्रबंधकाव्य वर्णनात्मक और घटनात्मक दोनों ही होता है। घटनाएँ उसके प्रवाह को निरवच्छिन्न रखती हैं और वर्णन मन को रमाते चलते हैं। इसलिए कविता में मन रमाने के विचार से यह मानना पड़ता है कि प्रबंध में वर्णन प्रधान हो जाते हैं और घटनाएँ गौण। उपन्यासों से प्रबंधकाव्यों का यही अंतर है, वहाँ घटनाएँ प्रधान होती हैं और वर्णन गौण। प्रबंधकाव्यों की यह विशेषता लक्षित करके ही लक्षण लिखनेवालों ने यह लिखा कि महाकाव्यों में अमुक अमुक दृश्यों का वर्णन अवश्य हुआ करता है। परिणाम यह हुआ कि लक्षण-ग्रंथों का अनुगमन करके जो महाकाव्य लिखे गए उनमें वर्णनों का ही प्राधान्य हो गया, घटनाएँ दब गईं। केशवदासजी की 'रामचंद्रचंद्रिका' में वर्णनों की जितनी प्रधानता है, घटनाओं की उतनी नहीं।

कुछ लोगों का तो यहाँ तक कहना है कि वह फुटकल वर्णनों का संग्रह मात्र है। घटनाओं की गौणता का यह तात्पर्य नहीं कि उन्हें वर्णनों के घटाटोप में छिपा या दबा दिया जाय। पाठक या श्रोता के चित्त को रमाने के लिए वर्णनों के साथ-साथ घटनाओं की शृंखला जुड़ती चलनी चाहिए। घटनाओं के प्रवाह में तीव्रता आकर कहीं विक्षोभ न उत्पन्न कर दे, इसीलिए वर्णनों के साथ-साथ धारा मस्तानी गति से चला करती है। इसके साथ ही साथ घटनाएँ जीवनव्यापी भी होती हैं। यदि शास्त्रोक्त वर्णनों के साथ कोई जीवनखंड काव्यबद्ध कर दिया जाय तो महाकाव्य की महत्ता को धक्का पहुँचता है। इसी व्याप्ति का विचार करके हिंदी में कुछ लोग चौंककर पूछने लगे हैं कि क्या 'प्रियप्रवास' और 'साकेत' भी महाकाव्य हैं। घटनाओं की ओर से हिंदीवालों ने ही अपनी दृष्टि नहीं हटा ली है, यह तो संस्कृत के महाकाव्यों का प्रसाद है जो हिंदी को मिला है। वाल्मीकि के रामायण में घटनाओं का जैसा विस्तार है वैसा आगे नहीं देखा जाता। कालिदास आदि के काव्यों में तो वर्णन और घटनाओं का बहुत ही समीचीन विधान देखा जाता है, पर 'नैषध' तक आते आते वह जीवनव्यापी घटना न रह गई। विवाह-वर्णन में ही महाकाव्य समाप्त हो गया। हिंदी के कवियों के लिए संस्कृत के पिछले काँटे के महाकाव्य ही आदर्श रहे, अतः घटनाओं के सम्यक् विधान की ओर से उनकी विरक्ति स्वाभाविक थी। पर क्या 'नैषध' के महाकाव्यत्व में आज-तक किसी संस्कृताभ्यासी ने संदेह प्रकट किया ? निष्कर्ष यह निकला कि प्रबंधकाव्य में वर्णनों की ही प्रधानता रही है, होती भी है।

अब 'हल्दीघाटी' पर विचार करते समय हमें यह देखना होगा कि उसमें वर्णन कैसे आए हैं। वर्णन दो प्रकार के देखे जाते हैं। एक वर्णन वह होगा जिसमें वर्णन करनेवाले की दृष्टि एक एक दृश्य पर जमती चलेगी और दूसरा वह जिसमें उसकी दृष्टि जमेगी नहीं, वरन् एक दृश्य से हटकर दूसरे पर और दूसरे से तीसरे पर होती हुई अनेक दृश्यों पर जायगी, जिनका वह उल्लेख करता चलेगा। दोनों प्रकार के वर्णनों का प्रयोग काव्य में होता है और दोनों का पृथक्-पृथक् महत्त्व है। इनका महत्त्व दृश्यों पर भी आश्रित रहता है। किसी को यदि एक गोष्ठी का वर्णन करना हो तो एक-एक बात पर दृष्टि जमाते चलना होगा। किंतु यदि किसी बहुत बड़ी सभा का वर्णन करना हो तो एक-एक दृश्य पर दृष्टि जमाने से वर्णन करनेवाला उसका सम्यक् वर्णन कर ही न सकेगा, यदि ऐसा करे भी तो बहुत समय लग सकता है। दूसरी बात यह है कि सभा या मेले में जो लंबा चौड़ा दृश्य सामने आ जाता है, उसका समाहार करने के लिए दृष्टि की व्याप्ति बढ़ानी पड़ती है, इसलिए वह एक-एक दृश्य पर टिकती

हुई त्वरित गति से आगे बढ़ती चली जाती है। यही नहीं, कोलाहल या विशेष घटनाएँ हमारी दृष्टि को कभी-कभी सहसा अपनी ओर आकृष्ट भी कर लेती हैं, अतः उनमें बहुत देर तक दृष्टि जम ही नहीं पाती। अब यदि कोई वर्णन करने बैठेगा तो गोष्ठी का तो पूरा चित्र उपस्थित करेगा, पर सभा या मेले की रूपरेखा मात्र। प्रबंध-काव्यों में प्रकृति का वर्णन, नगर का वर्णन बहुत कुछ पहली परिपाटी से होता है, पर युद्धों के वर्णन दूसरी परिपाटी से किए जाते हैं। 'हल्दी-घाटी' में युद्धवीरत्व की प्रधानता है, अतः देखना यह चाहिए कि कवि ने अपने वर्णनों में अधिकाधिक दृश्यों का समाहार करके उसकी रूपरेखा खींच दी है या नहीं। जहाँ तक युद्ध के वर्णनों का संबंध है, यह स्वीकार करना पड़ता है कि कवि ने समाहृत वर्णन (विविड डिस्क्रिप्शन) उपस्थित करने में बहुत बड़ी शक्ति का परिचय दिया है। हिंदी में युद्ध का ऐसा वर्णन नहीं देखा जाता। उदाहरण के लिए कुछ छंद नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

हाथी से हाथी जूझ पड़े, भिड़ गए सवार सवारों से।
घोड़ों पर घोड़े टूट पड़े, तलवार लड़ी तलवारों से॥
हयरुंड गिरे, गजमुंड गिरे, कट-कट अवनी पर शुंड गिरे।
लड़ते लड़ते अरिमुंड गिरे, भू पर हय विकल वितुंड गिरे॥

× × × ×

क्षण इधर गई क्षण उधर गई, क्षण चढ़ी बाढ़ सी उतर गई।
था प्रलय, चमकती जिधर गई, क्षण शोर हो गया किधर गई॥

× × × ×

क्षण उछल गया अरि घोड़े पर, क्षण लड़ा सो गया घोड़े पर।
बैरीदल से लड़ते लड़ते, क्षण खड़ा हो गया घोड़े पर॥
—द्वादश सर्ग।

युद्ध में जिस प्रकार का लाघव दिखाया जाता है, वैसा ही लाघव कवि ने अपनी शब्दशक्ति में दिखाया है। कवि की दृष्टि कार्य-व्यापारों पर ही विशेष है, वीरों की मुद्रा आदि पर नहीं। युद्ध में दृष्टि कार्यव्यापार पर ही जाती है, मुद्राएँ देखने का अवसर ही कहाँ रहता है। इसीलिए मुद्राओं की योजना उसने रणप्रस्थान के समय रूप-विधान करते हुए की है। अब देखना यह चाहिए कि प्रकृति का वर्णन करते हुए उसने कैसा दृश्य-विधान किया है। इस काव्य में प्रकृति दो रूपों में आई है—एक तो स्वच्छंद रूप में, और दूसरे वीरों के हृदय के उल्लास

में सनी हुई। पहले रूप में प्रकृति का वर्णन अधिकतर रमणीय दृश्यों में ही हुआ है, देखिए—

चरकर, पगुराती माँ को, दे सींग ढकेल रहे थे।
कोमल कोमल घासों पर, मृगछौने खेल रहे थे॥

× × ×

वन-धेनु-दूध पीते थे, लैरू दुम हिला हिलाकर।
माँ उनको चाट रही थी, तन से तन मिला मिलाकर॥

दूसरी ओर वीरों की उमंग की ही भाँति उल्लास से भरी प्रकृति का चित्रण भी मिलता है—

केसर से निर्झर-कूल लाल, फूले पलास के फूल लाल।
तुम भी वैरी-शिर काट-काट, कर दो शोणित से धूल लाल॥

इस काव्य की सबसे बड़ी विशेषता जो स्पष्ट लक्षित होती है वह इसकी उमंग है। उमंग का जो प्रवाह आरंभ से उठा है वह अंत तक अनेक बल खाता हुआ चला गया है। केवल वीरों के कार्यों और उनकी उक्तियों में ही उमंग नहीं दिखाई देती, सर्गारंभ की प्रार्थनाओं तक में उमंग भरी हुई है। किसी वीरकाव्य में जो विशेषता होनी चाहिए वह यही है। यदि वीरकाव्य में उमंग कहीं से भी खंडित हो जाय तो उसकी रसवत्ता ही क्या रही। 'आल्हा' के जो रसात्मक प्रसंग चाव के साथ पढ़े जाते हैं, उनमें उत्तरोत्तर उमंग बढ़ती ही जाती है, इसीलिए वे पढ़े जाते हैं।

पांडेयजी ने इसके अतिरिक्त एक स्थान पर ऐतिहासिक घटना में थोड़ा सा परिवर्तन करके अपनी मर्मज्ञता प्रदर्शित की है। वह परिवर्तन है राणा-प्रताप का संधि-पत्र लिखने के लिए प्रस्तुत होना और उनकी पत्नी का क्षत्राणी की भाँति उनका हाथ पकड़ लेना। इस परिवर्तन से राणाप्रताप के उच्च चरित्र की रक्षा भी हो गई है और महाराणी का चरित्र भी बहुत उच्च होकर सामने आया है। इससे यह स्पष्ट है कि कवि ने केवल रस-संचार का ही ध्यान नहीं रखा है, शीलनिरूपण पर भी उसकी दृष्टि गई है और उसने मार्मिकता के साथ उसे सँभालने का प्रयत्न किया है।

इस प्रकार विचार करने से भाव-विधान में और वर्णनात्मक प्रसंगों के जुटाने तथा उनकी रूपरेखा खींचने में कवि ने अपनी सहृदयता का परिचय स्थान स्थान पर दिया है। अलंकारों का भी प्रयोग बड़ी सावधानी के साथ किया गया है। चमत्कार-प्रदर्शन के लिए न कहीं अलंकार रखे गए हैं और न जानकारी प्रदर्शित

करने के लिए चर्चा ही दी गई है। छंद हिंदी की प्रवृत्ति के अनुकूल मात्रिक रखे गए हैं और वर्णनों की गतिशीलता के लिए छोटे छोटे छंद ही लिए गए हैं। भाषा अत्यन्त चलती रखी गई है। कड़े शब्दों के प्रयोग से वह लद्दू नहीं बनाई गई है। अतः सब बातों पर चलती दृष्टि डालने से यह कहना पड़ता है कि हिंदी में यह एक अच्छा वीरकाव्य प्रस्तुत हुआ।

हिंदी मे प्रबंध काव्यों की बहुत कमी है। वीर-काव्य, उन प्रबंध-काव्यों में यदि रासो को छोड़ दें तो, केवल 'छत्र-प्रकाश' ही ऐसा रह जाता है जो कुछ जँचता है। 'सुजान-चरित्र', 'हिम्मतबहादुर-विरुदावली' आदि वीरकाव्य इसलिए गिनने योग्य नहीं हैं कि उनमें नायक का ही उपयुक्त चुनाव नहीं है, रस के स्थान पर रसाभास होने लगता है। 'सुजान-चरित्र' की सूची से तो बड़े बड़े जानकार भी ऊब जाते हैं। जो उन्हें जानते ही नहीं, उनके लिए तो वह पहेली-बुझौवल ही है। अतः प्रबंध के क्षेत्र में 'हल्दीघाटी' जिस नवीनता को लिए दिए सामने आई उसे देखते हुए यह कहना ही पड़ता है कि उसका अपना एक स्थान अवश्य है। जनता के हृदय में भी उसने अपना स्थान बना लिया है, स्वयं प्रणेता की वीरोल्लासपूर्ण वाणी में जब-जब 'हल्दीघाटी' के अध्यायों का पारायण हुआ है, श्रोताओं का समाज उत्साह और उमंग से भर गया है। अतः जनता द्वारा इसका समादर हो चुका, साहित्य में समादर होने के कारण हम ऊपर दे चुके हैं। निश्चय है कि लोक और साहित्य दोनों में इसका उचित संमान है। अंत में कवि की वह उमंगभरी स्तुति दुहरा दी जाती है—

गणपति के पावन पाँव पूज, वाणी पद का कर नमस्कार,
उस चंडी का, उस दुर्गा का, काली-पद का कर नमस्कार,
उस कालकूट पीनेवाले के नयन याद कर लाल लाल,
डग डग ब्रह्मांड हिला देता जिसके तांडव का ताल ताल,
ले महाशक्ति से शक्ति-भीख, व्रत रख वनदेवी रानी का,
निर्भय होकर लिखता हूँ मैं ले आशीर्वाद भवानी का।

में सनी हुई। पहले रूप में प्रकृति का वर्णन अधिकतर रमणीय दृश्यों में ही हुआ है, देखिए—

चरकर, पगुराती माँ को, दे सींग ढकेल रहे थे।
कोमल कोमल घासों पर, मृगछौने खेल रहे थे॥

× × ×

वन-धेनु-दूध पीते थे, लैरू दुम हिला हिलाकर।
माँ उनको चाट रही थी, तन से तन मिला मिलाकर॥

दूसरी ओर वीरों की उमंग की ही भाँति उल्लास से भरी प्रकृति का चित्रण भी मिलता है—

केसर से निर्भर-कूल लाल, फूले पलास के फूल लाल।
तुम भी वैरी-शिर काट-काट, कर दो शोणित से धूल लाल॥

इस काव्य की सबसे बड़ी विशेषता जो स्पष्ट लक्षित होती है वह इसकी उमंग है। उमंग का जो प्रवाह आरंभ से उठा है वह अंत तक अनेक बल खाता हुआ चला गया है। केवल वीरों के कार्यों और उनकी उक्तियों में ही उमंग नहीं दिखाई देती, सर्गारंभ की प्रार्थनाओं तक में उमंग भरी हुई है। किसी वीरकाव्य में जो विशेषता होनी चाहिए वह यही है। यदि वीरकाव्य में उमंग कहीं से भी खंडित हो जाय तो उसकी रसवत्ता ही क्या रही। 'आल्हा' के जो रसात्मक प्रसंग चाव के साथ पढ़े जाते हैं, उनमें उत्तरोत्तर उमंग बढ़ती ही जाती है, इसीलिए वे पढ़े जाते हैं।

पांडेयजी ने इसके अतिरिक्त एक स्थान पर ऐतिहासिक घटना में थोड़ा सा परिवर्तन करके अपनी मर्मज्ञता प्रदर्शित की है। वह परिवर्तन है राणा-प्रताप का संधि-पत्र लिखने के लिए प्रस्तुत होना और उनकी पत्नी का क्षत्राणी की भाँति उनका हाथ पकड़ लेना। इस परिवर्तन से राणाप्रताप के उच्च चरित्र की रक्षा भी हो गई है और महारानी का चरित्र भी बहुत उच्च होकर सामने आया है। इससे यह स्पष्ट है कि कवि ने केवल रस-संचार का ही ध्यान नहीं रखा है, शीलनिरूपण पर भी उसकी दृष्टि गई है और उसने मार्मिकता के साथ उसे सँभालने का प्रयत्न किया है।

इस प्रकार विचार करने से भाव-विधान में और वर्णनात्मक प्रसंगों के जुटाने तथा उनकी रूपरेखा खींचने में कवि ने अपनी सहृदयता का परिचय स्थान स्थान पर दिया है। अलंकारों का भी प्रयोग बड़ी सावधानी के साथ किया गया है। चमत्कार-प्रदर्शन के लिए न कहीं अलंकार रखे गए हैं और न जानकारी प्रदर्शित

करने के लिए रुची ही दी गई है। छंद हिंदी की प्रवृत्ति के अनुकूल मात्रिक रखे गए हैं और वर्णनों की गतिशीलता के लिए छोटे छोटे छंद ही लिए गए हैं। भाषा अत्यन्त चलती रखी गई है। कड़े शब्दों के प्रयोग से वह लद्दू नहीं बनाई गई है। अतः सब बातों पर चलती दृष्टि डालने से यह कहना पड़ता है कि हिंदी में यह एक अच्छा वीरकाव्य प्रस्तुत हुआ।

हिंदी में प्रवंध-काव्यों की बहुत कमी है। वीर-काव्य, उन प्रबंध-काव्यों में यदि रासा को छोड़ दें तो, केवल 'छत्र-प्रकाश' ही ऐसा रह जाता है जो कुछ जँचता है। 'सुजान-चरित्र', 'हिम्मतबहादुर-विरुदावली' आदि वीरकाव्य इसलिए गिनने योग्य नहीं हैं कि उनमें नायक का ही उपयुक्त चुनाव नहीं है, रस के स्थान पर रसाभास होने लगता है। 'सुजान-चरित्र' की सूची से तो बड़े बड़े जानकार भी ऊब जाते हैं। जो उन्हें जानते ही नहीं, उनके लिए तो वह पहेली-बुझौवल ही है। अतः प्रबंध के क्षेत्र में 'हल्दीघाटी' जिस नवीनता को लिए दिए सामने आई उसे देखते हुए यह कहना ही पड़ता है कि उसका अपना एक स्थान अवश्य है। जनता के हृदय में भी उसने अपना स्थान बना लिया है, स्वयं प्रणेता की वीरोल्लासपूर्ण वाणी में जब-जब 'हल्दीघाटी' के अध्यायों का पारायण हुआ है, श्रोताओं का समाज उत्साह और उमंग से भर गया है। अतः जनता द्वारा इसका समादर हो चुका, साहित्य में समादर होने के कारण हम ऊपर दे चुके हैं। निश्चय है कि लोक और साहित्य दोनों में इसका उचित संमान है। अंत में कवि की वह उमंगभरी स्तुति दुहरा दी जाती है—

गणपति के पावन पाँव पूज, वाणी पद का कर नमस्कार,
उस चंडी का, उस दुर्गा का, काली-पद का कर नमस्कार,
उस कालकूट पीनेवाले के नयन याद कर लाल लाल,
डग डग ब्रह्मांड हिला देता जिसके तांडव का ताल ताल,
ले महाशक्ति से शक्ति-भीख, व्रत रख वनदेवी रानी का,
निर्भय होकर लिखता हूँ मैं ले आशीर्वाद भवानी का।

स्केच या रेखामात्र निबंध

वाङ्मय की अभिव्यक्ति या तो पद्य में होती है या गद्य में। कभी-कभी मिश्र शैली का भी व्यवहार होता है। भारत का प्राचीन वाङ्मय अधिकतर पद्य में है। पर अब चक्रनेमि ऊपर से नीचे हो गई है। समय बदल गया है, आज वाङ्मय की अभिव्यक्ति में गद्य-पद्धति का व्यवहार अधिक हो रहा है। इतना अधिक है कि आधुनिक युग 'गद्ययुग' माना जाता है। प्रत्येक देश के साहित्य में गद्य का प्राधान्य है, निर्माण का अधिकांश गद्य के ही अधिकार में है। पद्य की रचनाएँ परिमाण में कम हो रही हैं। पद्य की रचना में पद अर्थात् चरण के न्यास का विचार करना पड़ता है, छंदोविधान के ज्ञान की अपेक्षा रहती है। आधुनिक युग में पद्य या छंद में भी स्वच्छंदता का व्यवहार होने लगा है, छंद का बंधन तोड़ डाला गया है, स्वछंद छंद या मुक्त छंद में रचनाएँ की जाने लगी हैं। अर्थात् जो कविता पद्य में लिखी जाती थी वह भी अब गद्य के बहुत निकट पहुँच गई है। नाटकों से पद्यों का (पाठ्य छंदों का) निष्कासन हो चुका है, कुछ गीत, वे भी प्रायः ऊपर से चिपकाते हुए ही, उनमें मिलते हैं। नाटक अब एक प्रकार से गद्य के क्षेत्र की ही वस्तु समझा जाता है। तात्पर्य यह कि गद्य ने पद्य के क्षेत्र में भी प्रवेश कर लिया है। इसके अतिरिक्त स्वतः उसका जो विस्तार हो रहा है वह तो है ही। वह परिमाण में भारी हो गया है, प्रयोग में विस्तृत और ग्रहण में व्यापक। अतः 'गद्य युग' नाम फालतू नहीं है, उसमें सार्थकता है।

शुद्ध साहित्य के अंतर्गत हिंदी में पहले गद्य ने आज्ञा-पत्रों आदि में अपना स्थान किया, फिर पद्यों की टीका के रूप में वह दिखाई पड़ा। नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध आदि के व्यवहार में आते-आते अब उसने बहुत फैलाव कर लिया है। कहानी को उसने बहुत अधिक सहारा दिया। पर सच पूछिए तो उत्कर्ष की दृष्टि से गद्य का क्षेत्र नाटक या उपन्यास अथवा कहानी नहीं है। ये कथात्मक कृतियाँ जीवन के कार्य-कलापों की अभिव्यक्ति करती हैं, उनमें घटनाचक्र ही मुख्य वस्तु होता है। पात्रों की बातचीत और घटनाओं का संविधानक वर्णित कर देने भर के लिए इनमें गद्य की आवश्यकता होती है। गद्य अपनी कसावट, अपनी अर्थ-संपत्ति, अपनी व्यंजना-विधि, अपनी विचार-वीथी का अभिसरण इनमें कहीं कहीं भले ही कर ले, पर ये उसकी उक्त दृष्टि से वास्तविक भूमि ही नहीं हैं।

अतः गद्य की वास्तविक भूमि 'निबंध' ही ठहरते हैं, जहाँ वह अपनी गुरुता और शक्ति का भली भाँति प्रदर्शन भी कर सकता है और प्रमाण भी दे सकता है। संक्षेप में, जैसे पद्य का वास्तविक क्षेत्र कविता है वैसे ही गद्य का वास्तविक क्षेत्र निबंध।

साहित्य की विभिन्न शाखाओं में जीवन के बाह्य और आभ्यंतर दोनों पक्षों की योजना किसी न किसी रूप में बराबर रहती है, केवल मात्रा का भेद होता है। जीवन के बाह्य पक्ष से कार्य-कलाप या वस्तु का संग्रह किया जाता है और आभ्यंतर पक्ष में हृदय तथा बुद्धि का योग रहता है। वस्तु या घटनाओं से सामग्री सञ्चित होती है, हृदय अनुभूति की सरसता लाता है और बुद्धि विचार का मार्ग उद्‌घाटित करती है। नाटक, उपन्यास और कहानी वस्तु-प्रधान रचनाएँ हैं, पर इनमें भी अनुभूति और विचार का विधान गौण रूप से रहता है। कविता अनुभूति-प्रधान रचना है पर उसमें भी वस्तु तथा विचार का अ-प्रधान रूप से विनियोग किया ही जाता है। निबंध विचार-प्रधान रचना है पर उसमें भी वस्तु और अनुभूति का यत्र तत्र प्रयोग होता ही है। संक्षेप में कविता भाव-प्रधान रचना है, आख्यान वस्तु-प्रधान और निबंध विचार-प्रधान।

निबंध में विचार ही मुख्य है, अनुभूति और वस्तु-विधान गौण। पर प्रत्येक कर्ता इस स्वरूप-लक्षण का ध्यान रखकर रचना नहीं करता। कभी अनुभूति की मात्रा बढ़ जाती है तो कभी वस्तु की। विचार थोड़ी देर के लिए दब जाता है, छिप जाता है, पर उसका एकांत लोप कभी नहीं होता। यही 'विचार' निबंध में कभी विषय के विश्लेषण में विशेष रूप से प्रवृत्त होता है और विषय-प्रधान निबंध, वा विस्तार में आकर प्रबंध (थीसिस, ट्रीटीज आदि) की सृष्टि करता है। कभी बहिर्मुख न रहकर अंतर्मुख होता है; और व्यक्ति के दायरे से आगे नहीं बढ़ता, और व्यक्ति-प्रधान निबंध प्रस्तुत करता है। यद्यपि पश्चिम में पहले विषय-प्रधान निबंधों का ही विशेष चलन था पर पीछे से 'कृतित्व' को ही साहित्य का प्रमुख रूप मानकर व्यक्ति-प्रधान निबंधों पर बहुत जोर दिया जाने लगा। 'निबंध' में व्यक्तित्व ही सब कुछ समझा जाने लगा। वहाँ आत्मव्यंजक (परसनल) निबंधों की अत्यधिक प्रशंसा होने लगी, पर स्मरण रखना चाहिए कि साहित्य की प्रत्येक शाखा का स्वरूप स्पष्ट होने के लिए उसके नियतधर्मा होने की अपेक्षा होती है, यह दूसरी बात है कि कभी-कभी उसका अतिक्रमण हुआ करे। आत्मव्यंजक निबंधों के अधिक प्रचलन का परिणाम यह हुआ कि विचार के लिए कोई भी विषय या वस्तु ले ली गई और उस विषय या वस्तु का कुछ भी विवेचन न करके या बहुत थोड़ी व्याख्या करके विषयांतर से काम चलाया गया। जैसे छायावादी कवि अपनी

व्यक्तिबद्ध अनुभूति का आरोप करने के हेतु कोई भी वस्तु चाहे वह तुच्छ से तुच्छ ही क्यों न हो, अनुभूति का भार सँभालने में चाहे वह कितनी ही अक्षम क्यों न हो, सामने रख लेता था, वैसे ही आत्माभिव्यंजक-निबंध-लेखक के लिए भी विषय या वस्तु का कोई महत्व नहीं रह गया। वे विचार के लिए किसी भी पदार्थ का ग्रहण करने लगे। तात्पर्य यह कि 'निबंध' में भी 'कला' का प्रदर्शन मुख्य हो गया, 'विचार' दबते-दबते बहुत क्षीण हो गया। संक्षेप में, जैसे छायावादी कविता में व्यक्तित्व का आरोप मुख्य हुआ वैसे ही इन निबंधों में। 'अभिव्यंजनावाद' तो निबंधों को उनकी यथार्थ और प्रकृति भूमि से बहुत दूर खदेड़ ले गया। जो पद्यात्मक काव्य-रचना से किसी हेतु विरत रहते थे वे गद्य में ही ऐसे निबंध लिखकर संतोष-लाभ करने लगे।

इससे जहाँ निबंध के ऊपर, उसके स्वरूप पर, बहुत कुछ परदा पड़ने लगा, वहीं गद्य को प्रशाखा की उपलब्धि भी हुई। लेखकों ने इस नवीन प्रशाखा में अत्यधिक रचना की और उसे स्वतंत्र शाखा के रूप में स्वीकार करना पड़ा। यही हिंदी में 'गद्य-काव्य' के नाम से प्रसिद्ध और प्रचलित है। अब स्वतः इसमें भी अनेक प्रकार की रचनाएँ होने लगी हैं, जिनका विवेचन कुछ दिनों में स्वतंत्र रूप से करने की आवश्यकता पड़ेगी, शैलीगत अनेक भेद दिखाई पड़ने लगे हैं। कहीं कहीं इनमें 'वस्तु' या घटनाओं का भी योग रहता है, अतः कुछ लोग इन्हें कहानियों के अंतर्गत करना चाहते हैं। पर वस्तुतः ऐसा ठीक नहीं। कहानी घटना-प्रधान कृति है। घटना-प्रधान कहने का तात्पर्य यह है कि लेखक पाठक की दृष्टि को घटना की ओर ले जाना चाहता है और स्वतः पाठक भी कहानी में घटना-चक्र का ही प्रवर्तन देखने में लगा रहता है। उसकी कुतूहल-वृत्ति सजग रहती है। इसी से कहानी में सच पूछिए तो कुतूहल-तत्त्व (एलिमेंट आव् सस्पेंस) का विशेष रूप से विनियोग करना पड़ता है। यही उसकी पकड़ भी है। 'गद्य-काव्य' वस्तुतः वह गद्य-रचना है जिसमें कविता का तत्त्व विशेष रूप से जोड़ लिया गया है। वह 'काव्यात्मक निबंध' है, 'काव्यात्मक कहानी' नहीं। उसमें 'विचार' तत्त्व का एकांत बहिष्कार नहीं रहता।

अधुना समाचार-पत्रों के प्रसार के साथ ही साहित्य का प्रसार भी लगा हुआ है। कहानियों के अधिक निर्माण में समाचार-पत्रों का भी योग है। उनके निमित्त 'लाघव' के विचार से कहानियों का आकार छोटा होने लगा और कहीं-कहीं तो वह बहुत छोटा हो गया। लेखकों की रुचि और कौशल के विविध रूप-प्रदर्शन की हेतुता स्वीकार करते हुए भी यह कहने में कोई संकोच नहीं कि इस 'लाघव' के कारण समाचार-पत्र भी हैं। ठीक इसी प्रकार निबंध के विचार-प्रधान क्षेत्र में

भी 'लाघव' की प्रवृत्ति जगी। उसके फलस्वरूप ऐसी विचार-बद्ध कृतियाँ भी निर्मित होने लगीं जो 'रेखा-चित्र' या स्थूल चित्र (स्केच) के रूप में सामने आईं। इनमें कहीं तो कुछ शब्दों को ही लेकर विचार-सरणि चली और कहीं व्यक्ति को, कहीं वस्तु को, कहीं भाव को, कहीं स्मृति को तथा कहीं व्यंग्य को। इन स्थूल चित्रों में इसी से अनेक स्वरूप भी दिखाई पड़ने लगे हैं।

साहित्य संगीत और चित्र कलाओं से बराबर सहायता लिया करता है और अधिक भी लेता है। संगीतकला की सहायता नाद-सौंदर्य के हेतु होती है और चित्र-कला की सहायता 'रूप-चित्रण' के हेतु। 'रूप-चित्रण' में 'रूप' शब्द व्यापक अर्थ में प्रयुक्त समझिए। बाहरी और भीतरी, कृति, व्यक्ति और घटना, एवम् प्रकृति, हृदय और मस्तिष्क सब की और सब प्रकार की आकृति के अर्थ में इस शब्द को सकारिए। चित्र कभी पूरा होता है और कभी अधूरा, कभी सांकेतिक होता है और कभी रेखा-मात्र। कविता में इनमें से अनेक प्रकारों का प्रयोग बहुत पहले से होता आ रहा है और अब तो सबका समावेश हो चुका है। पर संगीत-तत्त्व या नाद-सौंदर्य का वास्तविक क्षेत्र पद्य ही है, गद्य में तो कभी-कभी अनुप्रासादि नाद-मूलक अलंकारों के विधान के रूप में ही वह देखा जाता है। चित्र या मूर्ति-तत्त्व का रूप-विधान दोनों के लिए समान है। इन लघुकाय और लाघवमूलक निबंधों में वस्तुतः चित्र-तत्त्व का विधान रेखामात्र ही होता है। किसी विचार का सोता सहसा फूट पड़ता है और लेखक उसे रेखामात्र या स्थूल चित्र के रूप में प्रस्तुत कर देता है। 'लाघव' से केवल 'लघुकत्व' ही न समझें, स्फूर्ति का भी ग्रहण करें।

इस प्रकार स्पष्ट है कि ऐसे निबंधों में चित्र-तत्त्व की सहायता अधिक मात्रा में ली जाती है, प्रत्युत कहना चाहिए कि इनमें उसके विशेष विधान से ही यह नूतनता संघटित हुई है। बस, इसी से यह भी सिद्ध है कि ऐसी रचनाओं में कला-पक्ष की फड़फड़ाहट अधिक रहती है। जहाँ कला-पक्ष का फैलाव हुआ वहाँ व्यक्तित्व का पंख भी लगा। अतः ये रेखामात्र निबंध अधिकतर व्यक्ति-विशिष्ट होते हैं। यह दूसरी बात है कि लेखक ऐसा लोकबद्ध चित्रण करे कि ग्राहकों का उससे तादात्म्य हो जाय। व्यक्तित्व के प्राधान्य के साथ ऐसी कृति में 'लघुकत्व' की बात भी लगी रहती है, इसी से प्रायः इनमें मनोरंजन का ध्यान विशेष रखना पड़ता है। इनमें हास्यविनोद, व्यंग्य-वक्रता, चुटकी-चिकोटी आदि का पुट बहुत रहता है। ऐसी रचनाओं को लोग चाव से इसीलिए उठाते हैं

कि इनमें हँसने की सामग्री मिल जायगी। इसलिए इनके प्रसंग में हास्य-विनोद और व्यंग्य-वक्रता का भी कुछ विचार कर लेना उचित होगा।

'हास' सुखात्मक भाव है और रति-भाव का सहायक माना जाता है। इसमें संदेह नहीं कि 'हास-भाव' का विकास 'रति या राग के विकसित होने के अनंतर की सामाजिक स्थिति का परिणाम है। इसलिए इसका सहायक रूप में ग्रहण होना ठीक ही है। हास्य को श्रृंगार की अनुकृति कहकर भरतमुनि ने स्पष्ट कर दिया है कि यह श्रृंगार से कितना और किस प्रकार संबद्ध है—

श्रृंगारानुकृतिर्या तु स हास्य इति संज्ञितः।

—नाट्यशास्त्र ६।४०

श्रृंगार से हास्य उत्पन्न होता है। 'श्रृंगाराद्धि भवेत् हास्यः' कहने का विशेष कारण है। वह उससे उत्पन्न हुआ है का तात्पर्य यही है कि 'राग' में ही 'हास' के विकास का बीज है। यह भी 'सुखात्मक भाव' है और किसी प्रकार की विकृत वेश-रचना, उक्ति आदि में इसको विषय या आलंबन मिलता है अर्थात् जिस आलंबन के प्रति 'हास' होता है, उसके प्रति 'राग' भी होता है। यदि 'राग' न होकर कोई दुःखात्मक भाव अथवा विरति हो तो 'हास' अपने प्रकृत रूप की रक्षा न कर सकेगा। उन दोनों का मेल न मिल सकेगा। पर इधर हमारे वर्तमान हिंदी-साहित्य में पश्चिम की देखादेखी ऐसी रचनाएँ भी की जाने लगी हैं जिनमें एक ही आलंबन के प्रति हास और करुणा दो बेमेल भाव एक ही समय में दिखाए जाते हैं। यह ठीक नहीं है। 'हास' के साथ उसी आलंबन के प्रति न तो करुणा दिखाई जानी चाहिए न घृणा। मन की एक ही समय में दो प्रकार की स्थिति एक ही आलंबन के प्रति अशास्त्रीय है, अनुभव-बाह्य है और मूल भाव की विघातिनी भी है। 'हास' के प्रदर्शन से हास्यरस का अच्छा और निर्मल अभिव्यंजन इस प्रकार तो नहीं हो सकता, विलक्षणता चाहे जितनी दिखाई दे। आजकल के व्यंग्य-विनोद में जो सामाजिक शिष्टाचार का भी कभी-कभी विसर्जन दिखाई देता है उसका हेतु यही बेमेल संयोग है। 'हास' के साथ 'घृणा', राग के साथ विराग, प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति, नासा-स्पंदन के साथ नासिका-आकुंचन कैसे ठीक बैठ सकता है। रही 'करुणा', सो हँसना और रोना, एक आँख से हर्ष के और दूसरी से विषाद के अश्रु गिराना, दोनों को साथ-साथ एक ही आलंबन के प्रति दिखाना विलक्षणता का प्रदर्शन मात्र करना है। उसकी 'रसवत्ता' को बिगाड़ना है। इसीसे यहाँ (भारतीय परंपरा में) 'हास' शिवजी के प्रति होता था, जिनके प्रति भक्ति-भाव भी होता था, हँसी यहाँ बड़ों बड़ों की उड़ाई जाती थी, पर श्रद्धा-संवलित या भक्ति-भावित वृत्ति से। 'हास' इसी से 'उपहास' नहीं होता था, हलकेपन को,

नीची स्थिति को नहीं प्राप्त करता था और न वह 'परिहास' ही बन जाता था—व्यक्तिगत प्रकृति का परिचायक, हँसी में डूबे हुओं के शील का द्योतक।

जो भी हो, इतना तो स्पष्ट है कि हास का शृंगार से संबंध है और घनिष्ठ संबंध है। इसी से हास-विनोद के साथ-साथ शृंगार लगा रहता है, पहले भी लगा रहता था और अब भी। संप्रति 'हास' की रचना लिखनेवाले भी कामवृत्ति या मिथुन-प्रवृत्ति (सेक्स) से अपने को कहाँ बचा पाते हैं। पहले का 'हास' अधिकतर श्लील होता था, पर अब वह अधिकतर अश्लील होने लगा है। पहले कुछ भाट आदि ही भँडौआ लिखा करते थे, भाँड़ों की नकल करते थे। पर अब शिष्ट लोगों में भी वैसी प्रवृत्ति प्रतिध्वनित होने लगी है, मनोरंजन के बहाने साहित्य में आने लगी है, समाचार-पत्रों के मनोरंजनी स्तंभों से टकराती हुई। अस्तु, चाहे विकृत रूप में हो, चाहे प्रकृत रूप में, साहित्य में शृंगार के साथ हास्य लगा रहता है और हास्य के साथ शृंगार। 'हास' के प्रयोग में इसी से बड़ी सावधानी अपेक्षित होती है, यदि थोड़ा सा भी कोई चूका कि वह हलकेपन के रूप में दिखाई पड़ा। रूढ़ियों को तोड़ते-तोड़ते वह सामाजिक मर्यादा को भी तोड़ डालता है।

यही क्यों, हास मनोविज्ञान की दृष्टि से भी वस्तुतः संकल्पहीन और लक्ष्य-हीन भाव है, इसलिए उसकी अनुभूति के समय किसी विशेष प्रकार के प्रयत्न-प्रयास की अपेक्षा नहीं रहती। कोई पड़े-पड़े बड़े मजे में हँस सकता है और दूसरों को उसी स्थिति में हँसा भी सकता है। मोटे आदमी जिनके लिए अधिक उठना बैठना कष्टसाध्य या श्रमसाध्य होता है, पड़े पड़े हँसते-हँसाते रहते हैं। इसी से हँसोड़पन की प्रकृति गंभीरता की विरोधिनी होती है। हँसने-हँसाने की अधिक प्रवृत्तिवाले या उसके अभ्यासी को गांभीर्य का विसर्जन कर ही देना पड़ता है। हास्य (मनोरंजन) और अद्भुत (विलक्षणता) के विशेष प्रचलित और मान्य होने से साहित्य की उच्चता का ह्रास होने लगता है। संप्रति हिंदी में 'हास' का अति व्यवहार भी गंभीरता की ओर से बहुतों को विमुख और विरत किए हुए है, इसमें संदेह नहीं।

पर हास का सावधानी से प्रयोग समाज के लिए विशेष गुणद भी होता है। अँगरेजी में हास-विनोद और व्यंग्य-वक्रता का जो महत्त्व माना जाता है वह इसीलिए। तीखा और सच्चा व्यंग्य, जिसमें कालुष्य न हो, बड़े काम का होता है। व्यंग्य (सटायर) की हिंदी में धूम है। पर प्रकृत व्यंग्य-लेखक इने गिने ही हैं।

'हास्य' स्वस्थ भी होता है और परस्थ भी। कोई स्वतः हँसता भी है और

हँसकर दूसरों को हँसा भी सकता है। जो लेखक केवल हँसनेवाला न हो केवल दूसरों की हँसी उड़ानेवाला न हो, प्रत्युत हँसानेवाला भी हो, उसे भी हँसाए जिसको वह 'हास' का आलंबन बनाता है, तभी 'हास्य' का उद्देश्य सामाजिक दृष्टि से सिद्ध होता है। 'हास' सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकार का होता है। साहित्य में सात्त्विक 'हास' ही उपयोगी होता है, 'राजस' हास अर्थात् दूसरों को नीचा समझने की दृष्टि से किया हुआ 'हास', जीवन में चाहे हो पर भारतीय दृष्टि से समाज और साहित्य दोनों के काम का नहीं। तामस हास जिसमें बड़ों की कुत्सा 'हास' के बहाने की जाय, साहित्य क्या 'समाज' के काम का भी नहीं होता।

वस्तुतः पश्चिम में भी कटु व्यंग्य (सटायर) और मर्मघाती वक्रता (आयरनी) को ऊँचे स्तर की वस्तु नहीं समझते। विदग्धता (विट) को ही अच्छा मानते हैं। विदग्धता सहजा होती है, उत्पाद्या नहीं। अतः 'हास' के क्षेत्र में उन्हीं को हाथ लगाना और मुँह खोलना चाहिए जिनमें यह सहज गुण हो और विदग्धता के रूप में हो। पश्चिमी साहित्य के अनुगमन के साथ-साथ अपने यहाँ के साहित्य को केवल मनोरंजन की वस्तु बना डालना ठीक नहीं। साहित्य का उद्देश्य गंभीर है। अतः रेखामात्र निबंधों में यदि हास्य-विनोद का गाढ़ा रंग रहेगा तो उनका 'लघुकत्व' ऐसा हो जायगा कि साहित्य के क्षेत्र से उन्हें निकालना पड़ेगा।

'पुस्तकालोचन'

'पुस्तक' शब्द का अर्थ यद्यपि बहुत स्पष्ट है तथापि पत्रकार की दृष्टि से 'पुस्तक' के अंतर्गत समाचार-पत्र, विचार-पत्र, उनके विशेषांक आदि का भी ग्रहण होता है और कभी कभी संस्थाओं के कार्य-विवरणों का भी। इस प्रकार 'पुस्तक' शब्द की सीमा के अंतर्गत वह सारी आलोच्य सामग्री आ जाती है जो मुद्रित या कभी-कभी लिखित भी हो। यद्यपि पत्रों में कभी-कभी 'नमक सुलेमानी' आदि उपयोगी वस्तुओं की भी आलोचना प्रकाशित होती है, तथापि 'पुस्तक' शब्द की सीमा इतनी दूर तक नहीं बढ़ाई जा सकती। यहाँ जो कुछ विचार करना है वह 'पत्रकारों' की दृष्टि से ही करना है। अतः यहाँ पर इस बात का भी विचार कर लेना आवश्यकता है कि 'पत्रकार' अन्य लोगों से पुस्तक-समालोचना की दृष्टि से कुछ भिन्न है।

'पुस्तक' में वर्णित, कथित या प्रतिपादित विषय अनेक प्रकार के हो सकते हैं। कभी किसी कवि या लेखक की रची कारयित्री प्रतिभा की देन कोई पुस्तक आलोच्य होगी और कभी कवि या लेखक की ऐसी कृति की समीक्षा या समीक्षा-संबंधी सिद्धांत की पुस्तक आलोच्य होगी। कभी भाषा-संबंधी कोई पुस्तक सामने आएगी और कभी साहित्य के इतिहास की पोथी। कभी किसी प्राचीन कवि का संपादित ग्रंथ सामने पड़ा होगा या उसकी टीका होगी। यही नहीं कभी-कभी दूसरी भाषाओं से किए हुए अनुवाद भी होंगे। ठीक इसी प्रकार साहित्य के अतिरिक्त अन्य विषयों के ग्रंथ भी होंगे। राजनीति, दर्शन, अर्थशास्त्र, इतिहास, व्यापार-शास्त्र, गणित, विज्ञान आदि सभी विषयों की पुस्तकें समालोचना के लिए आया करती हैं। भाषा के साहित्यिक कोश, वैज्ञानिक कोश भी आते हैं। यही क्यों, अन्य-अन्य भाषाओं की पुस्तकें भी विरल आती हैं, पर आती हैं। उनकी आलोचना की बात अभी छोड़ दी जाती है। इतने बड़े वाङ्मय की आलोचना करना सरल काम नहीं है। अतः संपादक या पत्रकार का उत्तरदायित्व बहुत अधिक हो जाता है। विभिन्न भाषाओं की पोथियों और विभिन्न विषयों के ग्रंथों को दृष्टि में रखकर यह मानना पड़ता है कि पत्रकार की योग्यता, यदि वही समालोचक हो, तो बहुत बड़ी होनी चाहिए। इसमें संदेह नहीं कि संपादक या पत्रकार को सब

विषयों का कुछ-कुछ तत्त्व अवश्य जानना चाहिए। वह किसी विशेष विषय का पूर्ण ज्ञाता हो या नहीं, इसका विचार करना यहाँ अनावश्यक है, पर उसे सब विषयों का साधारण ज्ञान अवश्य होना चाहिए। जिस प्रकार साहित्य-विद्या अपने में सब प्रकार की विद्याओं के ज्ञान का समाहार कर लेती है उसी प्रकार संपादकीय विद्या में भी सब प्रकार के विषयों का ज्ञान होना ही चाहिए। यह दूसरी बात है कि वह 'पांडित्य' 'पल्लवग्राह्य' हो, 'चंचुप्रवेश' मात्र हो। समालोचना का उत्तरदायित्व यही बतलाता है। कहा जा सकता है कि अच्छा संपादक सच्चा साहित्यज्ञ हो सकता है, पर अधुना जगत् राजनीति का प्राधान्य स्वीकार करके चल रहा है, अतः प्रायः समाचार-पत्रों के संपादक तो राजनीतिज्ञ ही होते हैं, विचार-पत्रों के, मासिक पत्र-पत्रिकाओं के, संपादकों के लिए भी बहुत कुछ नहीं तो कुछ-कुछ वैसी ही योग्यता अपेक्षित समझी जाती है। अस्तु।

विषयों का बाहुल्य ही नहीं पत्र-भेद से समालोचना के स्वरूप, परिमाण, वैशिष्ट्य आदि में भी भेद होता है। नित्य प्रकाशित होने के कारण दैनिक पत्रों में अपेक्षाकृत स्थान अधिक रहता है, पर उनका स्थायित्व एक दो दिन का ही होता है। दूसरा अंक आया और पहला बासी हुआ। पढ़नेवाले उसे समाचार की दृष्टि से ही लिया करते हैं, अतः आलोचना पर उनकी दृष्टि प्रायः कम ही जाती है। यही कारण है कि दैनिक समाचार-पत्रों में नित्य 'आलोचना' निकालने का नियम नहीं है। अब उनके साप्ताहिक या रविवारी अंकों में ही आलोचना प्रकाशित हुआ करती है। मासिक-पत्रों में आलोचनाएँ दूसरे ढंग की निकलती हैं, त्रैमासिक या शोध-संबंधी पत्रों में आलोचना-विषय और ग्रंथ प्रायः अनुसंधानात्मक होते हैं। पत्रों की वर्तमान पद्धति से यह स्पष्ट हो गया है कि जहाँ तक पुस्तक-समालोचना का संबंध है वह समाचार-पत्रों की चीज न होकर विचार-पत्रों की ही चीज है। यदि समाचार-पत्रों में भी वह निकले तो वह उसके विचार-पत्र में ही निकाली जा सकती है। अतः समालोचना से उन्हीं को मोरचा लेना पड़ेगा, जो ऐसे पत्रों के संपादक या पत्रकार होंगे या उसकी विचार-शाला से संबद्ध होंगे।

यही नहीं, पत्रों में संप्रति यह परंपरा चल पड़ी है कि वे विभिन्न शाखाओं के लिए अनेकानेक आलोचकों की नियोजना कर लिया करते हैं। इस व्यवस्था से प्रत्येक विषय के अच्छे-अच्छे विद्वान् आलोचक के रूप में उन्हें मिल जाते हैं। पर इससे जितना ही लाभ है, पत्र की उतनी ही हानि भी है। समालोचक प्रायः देर से समालोचना भेजा करते हैं। कभी-कभी तो अनेक ग्रंथ उनके यहाँ वर्षों पड़े रह जाते हैं। जिन्हें तत्पर समालोचक मिल जाते हैं उनका काम आगे बढ़ता है, जिन्हें ऐसे आलोचक नहीं मिलते उनके यहाँ पुस्तकें बहुत कम आलोचना के

यदि पुस्तक मोटी होने पर भी मूल्य कम है तो यह भी आलोच्य बात हो जाती है। 'बाह्य परीक्षा एक प्रकार से प्रकाशक की आलोचना होती है। कभी कभी इसकी सीमा में लेखक भी आ जाया करता है। एक बार 'सरस्वती' में पंडित महावीर-प्रसाद द्विवेदी ने एक पुस्तक की आलोचना करते हुए लिखा था कि पुस्तक सचित्र है, पर पाठक यह न समझें कि इसमें तरह तरह के अनेक चित्र हैं। इसमें लेखक ने कई रंगों में छपा अपना ही चित्र दिया है। भ्रम उत्पन्न करनेवाले या वंचना से संबंध रखनेवाले तौर-तरीकों की आलोचना इसी के अंतर्गत आती है। सजधज की आलोचना, छपाई-संबंधी अशुद्धि का विचार भी उपेक्षणीय नहीं है। लेखकों या प्रकाशकों में प्रचलित भद्दी मनोवृत्ति का नियंत्रण बाह्य परीक्षा के द्वारा ही हो सकती है और होनी भी चाहिए। जैसे एक बात की ओर ध्यान दीजिए। हिंदी के अच्छे-अच्छे लेखक अपने नाम के पहले अपनी लिखी पुस्तक में विद्वद्वर, पंडित, बाबू आदि विशेषण नहीं जोड़ते। हाँ, परीक्षा-संबंधी उपाधियाँ अवश्य जुड़ी रहती हैं। पर संप्रति अधिकतर पुस्तकों में विद्वत्ता या जाति-वैशिष्ट्य-बोधक विशेषणों का क्या कहना है। 'कवि' अपने को अब 'कविवर' से तोक म लिखना ही नहीं चाहते, 'महाकवि' छपाने की लालसा बहुतों को हो रही है। लेखक 'श्री' 'पं०' या 'बाबू' से संतोष कर लें तो भी कोई बात है, पर विद्वद्वर, प्रख्यात लेखक, महापंडित आदि के बिना उनका काम नहीं चलता। पहले लेखक विद्वद्विधेय होते थे, पर अब 'विद्वद्वरेण्य' होने लगे हैं।

अब आभ्यंतर परीक्षा की ओर आइए। पुस्तक द्वारा प्रस्तुत विषय की समीक्षा का विचार करने के पूर्व यह बतला देना आवश्यक है कि उसके अतिरिक्त भाषा और शैली का विचार करना भी आवश्यक है। शैली की मीमांसा तो आलोचना में कभी-कभी हुआ करती है, पर भाषा पर विचार बिलकुल नहीं किया जाता। भाषा पर विचार करना हिंदी के विद्वानों ने बंद कर रखा है। द्विवेदीजी ने तो आर्यसमाज की एक बहुत छोटी पोथी (ट्रैक्ट) तक का भाषा की दृष्टि से बहुत अधिक विचार किया था। भाषा के अंतर्गत उसके शुद्धाशुद्ध रूप तो आते ही हैं, प्रवाह और सरलता की बात भी आती है। यदि व्याकरण की दृष्टि से कोई पुस्तक अशुद्ध है तो उसकी कड़ी आलोचना होनी चाहिए। क्योंकि ऐसा न होने से भाषा के स्वरूप को बहुत बड़ी क्षति पहुँच रही है। अशुद्ध पुस्तकें पढ़कर पाठक भी अशुद्ध भाषा का व्यवहार करने लगे हैं, और कोई रोकथाम न होने से हमारी भाषा दिन दिन बिगड़ती जा रही है। प्रवाह और सरलता इसलिए अपेक्षित है कि आज का पाठक संसार के अनेकानेक विषयों की जानकारी प्राप्त करना चाहता है और ऐसा करना उसके लिए अनिवार्य हो गया है। आज के मनुष्य का काम,

विषय का बोध करानेवाली कोई पोथी नहीं है तो इस प्रकार की पोथी का सामान्य पाठक की दृष्टि से बहुत अधिक महत्त्व है। साधारण जनता के लिए जैसे और जितने ग्रंथ हो सकते हैं पत्रों को उन पर सबसे अधिक दृष्टि रखनी चाहिए। किसी विषय के क्लिष्ट ग्रंथ भी हो सकते हैं। उनमें गूढ़ विषयों का प्रतिपादन हो सकता है। ऐसे ग्रंथों की विशेषता बतला देना कर्तव्य है। उनकी विस्तृत समीक्षा निबंध के रूप में अधिकारी विद्वानों से कराई जा सकती है, पर वह आलोचना मासिक-पत्रों या शोध-संबंधी-पत्रों के काम की होगी; दैनिक, साप्ताहिक या पाक्षिक पत्र के काम की नहीं।

उपर्युक्त विवेचन से पुस्तक-समालोचना का क्षेत्र पत्र की दृष्टि से परिमित हो जाता है। पर इसके साथ ही साथ उत्तरदायित्व बढ़ भी जाता है। प्रचलित पुस्तकावलोकन की पद्धति ठीक नहीं जान पड़ती। अधिकतर आलोचनाएँ तो ऐसी प्रकाशित होती हैं जिनमें प्रशंसात्मक पदावली का न्यास-मात्र रहता है। पदावली भी कैसी रटी हुई, सर्वव्यापिनी; जब चाहिए तब किसी विषय की पुस्तक के संबंध में वही पदावली जोड़कर पर्यायवाची शब्दों से बदलकर प्रकाशित की जा सकती है। यह समालोचना तो नहीं है और चाहे जो कुछ हो। ऐसे ही करीनों से पत्रकार, विशेषतः हिंदी के पत्रकार बदनाम हो रहे हैं। पश्चिम में भी पत्रकार-कला विषय-बोध की दृष्टि से गहरी कला नहीं समझी जाती। पर उत्तरदायित्व का ध्यान उन्हें भी रखना पड़ता है। विशेषतया पुस्तकावलोकन के अंतर्गत ऐसी नपी तुली सर्वत्र कार्यक्षम शब्दावली का व्यवहार वहाँ के प्रतिष्ठित पत्रों की नीति नहीं है। कहना यह है कि ऐसी आलोचना आलोचना नहीं है। आलोचना का अर्थ ही है भली भाँति किसी ग्रंथ या अलोच्य सामग्री का निरीक्षण। पर पत्रकार की दृष्टि से आलोचना का क्षेत्र परिमित रहा है और रहना भी चाहिए।

अब इस बात पर विचार करना है कि पत्रकार-आलोचक ग्रंथ की 'समोलचना' में अपनी दृष्टि किन किन बातों पर रखे। पुस्तक की परीक्षा पत्रकार की दृष्टि से बाह्य और आभ्यंतर दोनों प्रकार की होती है। बाह्य परीक्षा को साधारण समझकर उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। बाह्य परीक्षा के अंतर्गत पुस्तक का नाम, लेखक-प्रकाशक का नाम, पृष्ठसंख्या, मूल्य, छपाई-सफाई, चित्रादि का उल्लेख करने की प्रथा है। पुस्तक के आकार का निर्देश भी पहले किया जाता था। पर अब उसका उल्लेख प्रायः नहीं होता। यदि साधारण डबलक्राउन के सोलह पृष्ठों में पुस्तक न छपी हो तो उससे बड़े आकार का उल्लेख भी होना चाहिए। पत्रकार-आलोचक केवल विषय या वर्ण्य वस्तु की ही आलोचना नहीं करता, उसे ग्रंथ के रंग-ढंग की भी परीक्षा करनी पड़ती है।

यदि पुस्तक मोटी होने पर भी मूल्य कम है तो यह भी आलोच्य बात हो जाती है। 'बाह्य परीक्षा एक प्रकार से प्रकाशक की आलोचना होती है। कभी कभी इसकी सीमा में लेखक भी आ जाया करता है। एक बार 'सरस्वती' में पंडित महावीर-प्रसाद द्विवेदी ने एक पुस्तक की आलोचना करते हुए लिखा था कि पुस्तक सचित्र है, पर पाठक यह न समझें कि इसमें तरह तरह के अनेक चित्र हैं। इसमें लेखक ने कई रंगों में छपा अपना ही चित्र दिया है। भ्रम उत्पन्न करनेवाले या वंचना से संबंध रखनेवाले तौर-तरीकों की आलोचना इसी के अंतर्गत आती है। सजधज की आलोचना, छपाई-संबंधी अशुद्धि का विचार भी उपेक्षणीय नहीं है। लेखकों या प्रकाशकों में प्रचलित भद्दी मनोवृत्ति का नियंत्रण बाह्य परीक्षा के द्वारा ही हो सकती है और होनी भी चाहिए। जैसे एक बात की ओर ध्यान दीजिए। हिंदी के अच्छे-अच्छे लेखक अपने नाम के पहले अपनी लिखी पुस्तक में विद्वद्वर, पंडित, बाबू आदि विशेषण नहीं जोड़ते। हाँ, परीक्षा-संबंधी उपाधियाँ अवश्य जुड़ी रहती हैं। पर संप्रति अधिकतर पुस्तकों में विद्वत्ता या जाति-वैशिष्ट्य-बोधक विशेषणों का क्या कहना है। 'कवि' अपने को अब 'कविवर' से तोक म लिखना ही नहीं चाहते, 'महाकवि' छपाने की लालसा बहुतों को हो रही है। लेखक 'श्री' 'पं०' या 'बाबू' से संतोष कर लें तो भी कोई बात है, पर विद्वद्वर, प्रख्यात लेखक, महापंडित आदि के बिना उनका काम नहीं चलता। पहले लेखक विद्वद्विधेय होते थे, पर अब 'विद्वद्वरेण्य' होने लगे हैं।

अब आभ्यंतर परीक्षा की ओर आइए। पुस्तक द्वारा प्रस्तुत विषय की समीक्षा का विचार करने के पूर्व यह बतला देना आवश्यक है कि उसके अतिरिक्त भाषा और शैली का विचार करना भी आवश्यक है। शैली की मीमांसा तो आलोचना में कभी-कभी हुआ करती है, पर भाषा पर विचार बिलकुल नहीं किया जाता। भाषा पर विचार करना हिंदी के विद्वानों ने बंद कर रखा है। द्विवेदीजी ने तो आर्यसमाज की एक बहुत छोटी पोथी (ट्रैक्ट) तक का भाषा की दृष्टि से बहुत अधिक विचार किया था। भाषा के अंतर्गत उसके शुद्धाशुद्ध रूप तो आते ही हैं, प्रवाह और सरलता की बात भी आती है। यदि व्याकरण की दृष्टि से कोई पुस्तक अशुद्ध है तो उसकी कड़ी आलोचना होनी चाहिए। क्योंकि ऐसा न होने से भाषा के स्वरूप को बहुत बड़ी क्षति पहुँच रही है। अशुद्ध पुस्तकें पढ़कर पाठक भी अशुद्ध भाषा का व्यवहार करने लगे हैं, और कोई रोकथाम न होने से हमारी भाषा दिन दिन बिगड़ती जा रही है। प्रवाह और सरलता इसलिए अपेक्षित है कि आज का पाठक संसार के अनेकानेक विषयों की जानकारी प्राप्त करना चाहता है और ऐसा करना उसके लिए अनिवार्य हो गया है। आज के मनुष्य का काम,

'छंद' के न रहने या पूर्ण रूप से न रहने से, चल आ सकता है, पर बिना विविध प्रकार की जानकारियों के उसकी बुद्धि एक पग आगे नहीं चल सकती। अतः उसे अनेक विषयों को जानने और समझने की आवश्यकता है। यदि पुस्तक प्रवाह के कारण रोचक और सरलता के द्वारा बोधगम्य न होगी तो सामान्य पाठक के काम न आ सकेगी और विशिष्ट पाठक भी उसे पढ़ना पसंद न करेगा। किसी प्रकार की विवशता ही उसे पढ़ने को विवश करेगी।

१

साहित्य में स्थान

साहित्य के निर्माण में प्रधान रूप से जिन तत्त्वों की योजना की जाती है वे हैं—भाव, विचार और वस्तु। साहित्य की विभिन्न शाखाओं में इन्हीं में से किसी एक तत्त्व की प्रमुखता हो जाया करती है, शेष तो गौण रहा करते हैं। भावमय तत्त्व के अंगी होने से कविता का प्रवर्तन होता है, विचारात्मक तत्त्व के अंगी होने से निबंध का और वस्तु या कथात्मक तत्त्व के अंगी होने से कहानी का। नाटक में यद्यपि कथा और भाव की प्रधानता का सामंजस्य रहता है पर भारतीय दृष्टि से उसमें अंगी भाव या रस ही होता है। इसी से यहाँ उसकी गणना रस-प्रधान साहित्य में ही की गई है। वह श्रुत या श्रव्य काव्य न रहकर दृष्ट या दृश्य काव्य हो जाता है, पर रहता है काव्य या कविता ही। वस्तु की योजना उसमें अपेक्षाकृत गौण ही रहती है। रूपककार केवल घटना-वैचित्र्य पर दृष्टि नहीं रखता और पाठक या दर्शक की दृष्टि भी नाटक के संबंध में केवल घटना-वैचित्र्य पर नहीं रहती। भारतीय मीमांसा के अनुसार 'वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः' अवश्य है, पर उसमें तत्त्व का उत्कर्ष उत्तरोत्तर है अर्थात् वस्तु की अपेक्षा नेता और नेता की अपेक्षा रस प्रकृष्ट है। इसी से 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' की घोषणा की गई। वस्तु उसका कथात्मक तत्त्व है, 'नेता' में विचारात्मक तत्त्व की योजना की जाती थी और 'रस' तो भावात्मक तत्त्व है ही। पर पश्चिम में जहाँ तक कथा कहानी का संबंध है क्रम पलट गया है। नाटक वहाँ अब कथात्मक साहित्य का ही अंग माना जाता है, यहाँ तक कि उसमें से कविता एकदम निकाल बाहर की गई है। भारत में या हिंदी में संप्रति जो नाटक लिखे जाते हैं उनमें कविता अल्प परिमाण में रहती है। जो रहती भी है वह ऊपर से चिपकाई हुई। अधिकतर नाटकों में तो वह रहती ही नहीं। पश्चिमी नाटक 'वस्तु' और 'नेता' या 'चरित्र' अथवा चारित्र्य पर ही विशेष ध्यान देते हैं। इसी से वहाँ के समीक्षक नाटक, उपन्यास और कहानी का विचार एक साथ करते हैं। उन्हें साहित्य की घटनात्मक रचना मानकर ही चलते हैं।

कहानी और उपन्यास में तत्वों की दृष्टि से कोई भेद नहीं है। भेद है घटनाओं की व्यष्टि और समष्टि की योजना की दृष्टि से। कहानी की विस्तार-सीमा छोटी ही होती है, चाहे उसका कितना ही फैलाव क्यों न किया जाय। उपन्यास की विस्तार-सीमा बड़ी ही होती है चाहे उसका कितना ही संकोच क्यों न किया जाय। कहानी जीवन का एक चित्र रखती है—निरपेक्ष, स्वच्छंद। उपन्यास जीवन के एकाधिक चित्रों का योग संघटित करता है—सापेक्ष, संबद्ध। घटना-वैचित्र्य या घटना-चक्र के प्रवर्तन की ओर चित्त को आकृष्ट करने की विशेषता दोनों में ही होती है। कहानी या उपन्यास की चाहे पुरानी कृतियाँ हों चाहे आधुनिक, सबमें घटना-चक्र की ओर आकर्षण की प्रवृत्ति बनी हुई है और बनी रहेगी। इधर कुछ लोग 'गद्य-काव्य' नामक नूतन साहित्यिक शाखा को भी कहानी ही इसलिए मानने लगे हैं कि उसमें कहीं-कहीं कथा या घटना का सहारा विशेष-रूप से लिया जाने लगा है। पर 'गद्य-काव्य' का वास्तविक क्षेत्र 'विचारात्मक' ही होता है। उसमें 'विचार' अंगी होता है, भाव और कथा अंग मात्र। 'अंग' विशेष के प्रदर्शन के कारण कभी उसकी गणना कविता में की जाती है और कभी कहानी में। उसमें भावात्मक तत्त्व का अंश अधिक दिखाई देने के कारण बहुधा लोग उसे 'गद्य-काव्य' या 'गद्य-गीत' कहा करते हैं पर उसे कहना चाहिए काव्यात्मक निबंध या यथास्थान कथात्मक निबंध ही।

निबंध और आलोचना का क्षेत्र एक ही है। दोनों में विचारात्मक तत्त्व की ही प्रधानता रहती है। आलोचना को 'निबंध' या विस्तृत होने पर 'प्रबंध' कहते भी हैं। पर विचार करने पर दोनों में कुछ अंतर भी दिखाई देता है। निबंध में लेखक जिस विषय का विवेचन करता है उसकी सामग्री का आकलन भी उसे ही करना पड़ता है। आलोचना में सामग्री दूसरे या दूसरों के द्वारा आकलित रहती है, उस आकलन को देखना और भली भाँति देख लेना ही उसका काम रहता है, इसी से ऐसे निबंधों का नाम 'आ + लोचना' या 'सम् + ईक्षा' होता है। निबंधों को कुछ लोग जो ज्ञातृपक्ष-प्रधान मानते हैं उसका कारण यही है। पर निबंध चाहे जैसा हो उसमें ज्ञेय-पक्ष या विषय ध्यान में रहता अवश्य है। विचार-सूत्र का छोर विषय से ही बँधा होता है, विवेचन के वृत्त का केंद्र विषय ही रहता है। जो केवल आत्मवैचित्र्य का प्रदर्शन करने को निबंध लिखा करते हैं वे 'निबंध' न लिखकर 'निर्बंध' लिखते हैं। जो विषय के विवेचन या निरूपण से बँधना ही नहीं चाहता वह निबंध क्या लिखेगा। वह 'वादविवाद' से घबराकर 'बकवाद' में लीन होना चाहता है, वह अपनी ही कहना चाहता है किसी को देखना नहीं। वह तो आँखें मूँदकर चलता है। व्यक्तित्व के प्राधान्य की यह

हुआ आलोचकों को भी लगी है और वहाँ भी समीक्षा प्रभावात्मक रूप धारण कर रही है। वह 'आलोचना' नहीं 'आत्मलोचना' अवश्य है। साहित्य में जो अपने को ही देखना और दिखाना चाहते हैं, जो आत्मदर्शन और आत्मप्रदर्शन में ही लगे रहते हैं वे 'साहित्य' का प्रयोजन नहीं समझते, उसका अर्थ नहीं जानते। साहित्य में 'अहम्' या 'व्यक्तित्व' के शमन या दमन का अभ्यास आवश्यक है। साहित्य भी योग है, इसके भी यम-नियम हैं। इसके 'सद्योग' की साधना ही सिद्धि दे सकती है। अस्तु।

वस्तुतः साहित्य की तीन ही प्रधान शाखाएँ दिखाई देती हैं। कविता, निबंध और कहानी। कविता भाव-प्रधान होती है, वह रसात्मक स्थिति निष्पन्न करती है। निबंध विचारप्रधान होता है, वह चिंतनात्मक वृत्ति उद्बुद्ध करता है और कहानी घटनात्मक-प्रधान होती है, वह कुतूहल की प्रवृत्ति जगाती है। एक का व्यंग्य है रिरंसा, दूसरे का लक्ष्य है मीमांसा और तीसरे का वाच्य है जिज्ञासा। मनोवैज्ञानिकों ने काव्यवृत्ति को क्रीडा-वृत्ति (प्ले इंपल्स) कहा है, क्योंकि कविता में रमने की वृत्ति होती है, रमाने की प्रवृत्ति आती है। भारतीयों ने भी कविता को 'रमण' या 'रमणीय' कहा है। कवि रस में डूबकर काव्य-रचना-काल में समाधिस्थ हो जाता है और दूसरे को रसास्वाद-काल में समाधिस्थ करना चाहता है। इसी से कविता में व्यवसायात्मक बुद्धि-प्रधान तत्त्वों का बहुत विधान निषिद्ध माना जाता है। 'व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते।' उसमें ज्ञानात्मक अवयव का प्राधान्य न होना चाहिए, क्योंकि वह मूलतः भावात्मक या भोग-प्रधान है, उसमें चर्वणा और आस्वाद का आनंद है। उपदेशात्मक (डाइडेक्टिक) अंशों की योजना की चर्चा से कवि और भावक जो भड़का करते हैं वह इसी आस्वाद-हानि के कारण। इससे स्पष्ट है कि कविता का प्रभाव हमारे मन या हृदय पर पड़ता है। वह मन से उद्भूत होती है और उसका लक्ष्य भी मन ही होता है।

किन्तु निबंध व्यवसायात्मक होता है, उसमें ज्ञानात्मक अवयव या विचार का प्राधान्य होता है। वह हमारी बुद्धि को उत्तेजित करता है। 'वाङ्मय' के जो दो भेद किए जाते हैं—'काव्य' और 'शास्त्र'—उनमें से निबंध वस्तुतः वाङ्मय का शास्त्र-पक्ष है। वह व्यवस्था या शासन से संबद्ध है। कविता में अव्यवस्था रह सकती है, पर निबंध में अव्यवस्था उसकी कमर तोड़ देगी। कविता रमणी है तो निबंध राजा। कविता सत्त्वोद्रेक से, सात्त्विक भाव से संबद्ध है तो निबंध नीति-नियम से, राजस गुण से निबद्ध। जिस साहित्य में कविता तो हो, पर निबंध या शास्त्र न हो वहाँ अराजकता रहती है। 'निरंकुशाः कवयः' के लिए अंकुश

चाहिए अवश्य, वे उसे कभी-कभी न मानें यह दूसरी बात है। हिंदी के वर्तमान युग में प्रगतिवाद के नाम पर यही हो रहा है। न कोई शास्त्र बनता है न व्यवस्था हो पाती है। राजनीति-प्रधान युग में जैसी घोर अराजकता साहित्य में दिखाई देती है अन्यत्र नहीं। फल यह है कि साहित्यिक राजनीतिज्ञों के पीछे लगा घूमता है। जिसका अपना शास्त्र न होगा, अपनी शासन-व्यवस्था को जो सुदृढ़ न रखेगा वह शासित होगा। आज का कवि शासित है, कभी राज से कभी काम से। उसका शासन किस पर है किन नीतियों पर है वह स्वतः विचार ले। 'शास्त्रेषु भ्रष्टाः कवयो भवन्ति' नीति वर्तमान हिंदी में स्पष्ट दिखाई दे रही है। 'पद्यकवि' और 'गद्यकवि' अथवा लेखक बहुत से हैं, विचारक कम दिखाई देते हैं। लेख बहुत से दिखाई पड़ते हैं, पर उन निबंधों के दर्शन दुर्लभ हैं जिनका प्रयोजन बोध है। निबंध बुद्धि का व्यवसाय है, वह बुद्धिजनित होता है और बुद्धि को ही संवर्धित करता है।

कहानी का लक्ष्य घटना-चक्र होता है, उसमें आकर्षण का विधान आवश्यक होता है, फलतः कहानी में पाठकों की कुतूहल-वृत्ति जागरित की जाती है। इसी से अंगरेजी के समीक्षक कहानी का प्रधान तत्त्व 'कुतूहल' (एलिमेंट आव् सस्पेंस) को ही मानते हैं। यह ठीक भी है। किसी कहानी के पढ़ने से 'आगे क्या हुआ या होनेवाला है' की जिज्ञासा के रूप में कुतूहल बराबर लगा रहता है। कविता की भाँति किसी विशेष भाव में रमाए रखना उसका प्रयोजन नहीं, किसी निबंध की भाँति नूतन ज्ञानोपलब्धि उसका फल नहीं, उसका मुख्य उद्देश्य होता है 'रंजन'। इस रंजन के लिए वह कुतूहल का सहारा लेती है। वह अनुसंधानात्मक चित्तवृत्ति की परितुष्टि करती है। कविता के द्वारा भी 'रंजन' होता है, पर 'रंजन' उसका गौण लक्ष्य होता है। 'रमण' के अनंतर 'रंजन' उसमें भी होता है, किंतु वह द्वितीय-स्थानीय है, कहानी में 'रंजन' प्रथम-स्थानीय है। 'चित्त-रंजन' की विशेषता कहानी में सबसे अधिक होती है। कविता में रंजन की वृत्ति जब बढ़ती है तो वह अपने ऊँचे पद से गिर जाती है। यमक, अनुप्रास, श्लेष आदि अलंकारों का अधिक लदाव कविता में रंजन की प्रधानता व्यक्त करता है और अलंकार मात्र, वाच्य-प्रधान काव्य को अवर (निकृष्ट) काव्य प्राचीन आचार्यों ने भी माना है। स्मरण रखना चाहिए कि कविता और निबंध दोनों के लिए 'अवकाश' अधिक चाहिए। उनमें इससे स्थायित्व भी अधिक होता है। कहानी के लिए उतने अधिक 'अवकाश' की आवश्यकता नहीं होती। न लेखक के लिए और न पाठक के लिए। कविता और निबंध दोनों के लिए कोलाहल और हलचल से कुछ दूर रहने की अपेक्षा होती है—

'तुमुल कोलाहल कलह में मैं हृदय की बात रे मन'—(प्रसाद)। कहानी कोलाहल और कलह के बीच भी चल सकती है। श्री प्रेमचंदजी काशी में गोरखनाथ के टीले के आगेवाले चबूतरे पर टीन की छाया के नीचे कुर्सी पर बैठे, सड़क की ओर मुँह किए बराबर कहानी लिखा करते थे। रेल की यात्रा करनेवाले अधिकतर कहानियों के ही संग्रह पढ़ते हैं। कहानी में गांभीर्य होता ही नहीं, यह कहना प्रयोजन नहीं। केवल बतलाना यह है कि उसको गांभीर्य की सदा आवश्यकता नहीं पड़ती। इस प्रकार यह कहने में कोई बाधा नहीं कि तारतम्य के विचार से साहित्य में कथा-कहानी का स्थान तीसरा है।

२

'यथार्थ' का विचार

संप्रति जीवन में संकुलता और संघर्ष की वृद्धि हो जाने के कारण 'अ
की प्रायः कमी होती जा रही है। फलस्वरूप कविता का मानदंड गिरता ज
है, निबंध की महिमा घटती जा रही है। पर कहानियों को पंख लग गए
प्रत्येक पत्र में कहानी अवश्य रहती है, कविता और निबंध चाहे न हों। कहा
के स्वतंत्र पत्र एक दो नहीं, दस-बीस हिंदी में ही निकलने लगे हैं। क्या वे
कविता का एक भी पत्र कहीं से निकलता है? केवल निबंध (लेख नहीं)
कितने स्वतंत्र पत्र निकलते हैं? एक भी नहीं। यदि साहित्य की किसी विशेष शा
के अत्यधिक विस्तार के कारण कोई कहना चाहे तो आज के युग को 'कहानी युग' बेखटके कह सकता है। कहानी ने कविता को दबाया, निबंधों को भगाय नाटकों को नचाया और उपन्यासों को डराया। उपन्यास डर से ही तो सिकुड़क छोटे होते जा रहे हैं। बड़े-बड़े नाटकों के बदले 'एकांकी' लिखने का जो अधिक चलन हो रहा है वह इसी से कि कहानी सुनते-सुनते और सुनाते-सुनाते पाठक और लेखक ऊब गए हैं। पर पाठक सुनना कहानी ही चाहता है, लेखक सुनाना भी कहानी ही चाहता है। इसी से आजकल के 'एकांकी' नाटक न होकर प्रायः कहानी ही होते हैं। उनमें दिए जानेवाले 'रंग-निर्देश' (स्टेज डाइरेक्शन) से यह बात स्पष्ट है। यह 'रंग-निर्देश' किसी-किसी एकांकी में उसके पूरे आकार के कभी-कभी आधे से भी अधिक हो जाता है। कार्यव्यापार (ऐक्शन) का अधिकतर कृतियों में अभाव होता है। खेलकर दिखाए जाने पर बहुतों की प्रशंसा नहीं होती, इस प्रकार न उनमें नाटकीयता होती है और न अभिनेयता ही। केवल संवाद में लिख देने से कोई रचना नाटक नहीं कही जा सकती। संवाद में आद्यन्त लिखी कहानी भी हो सकती है। प्रेमचंद ने ऐसी कहानियाँ लिखी हैं, उन्हें किसी ने कभी नाटक नहीं कहा।

मनुष्य में कहानी कहने-सुनने की वृत्ति बहुत पुरानी है। वाङ्मय के रूप में कविता भले ही पहले दिखाई दे और कहानी पीछे, भले ही आदिकवि परंपरा में पहले हों, पर अपने उद्भव के विचार से कहानी कविता से पहले हुई होगी। पुराणों में जिन कथा-कहानियों का संग्रह हो गया है वे पुराणकाल के बहुत पहले

की है। आदिकवि ने अपने समय के महान् चरितनायक मर्यादापुरुषोत्तम का इतिवृत्त काव्यबद्ध किया, पर व्यास के पुराणों में सारी कथाएँ द्वापर की ही नहीं, और पहले की भी हैं। इतने पहले की हैं कि पुराणों में उनका रूप बहुत विकृत हो गया है। 'पुराण' पुराना इतिवृत्त है, 'रामायण' तात्कालिक जीवन-वृत्त। पुराण में कथात्मक तत्त्व, वस्तुकथन अधिक है, पद्यबद्ध होने पर भी रामायण में वस्तु-कथन लक्ष्य नहीं, क्रौंच-वध के कारण हुए शोक के श्लोकबद्ध होने पर भी। यहाँ शोक ही (भाव ही) श्लोक हो गया है, वहाँ वस्तु ही पद्य हो गई है। कविता में कहानी से अधिक चुस्ती होती है, निबंध में यह चुस्ती या कसावट सबसे अधिक अपेक्षित होती है, वह समास वाङ्मय है, कहानी उसकी अपेक्षा व्यास-वाङ्मय। व्यास ने पुराण अठारह लिख डाले और वाल्मीकि ने रामायण एक ही, मम्मट ने काव्यप्रकाश एक ही। जनता में चलनेवाली अनुश्रुति या आनुश्रविक अब भी 'बुढ़िया-पुराण' ही है। वस्तुतः वह अपने मूल रूप में इतिहास ही है, ऐतिह्य ही है। पर 'स्मृति' से दूर हो जाने के कारण उसका कथा-कहानी का सा रूप हो गया है।

सचमुच कथा का पुराना रूप कल्पित ही होता था, यथार्थ, ऐतिहासिक या पूर्वघटित नहीं, आधुनिक कहानियों में यद्यपि कुछ ऐतिहासिक इतिवृत्तवाली भी होती हैं तथापि उनका वास्तविक रूप कल्पित ही होता है। इसी से बँगला में कहानी का नाम 'गल्प' (कल्प—कल्पित) है। पुरानी 'कथा' कादंबरी भी कल्पित है, सुबंधु की 'वासवदत्ता' भी कल्पित है। इस वासवदत्ता का उदयन की वासवदत्ता से कोई संबंध नहीं। जीवन के यथार्थ से यदि कहानी का अधिक पार्थक्य हो जाय तो वह 'गल्प' से निरी 'गप्प' रह जाती है। आधुनिक कहानियों के आरंभ के समय ऐसा ही हुआ। तिलस्मी और ऐयारी कहानियों में मनमानी घटनाओं का ऐसा योग और संयोग घटित किया जाने लगा कि उनकी यथार्थता में संदेह हुआ। जासूसी कहानियों में अयथार्थता सँभाली गई, वे अयथार्थ होकर भी तर्कपुष्ट भूमि पर स्थित दिखाई पड़ीं। ऐसा हो सकता है, यह मानने के लिए पाठक विवश हो गया, पर उसकी अयथार्थता की शंका से वह अपने को मुक्त न कर सका। अब साहित्यिक कहानियों की सर्जना 'यथार्थ' की जाँच के साथ की जाती है। 'यथार्थ' और 'आदर्श' का जो झगड़ा कथा-कहानी के क्षेत्र में उठ खड़ा हुआ है वह कहानी को कविता से पृथक् करने के लिए नहीं, स्वगत संशोधन के लिए भी। पर साहित्य में आने पर भी कहानी घटित घटना तो होती नहीं, संभावित घटना ही होती है, इससे प्रकृत (ऐक्चुअल) और यथार्थ (रियल) में भेद करके काम चलाया जा रहा है। कथागत घटना का प्रकृत होना आवश्यक

नहीं, पर उसे यथार्थ आश्रय होना चाहिए। वह कृत्रिम न जान पड़े, उसका प्रकृत रूप संभाव्य हो।

कथा-कहानी का वाङ्मय जबसे अधिक बनने लगा तब से यथार्थ का डंका भी तरह-तरह से पीटा जाने लगा। यथार्थ के नाम पर कथा-कहानी कितनी आगे बढ़ गई है इसका विवेचन यहाँ प्रसंग-प्राप्त है। पुराने समय में कथा-कहानी के नाम पर होनेवाली रचना में नीति, उपदेश, आदर्शवादिता आदि का इतना अतिरेक हुआ करता था कि कृत्रिमता की हद हो गई थी। जिस जीवन की छाया हमें कृत्रिम जान पड़ने लगेगी उसमें विश्रांति मिलने की शंका भी होगी। मृग-मरीचिका से जैसे प्यास नहीं बुझती, वैसे ही जीवन की छाया-प्रच्छन्नता से क्लान्ति भी नहीं मिटती। इसलिए सत्पक्ष के प्रतिपादन का अतिरेक अरुचिकर और अग्राह्य हो चला था। जीवन द्वंद्वात्मक है, उसमें छाँटा हुआ कोई पक्ष नहीं होता, न सत् न असत्। जीवन में जहाँ सत् है वहीं असत् भी, जहाँ असत् है वहीं सत् भी। कहीं पहला प्रधान या उभरा हुआ होता है और कहीं दूसरा। शांकर अद्वैत के अनुसार जो जगत् या सृष्टि 'सदसद्-विलक्षण' कही जाती है वह पारमार्थिक है। इसलिए केवल सत् को ही उसके प्रतिबिंब के रूप में साहित्य में लाना ठीक नहीं, असत् भी उसके साथ होना चाहिए। राम को परात्पर ब्रह्म और मर्यादापुरुषोत्तम कहने पर भी उनकी नरलीला में भक्तानुकूल्य का प्रतिपादन या प्रदर्शन ही साहित्य को ग्राह्य हो सकता है। इसी से स्वतः मर्यादा का, आदर्श का सर्वतोधिक विचार रखनेवाले तुलसीदासजी को भी डिंडिम घोष से कहना पड़ा कि

> जेहि अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली।
> पुनि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली।
> सोइ करतूति बिभीषन केरी।
> सपनेउ सो न राम हिय हेरी।

पर इस सदसद् के विलक्षण द्वंद्व का विचार न कवियों ने अधिक रखा, न कथक्कड़ों ने। फलतः सत् के अतिरेक के विरुद्ध असत् का प्रतिवर्तन होना था और यथार्थ या 'सत्' के नाम पर ही वह हुआ। सद्गुणसम्पन्न व्यक्तियों का असत् पक्ष और दुर्वृत्तों का सत् पक्ष प्रतिपादित करने की ऐसी धूम मची कि सद्वृत्तों को दुर्वृत्त और दुर्वृत्तों को सद्वृत्त का सा रूप दिया जाने लगा। समाज का पवित्र पक्ष दब गया, कलुषित पक्ष उभर आया। यदि सत्समर्थन का कभी अतिरेक हुआ था तो असदनुमोदन की भी अति होने लगी। साहित्य स्वतः जीवन को वैसा ही मानकर या लेकर चलता है जैसा वह है, पर असत् में सत् की

खोज और संचय का इतना आग्रह बढ़ा कि यहाँ भी यथावत् जीवन न आकर उसका कृत्रिम रूप ही सामने आने लगा। स्वच्छंदता के नाम पर बहुत से स्वच्छंद कृती इसी की ओट में स्वस्थ और परस्थ समाज-दूषित आचार का समर्थन करने लगे, मर्यादा का अतिक्रमण होने लगा। 'कथासरित्' में यथार्थवाद की यह बाढ़ ऐसी आई कि साहित्य-सागर में भी उद्वेलन होने लगा, यदि रोक-थाम न होती तो होती ओघ की सी स्थिति, फिर प्रलय। पर कुछ मर्यादा का विचार रखनेवालों ने संयम और विवेक से काम लिया। हिंदी में ऐसे संयमी और मर्यादित कहानीकारों के अग्रणी और सक्षम प्रातिभ थे स्वर्गीय मुंशी प्रेमचंद। हिंदी-साहित्य के काव्य-क्षेत्र में मर्यादा के विचार से जो स्थान महात्मा तुलसीदास का है वही कथा-कहानी के क्षेत्र में मनीषी प्रेमचंद का। यथार्थवाद के नाम पर जब जीवन का कालुष्य ही सामने लाया जा रहा हो और स्वच्छंदतावाद के नाम पर जब काम-वासना की परितुष्टि का साधन ही साहित्य में एकत्र होने लगा हो तब जीवन के उभयात्मक स्वरूप की दृष्टि से सदसत् का विचार रखकर निर्माण करना और प्रेम के क्षेत्र में केवल शील प्रणय का ग्रहण करना बहुत बड़ी महत्ता है।

३

हास्य-विनोद

समाज के स्वास्थ्य के लिए हास बहुत उपयोगी है यह कहने की आवश्यकता नहीं रही। इसे रस बरसानेवाले कविराजों ने भी स्वीकार किया है और रस फँकानेवाले कविराजों ने भी। यहाँ बतलाना यह है कि हास निरपेक्ष या विशुद्ध ही नहीं होता, दूसरे भावों को उद्दीप्त करने में भी उपयोगी होता है। लोभी व्यक्ति अपने लोभ को चरितार्थ करने के लिए हास का सहारा लेता है और जिससे लोभ की सिद्धि होनेवाली होती है उसको तरह-तरह से व्यंग्य-विनोद द्वारा रिझाया करता है। प्रेमी अपने प्रिय को अनुकूल रखने के लिए उससे हास या परिहास किया करते हैं। भक्त भगवान् को संतुष्ट करने के निमित्त व्याज-स्तुति का चमत्कार दिखाया करते हैं। रागात्मक या सुखात्मक भावों को उद्दीप्त करने में हास विशेष उपयोगी होता है। प्रेम से इसका विशेष मेल बैठता है। इसी से भरतमुनि ने यह कहा था कि 'शृंगारात् हि भवेत् हास्यः'—शृंगार से हास्य की उत्पत्ति होती है।

राग या प्रेम जीवन की आदिम वासना है और सब प्राणियों में पाई जाती है। साहित्य के आचार्यों ने इसी से प्रेम के आस्वाद-रूप शृंगार को 'आदिरस' नाम दिया है। यह बात मनोविज्ञान और सृष्टिविकासवाद के सिद्धांतों में भी स्वीकृत है। राग या प्रेम की वासना आदिम वासना है। इस वासना का विकास या परिष्कार जिस प्राणी में जितना ही हुआ है हास भी उसमें उतना ही और वैसा ही उपलब्ध होता है। पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े आदि में शृंगार का विकास या परिष्कार नहीं हो सका, अतः उनमें हास की भावना भी उन्नत नहीं हुई। शृंगारी चेष्टाओं के समय अनुभव-रूप यत्किंचित् हास की झलक मात्र किसी-किसी में मिल जाती है, जिसे स्वतंत्र 'हास' न कहकर शृंगार का संचारी ही कह सकते हैं। हास स्फुट रूप में उनमें नहीं मिलता। कहना चाहें तो यों कह सकते हैं कि 'जानवरों' को हँसना नहीं आता। यदि मनहूस लोग बुरा न मानें, तो बात को यों उलट भी सकते हैं कि जिन्हें हँसना नहीं आता वे जानवर हैं अर्थात् उनकी हास की वासना विकसित नहीं हुई है।

हास में आलंबन ऐसी ही वस्तु मानी गई है जो विकृत रूप में हो, बिगड़ा या

बिगाड़ा हुआ वेश, बिगड़ी या बिगाड़ी हुई आकृति, चेष्टा या वाणी। कहने का तात्पर्य यह है कि वह बिगड़ी हुई अर्थात् सहज या अनैच्छिक हो और बिगाड़ी हुई अर्थात् कृत्रिम, आरोपित या ऐच्छिक हो। प्रकृत्या मुँहटेढ़ा व्यक्ति हास का आलंबन तो हो ही सकता है, कुछ लोग हँसाने के लिए अपना मुँह टेढ़ा भी कर लिया करते हैं। एक व्यासजी से किसी राजा ने यह फरमाइश की कि आप ऐसी कथा कहें जिसमें आधे लोग रोएँ और आधे हँसे। व्यासजी चतुर थे, उन्होंने कहा कि ऐसा ही होगा। उनका सिंहासन बीचोबीच रखा गया। खड़े होकर उन्होंने करुणरस की कथा कहनी आरंभ की। सामने के लोग रोने लगे। पीछे की ओर मुड़कर उसी समय उन्होंने ऐसा मुँह बनाया कि उधर के आधे लोग हँसने लगे।

हाँ, दूसरों की अनुकृति से हास उत्पन्न होता है, पर कैसी अनुकृति से ? विकृत अनुकृति से। आगे चलकर इसी विकृत अनुकृति या नकल का व्यवसाय होने लगा। भाँड़ों के बीच 'हास' परिष्कृत न रह सका, वह सीमोल्लंघन करके 'परिहास' हो गया। 'उपहास' के लिए 'भँड़ौआ' लिखे जाते थे इसे हिंदी का प्रत्येक काव्य-पाठक जानता है।

भाँड़ों की नकल केवल श्रृंगार-मूलक नहीं हुआ करती, वह अन्य भावों की विकृत अनुकृति भी होती है, किसी की वीरता का उपहास, किसी के दान का परिहास, किसी के अहंकार का अतिहास वे प्रायः किया करते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि श्रृंगार से ही चाहे हास्य की उत्पत्ति मानी जाय अर्थात् यह माना जाय कि हास्य मानव-समाज की आदिम स्थिति से कुछ और विकसित या स्फुट अवस्था में व्यक्त हुआ और पहले श्रृंगार के साथ ही लगा रहा, पर आगे चलकर कुछ अन्य भावों की विकृत अनुकृति भी हास को उद्बुद्ध करने लगी। इसी बात को लक्ष्य करके भोजराज ने अपने 'श्रृंगारप्रकाश' में प्राचीन उक्ति 'श्रृंगारानुकृतिर्हास्यः' को लेकर यह कहा है—

अथोच्यते श्रृंगारानुकृतिर्येह स हास्योरस इष्यते।
तर्हि वीरस्यानुकृतिर्येह सोऽपि हास्य इतीष्यताम्॥

अर्थात् पुराने लोग जो यह कहते हैं कि श्रृंगार की नकल से हास्य रस होता है, इतना ही नहीं, वीर की नकल से भी हास्य होता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने तो यहाँ तक कह दिया है कि—

तेन करुणाद्याभासेष्वपि हास्यत्वं सर्वेषु मन्तव्यम्।
अनौचित्यप्रवृत्तिकृतमेव हि हास्यविभावत्वम्॥

करुणा आदि के अभाव में भी हास्यत्व होता है। अनौचित्य की प्रवृत्ति मात्र से हास्य का आलंबन खड़ा होता है। रोने की नकल से भी तो हँसी फूट पड़ती है। किंतु यह स्मरण रखना चाहिए कि हास का अधिक लगाव शृंगार के ही साथ है और आज भी व्यंग्य-विनोद में विशेषतया कहानियों में 'हास' शृंगार के साथ ही आता है। पर प्रायः आलंबन का कोई दुर्गुण लक्ष्य करके 'हास' किया जाता है। 'दुर्गुण' के विविध रूपों का विचार न करके सामान्यतया यह कहा जा सकता है कि वह 'दुर्गुण' होता है किसी न किसी प्रकार की 'मूर्खता' ही।

सहज मूर्ख हास के पुराने आलंबन हैं। पर हँसी केवल मूर्खों की ही नहीं उड़ाई जाती, बड़ों बड़ों की हँसी की जाती है और हँसी का लक्ष्य वहाँ भी कोई न कोई, त्रुटि या असंगति होती है, बड़ों की इस त्रुटि या असंगति के लिए 'मूर्खता' शब्द कड़ा पड़ता है, यद्यपि उनके बेढंगे कार्यकलाप में उसका बीज या कण रहता अवश्य है। अस्तु। शृंगार के क्षेत्र के मूर्ख (शास्त्राभ्यासियों के 'अनभिज्ञ नायक') तो होते ही हैं, शृंगारेतर क्षेत्र के मूर्ख भी हुआ करते हैं। कुछ लोग शृंगारेतर क्षेत्र के मूर्खों को ही हास के लिए सामने लाते हैं। उन्हें साहित्य के क्षेत्र में सुधारवादी या नीतिवादी कह सकते हैं। हिंदी में 'द्विवेदी-युग' में अपरिष्कृत या शृंगारी हास कम होता था या हो पाता था, अतः उस युग में अशृंगारी हास्य के लेखक भी हुए हैं। पर इधर चाहे स्वच्छंदता के कारण समझिए चाहे फ्रायड, युंग आदि की डुग्गी पिटने से समझिए हिंदी में शृंगारी हास्य की ही प्रवृत्ति अधिक है।

कहानी में पहुँचकर हास्य की दो शैलियों में से इधर एक शैली का प्रचलन विशेष हो रहा है। पहली शैली को ऐतिहासिक या साक्षात् शैली कह सकते हैं और दूसरी को आत्मकथात्मक या परोक्ष। हास्य रस में दूसरी शैली विशेष काम की है। साक्षात् शैली में दोष यह है कि जिसकी हँसी उड़ाई जाती है उसका रूप विशेष स्फुट रखना पड़ता है जिससे कड़े व्यंग्य के कारण कभी-कभी लोग विक्षुब्ध भी हो जाते हैं। पर सब कुछ अपने सिर ओढ़ लेने से बात बिगड़ती नहीं। दूसरी बात यह कि कहानी में जो कुतूहल का तत्त्व (एलिमेंट आव् सस्पेंस) रखा जाता है वह प्रायः स्वाभाविक रूप ग्रहण करता है। ऐतिहासिक कहानियों में तो कभी-कभी वह अतिरंजित जान पड़ने लगता है। लेखक अपने को दर्शक-रूप से स्थ प्रदर्शित करता है, सब कुछ जानते-बूझते, करते-धरते भी और इसमें लेखक सब कुछ ज्ञात होने पर भी तटस्थ होना पड़ता है, वही तो अभिनेता होता है। कहना व्यर्थ है कि कथा-साहित्य में लेखक की तटस्थता का पश्चिमी साहित्य-

शास्त्रियों की दृष्टि में बहुत महत्त्व है और आलोचना में इसका कोलाहल भी बहुत सुनाई पड़ता है।

यद्यपि लेखक किसी विशेष आलंबन का प्रतिनिधित्व ही करता है, पर शृंगारी क्षेत्र और उसमें हास्य रस का मूर्ख बनने को कोई लेखक तत्पर नहीं होता। इसी से प्रायः उपनाम रखकर काम चलाया जाता है। बहुत प्रसिद्ध हो जाने पर 'गुप्त' नाम प्रकट हो ही जाता है, पर उपनाम की नकाब लेखक को, विशेषतया नए लेखक को, अनेक प्रकार की मार्मिक चोटों का अवसर बहुत दिनों तक देती रहती है। वह सब परिस्थितियों में अपने को डाल सकता है और तदनुरूप आचरण करते हुए अपने को बेखटके दिखा सकता है। दुराव-छिपाव का हेतु यह है कि हँसी-विनोद की प्रवृत्ति न तो समाज में अच्छी मानी जाती है न शास्त्रों में ही। शास्त्रीय लोगों ने तो हासादि की प्रवृत्ति को अनुत्तम प्रकृति का ही लक्षण कहा है—एवं च रत्यादीनां प्राधान्यम्। हास्यदीनां न प्राधान्यम्। अतएव अनुत्तमप्रकृतिषु बाहुल्येन हासादयो भवन्ति। पामरप्रायः सर्वोपि हसति, शपति, परनिंदामाप्रियते, अल्पसुभाषितेन सर्वत्र विस्मयते।

अतिहास, हास न रहकर कुछ और हो जाता है। उपहास, परिहास आदि का रूप धारण करता है। साहित्य में यह ठीक नहीं है। समाचारपत्रों के आधिक्य और साधारण जनता के मनोरंजन की दृष्टि प्रमुख होने से हास हिंदी में कहीं-कहीं अपनी सीमा का अतिक्रमण भी करने लगा है, यह खटके की बात है। बँगला, मराठी आदि प्रांतीय भाषाओं में हास का ऐसा विकृति रूप नहीं है। इसे सँभालने का उत्तरदायित्व स्वतः हास्यरस के लेखकों पर ही है, आलोचक तो 'दोषदर्शी' ही कहे जायँगे। वे संकेत कर सकते हैं, कड़ी टीका कर सकते हैं, पर यदि हास्य के लेखक केवल साधारण जनता या अपरिष्कृत बुद्धि और रुचिवालों को ही सर्वत्र लक्ष्य रखेंगे तो हास्य का स्वर ऊँचा हो नहीं सकता।

४

प्रेमचंदजी की प्रवृत्तियाँ

श्रीप्रेमचंदजी इस बात में विश्वास रखते हैं कि समाज के सामने हमें उपन्यास के द्वारा वही जीवन रखना चाहिए जिस जीवन में समाज है, अर्थात् अतीत का रोना रोना, ऐतिहासिक कथावस्तु को लेकर कुछ लिखना उनके सिद्धांत के विपरीत है। वे वर्तमान में ही साँस लेते हैं और वर्तमान में साँस लेनेवालों के वर्तमान जीवन की घटनाओं का ही चित्रण करते हैं। उनके उपन्यासों का कालक्रम से अध्ययन करने पर यह भी पता चलेगा कि देश या समाज के जीवन में जब-जब कोई नई धारा का प्रवाह दिखाई देने लगा है, तब-तब उन्होंने उपन्यासों में उन-उन नई-नई धाराओं का अनुगमन करने का प्रयत्न किया है। 'सेवासदन' से लेकर 'गोदान' तक कोई भी यदि केवल पढ़ ही जाय तो उनके विचारों का यह तारतम्य उसे बराबर और स्पष्ट दिखाई पड़ेगा। प्रेमचंद जी के उपन्यासों की एक बहुत सामान्य बात है ग्रामीण जीवन की ओर अभिरुचि। ग्रामीणों का चित्रण करने में, गाँव की दशा का निरूपण करने में, उनकी परिस्थितियों को खोलने में, वे बड़े करामाती हैं। उस जीवन का चित्रण सभी स्थानों पर पूर्ण और अनुभव से भरा हुआ तो मिलता ही है, साथ ही उसका विवेचन भी सूक्ष्म से सूक्ष्म स्थिति तक पहुँचता हुआ पाया जाता है। लिखने का तात्पर्य यह नहीं कि वे नागरिक जीवन का चित्रण उतनी योग्यता से नहीं करते। इसका तात्पर्य इतना ही है कि लेखक की जैसी अभिरुचि है, लेखक जिस जीवन से प्रेम करता है, जिसका कोना-कोना उसने निरखा है, उसका चित्रण करने में उसका मनोयोग भी रहता है और अपना कौशल वह उसी मात्रा में दिखलाता है। नागरिक जीवन की ओर लेखक की अभिरुचि नहीं है, इसलिए उसके उपन्यासों में उस जीवन का विस्तार उसी रूप में नहीं मिलता, जिस रूप में ग्रामीण जीवन का। पर जीवन का चाहे जो रूप लेकर चले लेखक अपने व्यापक निरीक्षण का परिचय बराबर देता है। नागरिक जीवन का जो चित्रण प्रेमचंदजी के उपन्यासों में मिलता

है वह भी उनके व्यापक और सूक्ष्म निरीक्षण का परिचायक है, इसमें संदेह नहीं।

प्रेमचंदजी के उपन्यास प्रायः किसी व्यक्ति का गार्हस्थ्य-जीवन लेकर उठते हैं। उनमें से कुछ का पर्यवसान लौकिक जीवन में होता है और कुछ उतने विस्तृत दायरे में नहीं जाते। यदि व्यक्ति और लोकपक्ष का भेद लेकर चलें तो उनके उपन्यासों में 'गबन' ऐसा उपन्यास है जिसमें दोनों का समन्वय बड़ी कुशलता के साथ किया गया है। प्रेमचंदजी ने गार्हस्थ्य-जीवन से घटना का उठान करते हुए भी अपने उपन्यास को पारिवारिक उपन्यास (फेमिली नावेल्स) होने से बराबर बचाया है। हिंदी में 'विदा' नामक उपन्यास 'परिवारिक उपन्यास' ही कहा जा सकता है। शरच्चन्द्र का 'चरित्रहीन' भी 'पारिवारिक उपन्यास' ही कहा जायगा। पर प्रेमचंदजी के उपन्यासों को पारिवारिक उपन्यास नहीं कहा जा सकता। चाहे उसमें एक ही परिवार की घटनाओं का अधिकांश ही क्यों न लिया गया हो। उनके सभी उपन्यास लोक के मेल में चलनेवाले उपन्यास हैं।

अँगरेजी साहित्य में टामस हार्डी ने कितने ही उपन्यास लिखे हैं, जो 'वेसेक्स नावेल्स' के नाम से प्रसिद्ध हैं। हार्डी के उपन्यासों में ग्रामीण जीवन का पाश्चात्य दृष्टि से जैसा चित्रण पाया जाता है वैसा ही भारतीय दृष्टि से यदि कोई ग्रामीण जीवन का चित्रण करनेवाला औपन्यासिक कहा जा सकता है तो हिंदी के प्रेमचंद जी ही। भारत के बड़े-बड़े उपन्यासकारों की दृष्टि प्रायः नागरिक जीवन, और मध्य श्रेणी के लोगों के चित्रण की ही ओर विशेष रूप से लगी हुई देखी जाती है, पर प्रेमचंद जी जनवर्ग, साधारण श्रेणी के लोगों का चित्रण करने, उनका जीवन देश और समाज के सामने लाने का बराबर प्रयास करते रहे हैं। हम पहले ही कह चुके हैं कि वे व्यक्ति और परिवार से हटकर लोक के निकट लाकर भी पात्रों को खड़ा करते हैं, इसलिए हार्डी से ये स्पष्ट अलग किए जा सकते हैं। जिस प्रकार शांत वातावरण में वे अशांति उत्पन्न करनेवाली घटनाओं का निरूपण करते हैं उसी प्रकार अशांत वातावरण में शांति का रूप भी बराबर दिखलाया करते हैं।

प्रेमचंदजी की एक और विशेषता पर ध्यान देना चाहिए। अपनी आरंभिक कहानियों और कहीं-कहीं किसी उपन्यास में भी चाहे उन्होंने अपनी कथावस्तु के विस्तार के लिए असाधारण घटना का उपयोग भले ही किया हो, पर सामान्यतया उनकी कथावस्तु बहुत सामान्य रूप में चलती है, बड़ी गंभीर और मंथर गति से। इसी प्रकार वह उपन्यास के पोथे के रूप में आ जाती है। असाधारण घटनाओं का

उपयोग आजकल की दृष्टि से लेखक की कमजोरी समझी जाती है। प्रेमचंद जी में यह कमजोरी एकदम नहीं दिखाई पड़ती। सामान्य घटनाओं का असाधारण रूप ही सामने आ खड़ा होता है। कोई असाधारण घटना कहीं से सहसा फट नहीं पड़ती। इन सब बातों पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि हिंदी के प्रेमचंदजी आधुनिक श्रेष्ठ कलाकारों और औपन्यासिकों के वर्ग में आते हैं।

परिशिष्ट

१

द्रष्टा और स्रष्टा भारतेंदु

भारतीय परंपरा में 'साहित्य' की संज्ञा 'दर्शन' है। शास्त्र-पक्ष में इसका तात्पर्य यह है कि 'साहित्य' में 'आत्मा' का विचार करना पड़ता है। साहित्य चेतन सत्ता है, केवल जड़ का विचार उसका साध्य नहीं। विज्ञान जड़ तक ही रह जाता है। इसलिए जड़ का विचार विज्ञान और चेतन या आत्मा का विचार दर्शन है। कर्तृत्व-पक्ष में 'दर्शन' का अर्थ है, क्रांतदर्शिता, त्रिकालदर्शिता, सर्वज्ञता। साहित्य का कर्ता ऐसी दृष्टि से संपन्न होता है कि वह गत, आगत और अनागत को देख लेता है, वह प्रत्यक्ष और परोक्ष को जान जाता है। जिसमें ऐसी दृष्टि न हो वह साहित्य की सृष्टि नहीं कर सकता। साहित्य का स्रष्टा नवरस-रुचिर-निर्मिति करनेवाला होता है। विधाता की सृष्टि से उसकी सृष्टि 'रस' के आतिशय्य के कारण भिन्न होती है, विधाता का भी उस पर वश नहीं चलता—

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति॥

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ऐसे ही द्रष्टा और स्रष्टा थे। जो भारतीय परंपरा का यह तत्त्व नहीं समझते, वे ही बहककर कहने लगते हैं कि वे सुधारक, कवि, क्रांतिकारी, देश-भक्त आदि आदि एक साथ थे। भारतीय दृष्टि से साहित्य का कर्ता सुधारक, क्रांतिकारी, देश-भक्त, विश्वबन्धु आदि आदि सब कुछ होता है। साहित्य दर्शन है, इसलिए जीवन-जगत् प्रत्यक्ष-परोक्ष सबका दर्शन उसके लिए संभव है। साहित्य की व्याप्ति बहुत बड़ी है। साहित्य का कर्ता जीवन के समस्त कल्याणकारी अंशों की समष्टि लेकर चलता है। 'कवि' (अर्थात् साहित्य का कर्ता) यहाँ बहुत ऊँचा पद है। राजनीति, सुधार, देशभक्ति आदि के चश्मे लगाकर जो भारतेंदु को देखते हैं वे भ्रांत धारणा का प्रसार करते हैं। कोई कहता है कि भारतेंदु यदि आज होते या अधिक दिनों तक जीवित रहते तो राष्ट्रीय आंदोलन के नेता हो गए होते, समाजवादी संप्रदाय में दाखिल हो जाते, रूस का लाल झंडा लेकर घूमते आदि आदि। ऐसा कहनेवाले साहित्य से दूर रहकर

अपने मत की बात बहाने बहाने जनता पर लादना चाहते हैं, अपना प्रचार करते हैं, भारतेंदु का तात्त्विक रूप सामने नहीं करते। सभी जानते हैं कि आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानंद जी उनके समय में थे, भारतेंदु भी सुधार की ऐसी बातें कहते हैं जो आर्यसमाज के मत के अनुकूल हैं, पर आज तक यह नहीं सुना गया कि उन्होंने स्वामी जी के मत की दीक्षा ली थी। हिंदी के बड़े बड़े साहित्य-स्रष्टा जो भारतेंदु के अनंतर हुए, उनमें से किसी के संबंध में यह नहीं सुना जाता। न महावीरप्रसाद द्विवेदी कांग्रेसी थे, न रामचंद्रजी शुक्ल। राष्ट्रीयता के समर्थक सभी थे। देश की स्वाधीनता के लिए सभी कटिबद्ध थे। साहित्यिक किसी संप्रदाय में मुड़ा और मरा।

भारतेंदु को लोग नवीनता का प्रवर्तक मानते हैं। उनके इस रंग को उभारने के लिए वे कहते हैं कि हिंदी की पुरानी कविता गतिशील नहीं रह गई थी, इसलिए उसमें गत्वरता लाने के लिए भारतेंदु ने अपना नया प्रयोग किया। उनके पूर्व की रीतिकाल की कविता जीवन से विच्छिन्न थी, भारतेंदु ने जीवन और साहित्य का फिर से मिलाप करा दिया। पर ऐसा कहनेवाले भारतेंदु की सारी रचना का अवलोकन किए बिना ही ऐसी संमति दे दिया करते हैं। भारतीय परंपरा और साहित्य का स्वरूप हृदयंगम किए बिना ही वे ऐसा कह बैठते हैं। वस्तुतः भारतीय परंपरा साहित्य के त्रिविध रूपों में तारतम्य मानकर कुछ ही रूपों का ग्रहण करती आई है, सबका नहीं। साहित्य के ये त्रिविध रूप हैं— सनातन, चिरंतन और अद्यतन। यहाँ की दृष्टि में सनातन प्रधान रूप है, चिरंतन मध्यम और अद्यतन अधम। इसी से पुराने साहित्य में सनातन और चिरंतन का जितना आग्रह और उसके संग्रंथन का प्रयत्न है, उतना अद्यतन का नहीं। सनातन और चिरंतन रूपों को जो गतिशील न मानकर स्थिर मानते हैं वे इस धारा और भारतीय साहित्य-प्रवाह का मर्म नहीं समझते। यहाँ की साहित्य-चिंतन-धारा सनातन और चिरंतन को जितना प्रवाहित करती रही, उतना अद्यतन को नहीं। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि अद्यतन की ओर उसकी दृष्टि नहीं थी। उसी सनातन-चिरंतन से वह अद्यतन का संकेत करती थी। कांतासंमिततया उपदेश के कारण अद्यतन को ग्रथित करने से प्रत्यक्ष कथन करना पड़ता था, अतः सिद्धांततया, विधानतः वह ठीक नहीं बैठता था। भारतेंदु या उनके मंडल ने जो अद्यतन कविता की है वह उपदेशात्मक हो गई है, विचार-प्रधान हो गई है, भावात्मकता उसमें नहीं रह गई है। पद्य के क्षेत्र में भावात्मकता की नियोजना ही यहाँ कविता का लक्षण रहा। आधुनिक काल में गद्य का मैदान मिल जाने से सनातन-चिरंतन और अद्यतन के लिए क्षेत्र-भेद हो गया। छाया-

रहस्य-युग की कविता को पलायनवादी कहनेवाले आँखें मूँदकर साहित्य का विचार करने बैठते हैं, अन्यथा छाया-रहस्य के जिन कवियों को पलायनवादी कहा जाता है वे गद्य के क्षेत्र में बड़े वेग से जीवन में अपनी गत्वरता का प्रमाण देते हैं। वस्तुतः पद्य या कवितागत छाया-रहस्य में वे सनातन-चिरंतन प्रवृत्तियों की ओर उन्मुख हैं और गद्य में अद्यतन प्रवृत्तियों की ओर।

भारतेंदु ने पद्य के क्षेत्र में सनातन-चिरंतन को अधिक स्थान दिया है, अद्यतन को कम। गद्य में अद्यतन को अधिक स्थान दिया है, सनातन-चिरंतन को कम। पद्य में भाषा उन्होंने पुरानी ही रखी है, कुछ थोड़ी सी रचनाएँ उन्होंने नई या गद्य-क्षेत्र में स्वीकृत भाषा (खड़ी बोली) में की हैं। जो भारतेंदु बाबू की नवीनता की प्रशंसा के लिए उनके पूर्व की शृंगारी कविता की कुत्सा करते हैं वे भारतेंदु की शृंगारी कविता देखकर भी ऐसा करने का साहस करते हैं, यही आश्चर्य की बात है। शृंगार का विरोध करना और अविचारित रमणीय विरोध करना फैशन हो गया है। रीतिकाल या शृंगारकाल की वह धारा आज तक बनी है, केवल रूप बदल गया है। शृंगार आदिम वासना है, इसी से शास्त्रकार इसे 'आदि-रस' मानते हैं। वह साहित्य में न रहे, ऐसा असंभव है, हाँ रूप बराबर बदलता रहा है और बदलता रहेगा। वह रूप आज ही बदला हो, सो भी नहीं। शृंगारकाल में ही यह परिवर्तन हो गया था। शृंगार के गायक स्वच्छंद कवि भी थे। घनआनंद, ठाकुर, आलम आदि कवियों ने शृंगार के गायन में स्वच्छंदता का, नूतनता का प्रवेश किया था। इनकी रचनाओं में विपरीत, सुरतांत आदि के वे वर्णन नहीं हैं जो घृणित समझे जाते हैं, इनमें शब्द-चमत्कार 'फूलन केलिन कचारन' का पता नहीं चलता। बहिरंग से ये अंतरंग की ओर मुँह कर चुके थे। कविता-वनिता के अलंकाराभूषणों की अपेक्षा उसके हृदय-स्पंदन को ही वाणी का गौरव समझते थे। भारतेंदुजी इन्हीं के अनुयायी थे। उनकी शृंगारी रचनाओं में घनआनंद, ठाकुर, आलम झाँकते दिखाई देंगे, पंपतल्लच्छंद देव की झलक मिलेगी; केशव-बिहारी न मिलेंगे। बिहारी के कुछ चुने दोहों पर उन्होंने कुंडलियाँ बाँधीं अवश्य, पर वह उनकी चित्तवृत्ति के अनुकूल न था, अतः उसका त्याग कर दिया। रीतिकाल या शृंगारकाल में जो कुछ लिखा गया उसे सामने न रखकर ऐसा कहना ठीक नहीं कि नारी-मूर्ति से आगे ये कवि नहीं गए। जो उन्होंने लिखा, वह शुद्ध नारी का वर्णन भी नहीं है। शृंगार में राधा-कृष्ण को भूलकर ये रचना नहीं करते थे। जिन्होंने काव्य के इस आदर्श को छोड़ा है वे भटक गए हैं। भारतेंदु में यही परंपरा मिलेगी। यह राधा-कृष्ण का विधान भक्तिकाल का रिक्थ है। शृंगारकाल में भक्ति की रचना करनेवाले न हों, ऐसा नहीं। शृंगार-काव्य

लिखनेवाले भक्ति की भी रचना करते थे। चाहे वे बिहारी हों, चाहे घनआनंद। भारतेंदु ने भक्तिकाव्य भी लिखा है, यही नहीं भक्ति की उनकी कविता शृंगार की कविता से परिमाण में अधिक है।

अब भक्ति की दृष्टि से भारतेंदु के स्वरूप का चिंतन कीजिए। सूर-तुलसी आदि भक्तों ने भी जीवन से आँख मूँदकर रचना नहीं की थी। हमारा साहित्य अभी तो यही अनुसंधान करने में लगा है कि सूर किस गाँव में, कहाँ जन्मे थे; तुलसी किस ब्राह्मण-कुल में हुए थे आदि आदि। अर्थात् सूर-तुलसी ने जिसको अनावश्यक समझकर नहीं कहा, हम उसी अनावश्यक की खोज अधिक कर रहे हैं और जिसे आवश्यक समझकर कहा, उधर ध्यान कम देते हैं। भारतीय जीवन में जो प्रवृत्तियाँ घातक प्रतीत हुईं उनको सबने लक्ष्य किया है। उसका राजनीतिक उत्थान या विकास से कोई संबंध नहीं था, ऐसा वे ही कह सकते हैं जो इन महात्माओं की रचना का अवगाहन नहीं करते, केवल स्पर्श करते हैं। भक्ति की सीमा में जाकर जो साहित्य-निर्माण में लगा वह स्वच्छंद हो गया। सूर-तुलसी आदि के संप्रदायों का, उनकी उपासना के भाव का निश्चय करने में बाधा क्यों आती है? इसी से कि वे संप्रदाय का सिद्धांत-ग्रंथ लिखने नहीं बैठे थे। वे संप्रदाय के प्रचारक नहीं थे, भक्ति को सार्वभौम अनुभूति मानकर उसका प्रसार कर रहे थे। तुलसी के मानस के सारे पात्र 'भक्त' हैं, क्यों? इसी से कि तुलसीदास में संप्रदाय का आग्रह नहीं; भक्ति का आग्रह है, इसी से किसी का विरोध नहीं, सबसे सौहार्द। सांप्रदायिक झगड़ते रहें। साहित्य तो स्वच्छंदता सिखाता है, इन कवियों को इसी स्वच्छंदता का पथ पकड़ना पड़ा। भारतेंदु बाबू में यही स्वच्छंदता, यही समन्वय मिलता है। यों तो वे वल्लभाचार्य के संप्रदाय में थे, पर चलते थे सबका संग्रह करके। यह सुधार-वादिता नहीं थी, साहित्य का यही मार्ग है। वे कहते हैं—

नाहिं ईस्वरता अँटकी वेद में।
तुम तो अगम अनादि अगोचर सो कैसे मत-भेद में।

यह सभी जानते हैं कि भक्ति के सभी संप्रदाय वेदशास्त्रानुमोदित मार्ग का अवलंबन करनेवाले थे। पर भगवद्भक्ति ने वेद की अनिवार्यता नहीं स्वीकार की है। साथ ही कबीर की भाँति इन भक्तों ने यह नहीं कहा कि 'पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित हुआ न कोय'। भक्त का सबसे पहला लक्षण या कार्य है, अहंकार का शमन। भक्ति भी अहंता को दबाती है और साहित्य भी अहंता को दूर करता है। साथ ही स्वच्छंदता की वृत्ति भी दोनों जगाते हैं। कोरी भक्ति-साधना की स्वच्छंदता से सांप्रदायिकता का पोषण सँभला रहता है, पर साहित्य

की स्वच्छंदता सबको लेकर चलती है। 'साहित्य' 'सहित' से जो बना है! जिनमें साहित्यगत स्वच्छंदता न होगी, वे सबका समाहार करके नहीं चलेंगे। वे स्वयम् जीवन से विरक्त हो जाएँगे और दूसरों को भी जीवन से विरक्त होने का उपदेश देंगे। जो भक्त 'सियाराममय सब जग' मानेंगे वे जीवन से विमुख न होंगे, न किसी को उससे विमुख रहने का आदेश देंगे। हो सकता है कि वे सांप्रदायिक बुद्धि से काम करने लगें। पर जो ऐसा नहीं मानते वे अपना घर तो फूँक ही देते हैं, दूसरों का घर भी फूँकने के लिए हाथ में 'मुराड़ा' लिए चौराहे पर खड़े रहते हैं। इनमें से जो भी साहित्य की स्वच्छंदता का ग्रहण करेगा वह जगत्कल्याण करने के लिए जगत् का विनाश न चाहेगा। सूर, तुलसी आदि में साहित्य की स्वच्छंदता थी, इसी से उनमें सबका समन्वय है। कबीर में साहित्य की स्वच्छंदता न थी। कहा जाता है कि वे किसी संप्रदाय को नहीं मानते थे; यह संप्रदायहीनता भी स्वयम् सांप्रदायिकता हो गई। वह किसी का साथ न दे सकी। भारतेंदु की साहित्यगत स्वच्छंदता का परिणाम यह है कि वे वल्लभ-कुल के शिष्य होकर भी सांप्रदायिक न हो सके, उन्होंने उस संप्रदाय की प्रशस्ति की, पर केवल उसी के प्रचार को अपना लक्ष्य नहीं बनाया। धन्य है ऐसी भक्ति! धन्य है ऐसा साहित्य! जिसके प्रभाव से ऐसी स्वच्छंदता का उदय होता है जिससे सबमें अभेद के दर्शन होते हैं। भारतेंदु जी कहते हैं—

जैन को नास्तिक भाखै कौन?
परम धरम जो दया अहिंसा सोई आचरत जौन।
सत कर्मन को फल नित मानत अति विवेक के भौन।
तिनके मतहि विरुद्ध कहत जो महामूढ़ है तौन।
सब पहुँचत एकहि थल चाहौ करौ जौन पथ गौन।
इन आँखिन सों तो सब ही थल सूझत गोपी-रौन।
कौन ठाम जहँ प्यारो नाहीं भूमि अनल जल पौन।
'हरीचंद' ए मत-वारे तुम रहत क्यों न गहि मौन।

है 'वेद कतेब कहै सो झूठा' कहनेवालों में यह समन्वयवादिता?

अब भारतेंदु की इस साहित्यिक स्वच्छंदता को भाषा और साहित्य दोनों में देख लीजिए। वे हिंदी का पक्ष लेकर बड़े बड़े व्याख्यान देते थे, वे हिंदी को ही देश की, राष्ट्र की भाषा मानते थे। इसके समर्थन में उन्होंने उर्दू और अँगरेजी दोनों का विरोध किया, पर न उर्दू में शायरी करनी छोड़ी और न अँगरेजी में लिखना-पढ़ना। नाटकों में उनके पूर्व श्रीनिवासदासजी बोलियों का विधान कर चुके थे, पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। फिर भी 'प्रेमजोगिनी' लिखने लगे तो

उसमें कई प्रांतीय बोलियों की प्रदर्शनी कर दी। 'अधूरी' न रह जाती तो इसमें क्या क्या और होता, कहा नहीं जा सकता। कितने प्रकार की, कितनी शैलियों की भाषा वे लिख सकते थे, इसे उनके नाटक ही बतला देते हैं।

अभिलाष तो यह करते हैं कि 'तजि ग्राम-कविता सुकविजन की अमृत बानी सब कहै,' पर स्वयम् ग्राम-कविता से मुँह नहीं मोड़ते; उसमें भी रचना करते, पर्याप्त रचना करते हैं और उसका भी परिष्कार करते हैं। भारतेंदु जी का लक्षण है परिष्कार-संस्कार। भाषा में उन्होंने परिष्कार-संस्कार किया। कविता में परिष्कार-संस्कार किया, नाटक में परिष्कार-संस्कार किया। संस्कृत और बँगला एवम् अँगरेजी नाटकों के अनुवाद भी परिष्कार-संस्कार के ही लिए किए। एक ओर प्राचीनता की प्रदीप्ति और दूसरी ओर नवीनता का चाकचक्य। हिंदी के लिए मध्यम मार्ग अर्थात् समन्वय का मार्ग, हिंदी के पुराने नाटकों के परिष्कार-संस्कार का पथ-प्रदर्शन। नाटकों में पात्रों की वेश-भूषा का भी बहुधा उल्लेख है। क्यों? रंगशाला, नाटक-मंडलियों के परिष्कार-संस्कार के लिए। रंगमंच पर रूमाल लिए शकुंतला का अभिनय जो हुआ करता था!

पिष्ट-पेषण या चर्वित-चर्वण करने की आवश्यकता नहीं, भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र क्या थे, इसे साहित्य ही बता सकता है, वे सच्चे साहित्यिक थे। आजकल की शब्दावली में कहें तो कह सकते हैं कि वे जीवन के सच्चे आलोचक थे। पुरानी शब्दावली में कहें तो कहेंगे कि वे द्रष्टा थे, क्रांतदर्शी थे। उन्होंने अल्पवय में बहुत बड़ा साहित्य अल्पायास में ही लिख डाला, परिष्कृत और संस्कृत रूप में लिख डाला। आधुनिक पदावली में कहें तो वे 'कर्ता' थे। पुरानी पद्धति से कहें तो कहेंगे कि उनमें काव्यमयी प्रतिभा थी, वे स्रष्टा थे। उनके पूर्व साहित्य या भाषा जो थी, उसी का ऐसा परिष्कार-संस्कार किया कि वे हिंदी के जन्मदाता कहाए। अँगरेजी की आवश्यक संग्राह्य बातें लीं, पर भारतीयता को त्यागा नहीं, इसी से वे 'भारतेंदु' थे। उनकी नवीनता पुरातनता का विकास है, आरोप नहीं।

२

काव्य-पुरुष

हिंदी-साहित्य में जब से भक्ति का प्रवाह प्रवाहित हुआ तब से नर-काव्य की ओर से कवियों की दृष्टि हटने लगी। भक्तिकाल में नरकाव्य लिखनेवाले प्रेम-मार्गी सूफी कवि भी नहीं माने जा सकते, भले ही उन्होंने ऐतिहासिक या काल्पनिक नरकथाएँ कही हों। इसका हेतु यह है कि उनकी ये कथाएँ प्रतीकात्मक हैं। शुद्ध काव्य की दृष्टि से उनकी कथाएँ ही प्रस्तुत हैं, पर आध्यात्मिक दृष्टि से उनका साध्य दूसरा है। जायसी की 'पदमावत' की कथा दुःखांत दिखाई देती है—लौकिक दृष्टि से। पर वह कर्ता की ओर से सुखांत ही है—अलौकिक दृष्टि से। अतः भक्तिकाल में नरकाव्य लिखना बंद हुआ। इसकी घोषणा महात्मा तुलसीदास जी ने अपने मानस में कर दी थी—

भगति-हेतु बिधि-भवन बिहाई।
सुमिरत सारद आवति धाई।
रामचरित-सर बिनु अन्हवाए।
सो स्रम जाइ न कोटि उपाए।
कबि-कोबिद अस हृदय बिचारी।
गावहिं हरि-जस कलि-मल-हारी।
कीन्हें प्राकृत-जन-गुन-गाना।
सिर धुनि गिरा लगति पछिताना॥

भक्तिकाल के पहले कवियों के आश्रयदाता राजा थे। भक्तिकाल में यह आश्रय हटने लगा। भगवान् आश्रयदाता हो गए। किंतु भक्तिकाल के अनंतर रीति-काल या शृंगारकाल में कवियों के आश्रयदाता फिर राजा होने लगे।

ऐसी स्थिति में दो वर्ग हो गए। एक तो वे कवि दिखाई देते हैं जो नरकाव्य करते हुए भी नरकाव्य नहीं करते थे। नायक-नायिका-भेद लिखनेवाले शृंगार का जो वर्णन करते थे वह लौकिक ही होता था पर बहाना अलौकिक का ही रहता था। जिन्हें यह शंका होती थी कि हमारी कविता का इस लोकप्रवण युग में, इस कलिकाल में, कदाचित् आदर न हो वे यह संतोष कर लेते थे कि

आगे के सुकवि रीझिहैं तौ कविताई
न तु राधिका-कन्हाई-सुमिरन को बहानो है।

तात्पर्य यह कि नायक और नायिका राधिका और कन्हाई ही हो सकते थे, कोई लौकिक नर-नारी नहीं। शास्त्रीय दृष्टि से दिव्य या दिव्यादिव्य ही काव्य के आलंबन या नेता हो सकते थे, अदिव्य नहीं। ऐसे ही लोग कहते थे कि 'नर की नरकाव्य करैं नरकी'। पर 'नरकी' होते ही थे।

वे जिसके दरबार में आश्रय पाते थे उसकी प्रशस्ति लिखते ही थे। साधारण से साधारण नरेश भी राम की उपमा पाते थे। मक्खी मारनेवाले या बिल्ली से चौंकनेवाले भी विक्रम, अर्जुन कहे जाते थे। चाटुकार लोग उनकी प्रशंसा के पुल बाँधते ही रहते थे। चारण-भाटों का युग तो समाप्त हो गया था, पर वह वृत्ति नहीं मरी थी।

अर्थ के लोभ से कविंद राजाओं की अतिशयोक्तिपूर्ण, अत्युक्ति से भरी, श्लाघा करते ही थे। एक साहित्य या काव्य के आर्थिक आधार को चरितार्थ करने के लिए कहता था और दूसरा यशोलिप्सा में ऐसा कहवाता था, लिखवाकर रक्षित रखता था। युद्ध कम हो गए थे, पर युद्ध का वर्णन कम नहीं हुआ था।

कवियों में होड़ लगी थी। कुछ जो एक द्वार से अपना पेट नहीं भर पाते थे कुछ चुने छंद बनाकर दर दर घूमते थे। 'राजा अमुक सिंह' के स्थान पर 'राजा अमुक वीर' आदि अदल-बदल कर एक ही उक्ति से बहुतों को कुछ लोग प्रसन्न करते थे और 'बिदाई', 'भेंट' 'उपहार' आदि पा जाया करते थे। पर झूठी प्रशंसा कब तक सच्ची मानी जा सकती थी। लोकरक्षक वीरों के लिए काव्य-वाणी तरसती रहती थी और उन्हें पाकर उसे उल्लास होता ही था और सत्य कहने के लिए बाध्य होना ही पड़ता था। 'भूषण' ने वैसों को कलि के राजा और कलि के कविराजा कहकर बड़ी कड़ी और सच्ची आलोचना की—

भूषन यों कलि के कविराजन राजन के गुन गाय नसानी।
पुन्यचरित्र-सिवा-सरजैं-सर, न्हाय पवित्र भई पुनि बानी॥

काव्य-भारती पहले काव्य के समुचित आलंबनों या नायकों के वर्णन में प्रवृत्त होती थी। फिर वह कलियुगी आलंबनों और कलियुगी कर्ताओं के चक्कर में पड़कर अपवित्र हो गई। लोक-हृदय शिवाजी आदि के पुण्यचरित्रों के 'मानस' में स्नान करके वही भारती फिर से पवित्र हुई।

तात्पर्य यह कि कवियों की दृष्टि वास्तविक काव्य-नायकों से हटकर कुछ समय के लिए नायकाभास या अनायक व्यक्तियों के चरित्र-वर्णन में जा लगी। कर्ताओं

में, सरस्वती के हंसों ने, नीर-क्षीर का विवेक त्याग कर, गुण-क्षीर का परित्याग करके, दुर्गुण-नीर पर ही अपनी चोंचें चलानी या मारनी आरंभ कर दीं।

इसी का यह परिणाम था कि नरकाव्य बनना कुछ कम होने लगा। उसे काव्य मानने में हिचक होने लगी। जिस देश ने नर में नारायण की कल्पना के दर्शन किए थे, उसमें सामान्य नरों को नारायण कहे जाने पर नरकाव्य से विरक्ति हो जाना स्वाभाविक था।

इसका यह अर्थ न लगाया जाय कि सामान्य नर काव्य के आलंबन हो ही नहीं सकते। असामान्य या असाधारण को काव्य-विषय स्वीकार करने का हेतु यही था कि सामाजिक दृष्टि से जो सामान्य समझा जाता है वह काव्य का विषय नहीं हो सकता। इसका तात्पर्य यही था कि जो सामान्य से असाधारण हो उसमें भी काव्य की सर्वजनीनता के लिए, लोकप्रिय होने के लिए असाधारण गुण, योग्यता या क्षमता होनी ही चाहिए।

काव्य में किसी जाति, वर्ग, दल, संप्रदाय आदि का कोई आग्रह नहीं होता। आग्रह होता है उस नर व्यक्ति के असाधारणत्व का, जिसका साधारणीकरण हो सके। साधारणीकरण के लिए असाधारणत्व की अपेक्षा होती है।

बिना असाधारण के साधारणीकरण कैसा? असाधारण का तात्पर्य यह भी नहीं कि व्यक्ति-व्यक्ति में जो व्यक्तिपरक अपनी-अपनी विशेषताएँ होती हैं उतना ही अपेक्षित है। असाधारण का तात्पर्य विशेष की विशेषता या व्यक्ति का व्यक्तित्व नहीं है। विशेष का प्रयोजन केवल पार्थक्य-बोधक सामान्य लक्षण नहीं है।

उसका अर्थ है वह असाधारण गुण, वह असाधारण विशेषता जो साधारणीकृत हो सके अर्थात् काव्य में ऐसे असाधारण गुणों का समन्वय जो सब या अधिकांश सामाजिकों, सामाजिक व्यक्तियों के हृदय में एक सी ही अनुभूति का उद्बोधन करने में समर्थ हो।

असाधारण का तात्पर्य यह है कि उसमें ऐसे सर्वसामान्य गुणों का न्यास हो जो विशेषत्व में नहीं साधारणत्व में परिणत हो सके। लोकहृदय असाधारणत्व की अपेक्षा होती है काव्य को, व्यक्तिपरक विशेषत्व या वैचित्र्य काव्य को सर्वव्यापी नहीं बना सकता।

निष्कर्ष यह निकला कि असाधारणत्व का तात्पर्य है लोकव्यापी होना। ऐसा गुण जिसे लोक के सब या अधिक से अधिक व्यक्ति अपने हृदय का आलंबन बना सकें। शृंगारकाल में ऐसे असाधारण-गुण-संपन्न व्यक्तियों का अभाव था, इसीसे नरकाव्य हिंदी में बहुत कम बने। जो काव्य बने भी उनमें उस युग की सर्व-

सामान्य प्रवृत्ति के अनुसार मुक्तक-रचना ही की गई। हिंदी में महाराणा प्रताप और शिवाजी पर प्रबंधबद्ध काव्य कहाँ मिलते हैं। कुछ प्रकीर्णक उक्तियाँ ही मिलती हैं। महाराणा प्रताप पर तो बहुत कम लिखा गया। 'लाल' ने अलबत छत्रसाल की कथा प्रबंधबद्ध की है 'छत्रप्रकाश' में।

हिंदी का आधुनिक युग संवत् १९०० के आस-पास आरंभ होता है, जब राजाओं के दरबार तो रह गए थे, पर मनोवृत्ति में परिवर्तन हो गया था। देश और समाज को काव्य का आलंबन बनाया गया, राजकाव्य बंद हुआ। इसके साथ ही देश और समाज का नेतृत्व करनेवाले महापुरुषों के दर्शन होने लगे जिनपर काव्य लिखने के बदले राजा-रावों की प्रशस्ति करना कवियों ने गर्हित समझा। भाट-मनोवृत्तिवाले लोग इस युग में भी होते थे जो राजा-रईसों के मानपत्र पद्यबद्ध किया करते थे। पर यह सर्वसामान्य मनोवृत्ति न थी।

स्वतंत्रता का आंदोलन छिड़ने पर देश में पुण्यचरित्र अनेक महापुरुषों के दर्शन हुए और उनपर लिखने के लिए हृदय लालयित होने लगे। पर इस युग के पदन्यास के साथ ही हिंदी-गद्य का विकास और प्रसार हो गया। अतः लालसा की पूर्ति के लिए श्रमसाध्य कविता से बहुत से लोग पराङ्मुख हो गए और गद्य में लिखकर मनस्तुष्टि कर लेने लगे। इसके साथ ही साहित्य के अतिरिक्त अन्य वाङ्मयों का भी उत्थान हुआ और महापुरुषों पर पुस्तकें इतिहास के पल्ले पड़ीं।

पत्र-पत्रिकाओं में जो लेख महापुरुषों के चरित्रों का व्याख्यान करनेवाले प्रकाशित होते थे उनमें बुद्धि और चित्त इन दो अंतःकरणों की महत्ता बढ़ी, जानकारी और अनुसंधान की महत्ता हो गई। हृदय के उद्गार कुछ फुटकल कविताओं में ही कभी कभी निकला करते थे, जिनका प्रकाशन पत्र-पत्रिकाओं में होता रहता था।

इस युग में बुद्धि का प्राधान्य हो जाने से और अँगरेजी-साहित्य के संपर्क के कारण छाया-रहस्य की व्यक्तिमूलक रचनाओं का प्राबल्य हो जाने से महापुरुषों पर काव्य लिखने और प्रबंध-काव्य लिखने की वृत्ति को अवकाश नहीं मिल पाता था।

व्यक्ति के बदले, चाहे वह व्यक्ति महापुरुष ही क्यों न हो समष्टि-रूप में जनता की आराधना मुख्य हो गई। इससे किसी महापुरुष पर भी ग्रंथ लिखना चाटुकारिता का भय सा जगाने लगा। अतः नरकाव्य के लिए अवकाश होने पर भी उसके लिखने का चलन न हो सका।

राष्ट्रीय दृष्टि से भारत मुख्य हुआ, भारत की सेवा करनेवाले समष्टि-रूप में प्रधान हुए और सामाजिक दृष्टि से जनता मुख्य हुई और जनता की सेवा करनेवाले समष्टि-रूप में प्रधान हुए। उन्हीं पर कविताएँ लिखी गईं। व्यक्ति विशेष, महा-

मुक्तक निबंध, पर रचनाएँ कम हुईं। समाजों में भाषणों और गद्य के माध्यमों से काम चल जाता था। पद्यबद्ध कविता बहुत कम लिखी जाती थी।

किंतु आधुनिक युग में अकस्मात् महात्मा गांधी का ऐसा असाधारण व्यक्तित्व भारत में उठ खड़ा हुआ जिसने हृदय को बड़ी तीव्र उत्तेजना दी। फल यह हुआ कि उनके असहयोग-आंदोलन के समय से ही (संवत् १९७२-७३) उन पर, उनके चरखे पर, स्वदेशी पर कविताओं का पहाड़ लगने लगा। प्रतिष्ठित कवियों में हिंदी के प्रसिद्ध काव्यमर्मज्ञ लाला भगवानदीन तक दिखाई देते हैं। उन्होंने चरखास्तक आदि अनेक रचनाएँ की थीं; राष्ट्रकवियों, भारतीय आत्माओं राष्ट्रीय आत्माओं की तो बात ही पृथक् है।

महात्मा गांधी को पाकर भक्तों ने अपनी चिंता सिर से उतारी, उनके शिथिल अंगों में उत्साह हुआ और झंकार निरंतर झंकृति होने लगी। पौराणिक दृष्टि से महात्मा गांधी अवतार हुए और उनकी तुलना राम, कृष्ण, बुद्ध आदि से की जाने लगी। जनता में कल्पना ही नहीं पैठी, शिक्षितों में भी उन्मेष आया और सहस्रशः चित्र खिंचे और लिखे। भारत में फिर नर में नारायण की कला के दर्शन किए।

मुक्तक या निबंध-काव्य से ही संतुष्ट न होकर कवि प्रबंध-काव्य की ओर भी गए। उनके बलिदान के अनंतर तो हृदय में भारी क्षोभ हुआ और उस बलिदान पर सहस्रशः रचनाएँ पद्यबद्ध की गईं। हिंदी-काव्य को वास्तविक काव्यपुरुष की प्राप्ति हुई और उस पर बड़े बड़े काव्यों की रचना करने का उन्मेष हुआ। गद्य में जो कुछ लिखा गया उस प्रभूत ग्रंथराशि की चर्चा जान-बूझकर छोड़ दी गई है।

महात्मा गांधी असाधारण व्यक्तित्व वाले थे। इसीलिए काव्य के लिए सच्चे आलंबन हुए। साहित्य या काव्य के लिए वही पुरुष, आलंबन या नायक होता है जो लोकमान्य हो। जिसने अपने व्यक्तित्व का लोक में लय कर दिया हो। यह लीनता जितनी ही अधिक होगी काव्य के लिए उसका आलंबनत्व उतना ही अनिवार्य होगा।

काव्य का निर्माण करनेवाला कवि श्रद्धावान् होता है। श्रद्धा ऐसा आलंबन चाहती है जो केवल श्रद्धावान् व्यक्ति का ही आलंबन न हो, प्रत्युत अन्य श्रद्धावानों का भी आलंबन हो। श्रद्धा सामाजिक भाव है, श्रद्धेय सामाजिक असाधारण व्यक्ति है। श्रद्धा अपनी अभिव्यक्ति के बदले कोई लौकिक प्रतिदान नहीं चाहती।

यदि किसी के प्रति कोई काव्य लिखकर अर्थ, पद आदि पाने की लिप्सा रखता हो तो वह सच्चा कवि नहीं हो सकता। हृदय की सच्ची अभिव्यक्ति वहीं काव्यबद्ध समझनी चाहिए जहाँ इस प्रकार के स्थूल प्रतिलाभ की संभावना न हो।

राम, कृष्ण, बुद्ध, शिवा, प्रताप आदि के प्रति आज जो काव्य लिखते हैं उन्हें क्या प्रतिफल मिल सकता है उन चरित्रनायकों से। कुछ भी नहीं। हाँ, समाज ऐसे कवि का संमान कर सकता है, उसका यश हो सकता है।

यश भी काव्य का प्रधान प्रयोजन है। भूषण को शिवाजी से काव्य के बदले द्रव्य भी मिलता था। भले ही उन्होंने उचित आलंबन का चुनाव किया हो, पर कोई उन्हें दरबारी कवि कहकर निचले सोपान पर स्थापित करना चाहे तो कौन रोक सकता है। बहुतों ने उन्हें कोरा भाट कहा भी है। संप्रति अनेक राजनीतिक नेताओं की प्रशस्तियाँ, अभिनंदन-ग्रंथ आदि प्रकाशित होते हैं। वे श्रद्धेय हों, उनकी प्रशंसा हो, पर कोई उस प्रशस्ति के पीछे अपने लोभ, पद-प्राप्ति आदि की लिप्सा को भी छिपाए हो तो इसमें असंभावना क्या है।

पर महात्मा गांधी के काव्य-गायकों के संबंध में यह संभावना पहले भी नहीं थी और अब भी नहीं है। प्रत्युत अब तो उसकी नितांत संभावना नहीं है।

अतः भारतीय काव्य के लिए महात्मा गांधी प्रकृत, सात्त्विक और शाश्वत आलंबन के रूप में प्राप्त हुए। भारत ने केवल पराधीनता से उद्धारक महात्मा ही नहीं प्राप्त किया, लोक में सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति ही नहीं पाया, काव्य को गांधी के रूप में सच्चा नायक भी मिला। पुण्यश्लोक गांधी सब दृष्टियों से वास्तविक काव्यपुरुष थे। उन पर काव्यों का निर्माण हो रहा है और होता रहेगा।

'नरकाव्य' से जो विरक्ति भक्तिकाल तथा शृंगारकाल में आविर्भूत हुई थी उसे गांधी के अवतार ने सर्वभावेन दूर कर दिया। काव्य को नर में नारायण मिल गया।

३

प्रकृति का उपयोग

स्वर्गीय बाबू जयशंकर 'प्रसाद' ने अपनी कविता में प्रकृति का जैसा उपयोग किया है वैसा हिंदी के किसी आधुनिक कवि में नहीं देखा जाता। इसका तात्पर्य यह है कि प्रकृति के जैसे मधुर और रमणीय दृश्यों की योजना अपने काव्य में उन्होंने की है किसी दूसरे कवि ने नहीं। काव्य में प्रकृति का उपयोग कितने रूपों में हुआ करता है इसपर विचार कर लेने के अनंतर 'प्रसाद' जी द्वारा स्वीकृत रूपों और उनके उपयोग की विशेषता लक्षित करने में सरलता होगी। इसलिए देखना चाहिए कि प्रकृति का उपयोग कितने रूपों में होता है। प्रकृति काव्य में दो रूपों में आया करती है—

१. प्रस्तुत रूप में, और
२. अप्रस्तुत रूप में।

प्रस्तुत रूप में प्रकृति का विधान वहाँ होता है जहाँ वह स्वतः आलंबन के रूप में आती है। जैसे किरण, लहर, झरना आदि पर की गई रचनाएँ। अप्रस्तुत रूप में प्रकृति का विधान वहाँ समझना चाहिए जहाँ वह किसी अंगी का अंग होकर आए। जब उद्दीपन के लिए प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन किया जाता है और जब किसी रूप, गुण, क्रिया आदि के स्वरूप का बोध कराने के लिए उसका उपयोग होता है तो यह उसका अप्रस्तुत रूप कहा जाएगा। जैसे 'आँसू' में प्रेम को व्यक्त करने के लिए और प्रिय के रूप का बोध कराने के लिए कवि ने स्थान स्थान पर प्रकृति के दृश्य सामने रखे हैं। प्रस्तुत रूप में भी प्रकृति कई रूपों में वर्णित की गई है। स्पष्ट रूप दो दिखाई देते हैं एक तो ऐसे वर्णन जिनमें किसी स्थान या समय की आवश्यक या सामान्यतया दृष्टिपथ में आनेवाली सामग्री का पृथक् पृथक् उल्लेख मात्र पाया जाता है। दूसरा वह जिसमें पृथक् पृथक् उल्लेख नहीं होता वरन् कोई परिस्थिति सामने लाने का प्रयत्न लक्षित होता है। ऐसे वर्णनों में कवि कई वस्तुओं को एक साथ रखकर उनके द्वारा घटित होनेवाला दृश्य उपस्थित करता है। पहले को अश्लिष्ट और दूसरे को संश्लिष्ट वर्णन कह सकते हैं। इन दोनों प्रकार के वर्णनों में भी प्रकार-भेद पाया जाता है—

१. शुद्ध रूप में,
२. भावाक्षिप्त रूप में, और
३. अलंकृत रूप में।

शुद्ध रूप में वे वर्णन माने जाएँगे जिनमें कवि केवल प्रकृति का रूप प्रस्तुत करता है, प्रकृति ज्यों की त्यों सामने आती है, न उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन होता है और न कवि के हृदय के भाव का आक्षेप। साथ ही वर्णन को अलंकारों से लादने का प्रयत्न भी नहीं देखा जाता। 'प्रसाद' जी की रचना में इस प्रकार का शुद्ध रूप में वर्णन नहीं मिलता। उनकी आरंभ की कुछ कविताओं में ऐसा प्रयत्न है अवश्य, पर वे वर्णन भी अलंकृत होकर ही आए हैं। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय के 'प्रियप्रवास' में कहीं कहीं ऐसे वर्णन आ गए हैं। जैसे दिवावसान का यह वर्णन—

दिवस का अवसान समीप था,
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरुशिखा पर थी अब राजती,
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा॥

'प्रसाद' जी इसलिए दो रूप में प्रकृत का प्रस्तुत वर्णन ले आए हैं, एक तो भावाक्षिप्त रूप में, दूसरे अलंकृत रूप में। भावाक्षिप्त रूप में उनके वर्णन ऐसे देखे जाते हैं—

चपला की व्याकुलता लेकर,
चातक का ले करुण विलाप।
तारा आँसू पोंछ गगन के,
रोते हो किस दुख से आप॥

कहनेवाला दुःखी है इसलिए मेघों में वह दुःख का आक्षेप करके उनका वर्णन करता है। इस प्रकार के वर्णनों में भी वही कवि सफल हो सकता है जो व्यापक अनुभूति रखनेवाला हो और साथ ही कल्पना की सार्थकता के लिए प्रकृति के अवयवों में हर्ष या विषाद की चेष्टाओं का आरोप कर सकने की भी शक्ति रखता हो। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रसाद जी में दोनों ही बातें थीं।

अलंकृत वर्णनों के रूप में ऐसे वर्णन दिखाई पड़ते हैं—

धरा पर झुकी प्रार्थना-सदृश,
मधुर मुरली सी फिर भी मौन।
किसी अज्ञात विश्व की विकल,
वेदना दूती सी तुम कौन।

स्मरण रखना चाहिए कि अलङ्कार रूप में 'प्रसाद' पूरे रूपक तक खड़ा किया करते हैं पर इससे रस के मार्ग में कोई बाधा नहीं पड़ती, प्रत्युत उसे उद्दीपन करने में और सहायता मिल जाती है। जैसे—

सुन्दर-सिन्दूर-निर्मित
उषा सुंदरी के कर का संकेत।
जब नहीं हो तुम मिलते मधुप,
किसे दिखलाती प्रेम-निकेत॥

अलङ्कार-रूप में प्रकृति का जो उपयोग हो सकता है उसमें से सबसे पहले उद्दीपन के रूप में उसका जो वर्णन किया जाता है उसी पर विचार करना चाहिए। 'प्रसाद' जी ने अपने 'आँसू' में उद्दीपन के रूप में प्रकृति का उपयोग विलक्षण ढंग से किया है। शृंगार के उद्दीपन विभाव का साधारण लक्षण यही है कि संयोग के समय प्रकृति का चित्रण सुखप्रद और वियोग के समय विषादप्रद हो। पर 'प्रसाद' जी में तादात्म्य की ऐसी अधिक अनुभूति भी सामने आती है जिससे विरही प्रकृति को सुखप्रद न पाकर अपनी दशा के मेल में पाता है। संभव है शास्त्र का विशेष आग्रह माननेवाले इसे उचित न समझें। पर अलङ्कार रूप में प्रकृति के वर्णन का उल्लेख करते हुए कहा जा चुका है कि वह भावोद्दीपक रूप में भी रखी जाती है। उद्दीपन-रूप में प्रकृति पर भाव का आरोप करने से भी यही स्थिति हो जाती है। संयोगावस्था की तो कोई बात ही नहीं। केवल विप्रलंभ की दशा में यह कहा जा सकता है कि यदि प्रकृति सुखप्रद नहीं है तो विषाद को वह उद्दीप्त कैसे करेगी। पर केवल उसके सुन्दर होने से ही उद्दीपन हो ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, यदि प्रकृति भी उसी भाव में मग्न दिखाई दे जिस भाव में वियोगी मग्न है तो भी उसका दुःखात्मक भाव उद्दीप्त ही होगा। तादात्म्य की यह अनुभूति भी उद्दीपन का ही काम करेगी। इस पर यह आपत्ति हो सकती है कि क्या प्रकृति के साथ दुःख में भी तादात्म्य की अनुभूति होती है। हाँ, होती है। जब कोई दुःखी व्यक्ति कहता है कि 'मुझे संसार सूना जान पड़ता है, संसार में अब धरा ही क्या है' आदि तो ऐसी अनुभूति के कारण जीवन के सूनेपन का आरोप करके व्यक्ति अपना दुःख विस्तृत कर लेता है। प्रसाद जी के 'आँसू' में इस प्रकार की अनेक उक्तियाँ आई हैं—

चातक की चकित पुकारें,
श्यामा-ध्वनि सरल रसीली।

मेरी करुणार्द्र कथा की
टुकड़ी आँसू से गीली ॥

प्रस्तुत-रूप में दूसरा प्रकृति का विधान अलंकार के भीतर आता है जो साम्य के लिए किया जाता है। 'प्रसाद' जी ने अलंकार-रूप में प्रकृति का उपयोग करने में माधुर्य का विशेष ध्यान रखा है। ऐसी मधुर योजना दूसरा कवि नहीं कर सका है। साम्य दो प्रकार का होता है; एक तो केवल आकृतिसाम्य और दूसरा गुणसाम्य। इनमें वही साम्य अच्छा होगा जो वर्ण्य और अवर्ण्य के प्रभाव की एकता ला सके, कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रसादजी ने इसका बहुत ध्यान रखा है—

परिरंभ कुंभ की मदिरा,
निश्वास मलय के झोंके।
मुखचंद्र-चाँदनी-जल से
मैं उठता था मुहँ धो के ॥

"परिरंभ' और 'मदिरा', 'निश्वास' और 'मलय', 'मुखदीप्ति' और 'निर्मल जल' में प्रभाव-साम्य है। अलंकाराभ्यासी यहाँ एक और चमत्कार पा सकते हैं। 'चाँदनी' मुहँ धोने में असमर्थ है, पर 'जल' बनकर वह मुहँ धो सकती है—परिणाम अलंकार की चमत्कृति आ गई। मुख को चंद्र कहा गया, फिर मुख की दीप्ति चाँदनी हो गई, फिर यह चाँदनी जल बनी और उसने मुँह भी धो दिया।

किसी उपमेय का उपमान फिर उपमेय होकर दूसरे उपमान को भी ले आता है। ऐसी दुहरी योजना इनकी रचना में बहुत है। कहना इतना ही है कि प्रेमी प्रातःकाल जब आँखें खोलता है तो सबसे पहले प्रिय का मुख दिखाई देता है।

कहीं कहीं तो अगोचर भावों को गोचर करने और उनके संमिलित माधुर्य की व्यंजना के लिए वे ऐसे दृश्य भी ले आए हैं—

१. लिपटे सोते थे मन में
सुख-दुख दोनों ही ऐसे।
चंद्रिका अँधेरी मिलती
मालती-कुंज में जैसे।

२. क्यों व्यथित व्योम-गंगा सी
छिटकाकर दोनों छोरें।
चेतना-तरंगिनि मेरी
लेती है मृदुल हिलोरें।

अधिक कहने की आवश्यकता नहीं, 'प्रसाद' जी ने प्रकृति की ऐसी पीठिका अपनी कविता में दी है जिसके अन्तर्गत रूप, रंग, गंध आदि की व्यंजना बहुत कम नहीं है। कविता में प्रकृति की ऐसी मधुर स्वाभाविक योजना करनेवाला और उसके प्रति ऐसी मार्मिक दृष्टि रखनेवाला कोई दूसरा आधुनिक कवि नहीं दिखाई देता। प्रकृति के विविध रूप तो इनकी कविता में अवश्य नहीं मिलते, पर जो मिलते हैं उनकी मधुरिमा, उनकी व्यंजना ऐसी है जैसी अन्यत्र दुर्लभ है। इनका संतोष 'बाह्यजगत' से नहीं होता 'अंतर्जगत' की ओर ये उन्मुख रहते हैं। इन्होंने हिंदी में 'स्वप्न जगत्' को सिद्ध कर दिया है।

है। वस्तुतः वे हिंदी की परंपरा में ही विकसित हुए हैं, उनकी रचना में परंपरा का ध्यान, उसका पालन अन्य नवीनों की अपेक्षा अधिक मिलता है। 'प्रसाद' क्रांतिकारी नहीं थे, प्राचीन का विनाश करके नवीन की स्थापना करने का प्रयास उन्होंने नहीं किया। उन्होंने प्राचीनता की नीवँ पर ही नवीनता का भवन खड़ा किया। प्राचीनता नीवँ में छिपी है, नवीनता भवन में प्रकट है।

आधुनिक काल के पूर्व जिस प्रकार की रचनाएँ होती थीं ठीक उसी प्रकार की रचनाएँ तो उनकी नहीं हैं। भारतेंदु हरिश्चंद्र की भी रचनाएँ पूर्ववर्ती कवियों से नहीं मिलतीं पर उनका अनुगमन अवश्य करती हैं। पर न सभी पूर्ववर्ती कवियों के काव्य की अनुवर्तिनी कृति भारतेंदु की है न प्रसाद की। बिहारी, देव, पद्माकर आदि रीति के अनुयायी थे, पर आनंदघन, बोधा, ठाकुर आदि स्वच्छंद कवि। देव की रचनाएँ रीतिबद्ध ही हैं, फिर भी बिहारी की अपेक्षा स्वच्छंदता की मात्रा देव में अधिक अवश्य है। यद्यपि बिहारी ने रीतिग्रंथ नहीं लिखा तथापि उनके अधिकतर दोहरे रीति के रंग में रँगे हुए हैं। देव ने कई रीतिग्रंथ लिखे पर अनुपात में उनकी रचना में स्वच्छंद वृत्ति के विधायक छंद अधिक हैं। पर देव आनंदघन नहीं थे, और वे बिहारी भी नहीं थे। भारतेंदु ने अनुगमन आनंदघन और देव का किया, बिहारी का नहीं। प्रसाद भारतेंदु के अनुयायी थे, पर उनके अनुगम्य आनंदघन के अनुयायी भारतेंदु थे। देव में कुछ चपलता है, आनंदघन में स्थिरता-गंभीरता। भारतेंदु में भी कुछ-कुछ चपलता है, पर प्रसाद में चपलता नहीं, स्थिरता है। रीति बद्धता न भारतेंदु में थी, न प्रसाद में; पर परंपरा की स्वीकृति दोनों में है, अप्रस्तुतविधान के कुछ पूर्वस्वीकृत पथ दोनों ने पकड़े हैं। 'आँसू' प्रसाद की नूतन प्रवृत्तिमय रचना मानी जाती है पर उसमें प्रिय और प्रिया के रूप का उपमित विधान पारंपरिक है। भले ही पूरा नखशिख या सरापा न हो, कुछ अंगों का क्रमिक वर्णन ही हो—

बाँधा था विधु को किसने
इन काली जंजीरों से।
मणिवाले फणियों का मुख
क्यों भरा हुआ हीरों से।

× × ×

यही बात अलंकारों के संबंध में भी है। रीति के विरुद्ध उठ खड़े होने से यह न समझ लेना चाहिए कि नूतन काव्यधारा ने पुराने अलंकार-विधान से आँखें मूँद ली थीं। हाँ, रीति के नाम पर उन विधानों का ग्रहण त्याज्य हो गया था पर बाहर से आई प्रवृत्तियों के रूप में उन्हीं विलक्षणताओं का संग्रह प्रकाम

हुआ है। मुद्रालंकार में प्रसंगप्राप्त अर्थ के अतिरिक्त चमत्काराधायक एक दूसरा अर्थ भी नियोजित रहता है, जिसका प्रसंगप्राप्त अर्थ से प्रायः कोई संबंध नहीं रहता। यदि प्रासंगिक अर्थ से वह संलग्न कर दिया जाय तो वाच्य-काव्य अर्थात् अलंकार के क्षेत्र से वह व्यंग्य-काव्य के क्षेत्र में चला जाय। नूतन धारा मुद्रालंकार के परिमित घेरे से बाहर जाकर भंगीभणिति का सौष्ठव, विदग्धता, दिखा सकती थी पर उसने रीतिबद्ध कवियों का उक्त बँधा वाग्वैभव तो त्याग दिया, किंतु उर्दू में प्रचलित उसी प्रकार के मुद्रालंकार का स्वीकार बेधड़क किया—

लावण्य-शैल राई सा
जिस पर वारी बलिहारी।
उस कमनीयता कला की
सुषमा थी प्यारी प्यारी।

इसमें सुषमा का वर्णन करते हुए 'लावण्य' (सौंदर्य और नमकीनपन) के साथ 'राई' का व्यवहार ध्यान देने योग्य है। अति सुंदर पर 'राई लोन वारना' नजर न लगने का बहुप्रचलित विधान है।

'प्रसाद' में स्वच्छंदता है, पर प्राचीन काव्य के अनुशीलन-मनन के कारण परंपरा का अंध-त्याग नहीं है। वस्तुतः उनका विकास प्राचीनता की भूमिका पर ही समझना चाहिए। यही कारण था कि उन्होंने पहले अपनी कृतियाँ प्राचीनों की ही भाँति लिखनी आरंभ की थीं। हाँ, उनमें आनंदघन आदि की अनुसारिणी वृत्ति थी।

एकांकी नाटक

इधर हिंदी में एकांकी नाटकों का प्रचार या प्रसार बहुत हुआ है। ये नाटक इस अर्थ में आधुनिक हैं कि इनका चलन अभी थोड़े दिनों से हुआ है। बड़े-बड़े नाटकों के निर्माता अब कम हो गए हैं। हिंदी में यों ही अधिक रूपककार नहीं थे, पर जब से 'एकांकी' लिखने की प्रथा हुई, बृहत् रूपककार भी इसी 'लघुकाय' के निर्माण में लग गए। अन्य लेखकों का कहना ही क्या, लिखने का उत्साह और कुछ थोड़ी ही शक्ति रखनेवालों की तो इस पर सेना ही टूट पड़ी। बहुत से एकांकी लिखे जा रहे हैं। ऐसा क्यों हुआ? कोई अनिवार्य आवश्यकता है जो लेखकों को इसका निर्माण करने और पाठकों को उसे पढ़ने के लिए विवश कर रही है। मेरी समझ में यह जीवन की संकुलता का तीव्र अनुरोध है।

हमारा क्या, सारे संसार का जीवन संकुल हो रहा है। इसके कारण जीवन में अनेक समस्याएँ और वे भी नई-नई खड़ी हो रही हैं। इस संकुलता का कारण है मानव-जाति की संवृद्धि, सारे विश्व से उसकी संबद्धता और फलस्वरूप जीवन में अवकाश का अभाव। इसका प्रभाव हमारे जीवन पर है, हमारे जीवन की प्रतिबिंबित सत्ता का पता देनेवाले साहित्य पर है। बाहर से हम प्रभावित हैं, भीतर भी प्रभावित हो रहे हैं। जीवन में क्या हो रहा है, यह बतलाने का अवकाश या अवसर यहाँ नहीं, पर इतना तो कहना ही पड़ेगा कि हमारे जीवन में 'प्रगति' बढ़ती ही जा रही है। जीवन गतिशील रहा है, वह चाहे यहाँ का हो चाहे किसी दूसरे देश का, समाज का, पर अब सर्वत्र 'प्रगति' है। गति में तीव्रता है। पैदल चलनेवाला मनुष्य अब वायुयान से यात्रा कर रहा है। भारत के साधु-संन्यासी जो प्रायः पैदल ही या शिविकारूढ़ होकर यात्रा करते थे विद्युद्वेग या मरुद्वेग से उड़ रहे हैं। इसका प्रभाव मानव की आयु पर भी पड़ा है। जहाँ आयु की सीमा 'अष्टोत्तरी' और 'विंशोत्तरी' थी और 'जीवेम शरदः शतम्' कह-कहकर लोग तावत्काल तक जीते थे, वहाँ साठ और पचपन में विश्राम लेने का नियम बन गया है और उस सीमा तक भी बहुत कम लोग पहुँच पाते

हैं। यदि एक ओर प्रगति है तो दूसरी ओर लघिमा। प्रगति के लिए लघिमा अनिवार्य है। भारी में गति की कमी और लघुक या हलके में गति की तीव्रता होती है। जीवन में प्रगति और जीवन के व्याख्याता साहित्य में प्रगति की माँग वस्तुतः जीवन की गंभीरता और साहित्य के भार को उथला और हलका करने के लिए है। हमारे जीवन में ज्यों-ज्यों कृत्रिम साधन बढ़ते जा रहे हैं और ज्यों-ज्यों जन-संख्या संवृद्ध होती जाती है त्यों-त्यों उसका प्रकृत रूप और ढलता जा रहा है। अतः एक ओर तो जीवन का प्रकृत रूप लाने के लिए अनेक कृत्रिम आवरणों को हटाने की अपेक्षा दिन प्रतिदिन बढ़ती जायगी और वह अधिकाधिक श्रमसाध्य भी होती जायगी तथा दूसरी ओर बुद्धि की विक्षेपकारिणी माया हटाने के भाव की स्वाभाविकता अनिवार्य होती जायगी। ज्ञान-विज्ञान या बुद्धि हमें कृत्रिमता की ओर अधिक ले जाती है, उसके विस्तार और आधिक्य से स्वार्थ की प्रवृत्ति अधिक बढ़ती है। यही हो रहा है। भाव का संबंध स्वभाव से होता भी है तो वह स्वाभाविक और प्रकृत भूमि पर ही हमें रखता है। भावुक मूर्ख हो सकता है, पर वह स्वार्थी नहीं हो सकता। बुद्धिमान् पंडित हो सकता है, पर उसके स्वार्थी होने की संभावना अधिक रहती है।

जीवन के लिए बुद्धि और भाव, मस्तिष्क और हृदय दोनों अपेक्षित हैं। एक के भी अभाव में जीवन आधा ही रहता है। साहित्य भी 'सहित', 'योग', 'समन्वय' से ही चलता है, उसमें 'केवल' शब्द और अर्थ का ही योग नहीं रहता, भाव और ज्ञान का भी योग रहता है—हृदय और बुद्धि का भी योग रहता है। पर साहित्य में ज्ञान का योग गौण रहता है। उसके वस्तुतः निर्माणात्मक और समीक्षात्मक दो पक्ष होते हैं—निर्माणात्मक पक्ष में भाव की प्रधानता रहती है और समीक्षात्मक पक्ष में ज्ञान की। साहित्य के समीक्षात्मक पक्ष के लिए भाव की भी अपेक्षा रहती है। समीक्षक भावात्मक सत्ता के द्वारा निर्मित वाङ्मय को बिना हृदयंगम किए उसकी समीक्षा क्या करेगा। इसलिए साहित्य का शास्त्र-पक्ष वस्तुतः उसके निर्माण-पक्ष को समझने-समझाने के लिए रहता है। इसी से साहित्य का प्रधान लक्ष्य 'भाव' ही ठहरता है, इसलिए वह भावयोग, अनुभूतियोग ही है। उसमें ज्ञान आदि सहायक रूप में ही रहते हैं। निर्माण में भी, विवेचन में भी, समीक्षक को 'बुध' ही नहीं, 'सहृदय' भी होना चाहिए। तात्पर्य यह कि साहित्य जीवन को भावसत्ता अर्थात् प्रकृत भूमि पर स्थित करने के लिए होता है। वह जीवन को ज्यों का त्यों नहीं लेता, उसका यथातथ्य रूप सामने नहीं लाता। जो कुछ वह सामने लाता है वह प्रकृत रूप को लक्ष्य में रखकर लाता है। कृत्रिम जीवन को हटाकर वह मूल प्रकृत रूप को दिखाना चाहता है। वह विशुद्ध यथार्थ-

वादी होकर यदि जीवन का कृत्रिम, चतुर्दिक् व्याप्त रूप दिखाने लगे तो लक्ष्यभ्रष्ट हो जायगा। वह हमारा रंजन भले ही कर ले, पर सत् या प्रकृत रूप तक ले जाकर सत्त्वस्थ नहीं कर सकता, वह सत्त्वोद्रेक में अशक्त रहेगा। वह इसी में आदर्श को भी लेकर चलता है जिससे हम अपने प्रकृत या मूल रूप की झलक पा सकें। कृत्रिम रूप को हटा सकें।

पश्चिमी साहित्यगत शास्त्रों में और समाजगत शास्त्रों में भी बुद्धिबद्ध एकांगी-वाद प्रायः खड़े होते रहते हैं। जैसे जीवन में साम्यवाद, अर्थवाद, कामवाद आदि एकांगी हैं वैसे ही साहित्य में यथार्थवाद,, अभिव्यंजनावाद आदि भी। साहित्य में दोनों का, सबका समन्वय अपेक्षित होता है। एकांगिता का प्रदर्शन ही सांप्रदायिकता है। हिंदी में पश्चिम या उत्तर के बहुत से वाद, प्रवाद या बकवाद आए और अपनी अल्पायु भोग कर नष्ट हो गए। यथार्थवाद के नाम पर हिंदी में जीवन का कैसा एकांगी प्रदर्शन हुआ, इससे सभी परिचित हैं। जीवन जब द्वंद्व है तो 'एक' से उसके स्वरूप का पता कैसे चल सकता है। पर ज्यों-ज्यों समय बीतता गया और विदेश में इन वादों की परिसमाप्ति होती गई, यहाँ भी जीवन और साहित्य में शांत-अशांत धारा होती गई। कविता और कथा-कहानी के क्षेत्र में क्रमशः जो अभिव्यंजना और यथार्थ का अत्यधिक आग्रह था कम हो गया। कविता आत्मव्यंजना का पल्ला पकड़कर प्रायः अंतर्वृत्तिनिरूपिणी हो गई और कथा-कहानी यथार्थ की पद्धति पर चलकर प्रायः बाह्यविषय-प्रदर्शिका। साहित्य के इन दोनों क्षेत्रों में जो समन्वित भूमि होनी चाहिए थी उसकी ओर से दृष्टि प्रायः हट गई। उपर्युक्त दृष्टियों से साहित्य के निर्माण में मूलतः लघिमा का आग्रह था। कविता की अभिव्यक्ति मात्र मान लेने से वह व्यक्तिबद्ध हो जाती है और व्यक्ति की सीमा ही कितनी! फलतः कविता में मुक्तकों और प्रगीतों की बाढ़ आई। कथा-कहानी को 'यथार्थ' से जोड़ना वर्तमान में रमना था। वर्तमान में जीवन का अंशमात्र ही दिखाई देता है। कथा-कहानी वर्तमान से बँधकर अपना विस्तार ही कितना कर सकती थी। जीवन के पारंपरिक अखंड रूप से वह खंडित होकर छोटी हुई। आकार में ही नहीं, जीवन के विचार में भी। कथा-कहानी लिखनेवालों में से अधिकतर जो अपने चतुर्दिक् के जीवन से आगे की बात सोच नहीं पाते उसका कारण यही है कि उनकी सीमा छोटी है, उनकी वृत्ति संकुचित हो गई है। साहित्य की त्रिकालाबाधित और देश-विदेशातिक्रांत परिभाषा—यदि ऐसी ही प्रगति रही तो—न रह जायगी। रूसी साहित्य, चीनी साहित्य, भारतीय साहित्य आदि में अभी तो बहुत कुछ नामरूप का ही भेद रहता आया है, पर नवीन वादों का ही आग्रह होने से और उन वादों का प्राचीन से

सामंजस्य न घटित होने से ऐसा भी समय आ सकता है जब काशी-साहित्य, प्रयाग-साहित्य, कलकत्ता-साहित्य, बंबई-साहित्य आदि लघु सीमा के साहित्य बनने लगें और उनका सार्वभौम और शाश्वत साहित्य से संबंध विच्छिन्न हो जाय। लोग साहित्य में सांप्रदायिकता की चर्चा करने लगे हैं। कुछ साहित्य से सांप्रदायिकता हटाने का आंदोलन भी कर रहे हैं। पर ऐसे लोग कहते तो हैं साहित्य से सांप्रदायिकता हटाने की बात, पर स्वयम् ही साहित्य पर सांप्रदायिकता लाद रहे हैं।

यथार्थ का आग्रह साहित्य में वहीं तक ठीक है जहाँ तक हम प्रस्तुत रचना को कृत्रिम न मान बैठें। यथार्थ के नाम पर की जानेवाली रचना किसी न किसी उद्देश्य में ही पर्यवसित होती है और लेखक जो रूप उपस्थित करता है वह जब तक लोकबुद्धि से सत् नहीं सिद्ध होता तब तक यथार्थ नहीं कहा जा सकता। लेखक ने जो कुछ लिखा है पढ़नेवाले भी उसे यथार्थ समझें तभी तो वह यथार्थ या प्रकृत कहा जायगा अर्थात् प्रकृत या यथार्थ की कसौटी कोई लोकसमन्वित भूमि है। जिसे लेखक यथार्थ समझता है वह उसका व्यक्तिगत यथार्थ नहीं है, वह लोकगत यथार्थ होता है। जैसे कोई सामाजिक दृष्टि से बहुत दुराचारी है। अब ऐसा हो सकता है कि दुराचारी व्यक्ति जीवन में फूलता-फलता रहे। लेखक को उसके फूलने-फलने की वर्णना करनी चाहिए। पर लेखक इसे कभी स्वीकार नहीं कर सकता कि फूलने-फलने के अनंतर अंत में उसका भला ही परिणाम हो। जनता या लोक का विश्वास कुछ इस प्रकार का है—

उघरे अंत न होइ निबाहू।
कालनेमि जिमि रावन राहू॥

इसके विरुद्ध भी इसी प्रकार का उदाहरण रखकर देखा जा सकता है। जो सदाचारी हैं वे जीवन में कष्ट भोगते हैं। यदि कोई उनके कष्ट भोगने का वर्णन करता है तो यह यथार्थ है। पर लोक यहीं तक नहीं रुक सकता, वह यह भी देखना चाहता है कि उस सदाचारी का अंत कैसे हुआ। हो सकता है कि कोई सदाचारी कष्ट भोगते-भोगते ही ऐहलौकिक लीला समाप्त कर दे। किंतु लोक की संतुष्टि इससे नहीं हो सकती। वह सत् का परिणाम सत् ही चाहता है। हो सकता है कि सत् की यह ज्योति उस सदाचारी के जीवन के अनंतर फूटे। पर उस ज्योति को लक्ष्य में बिना रखे केवल यथार्थ को ज्यों का त्यों सामने कर देने से लोक का मानसतोष न होगा। राष्ट्रीय स्वतंत्रता के संग्राम में बहुतों ने अपनी आहुति दी। आहुति देनेवालों का लक्ष्य सत् था। जीवन में उन्होंने यातनाएँ भोगीं। उनका प्रदर्शन भी अनेक प्रतिभासंपन्न लेखकों ने किया। पर उन्होंने उस सत् पर दृष्टि रखकर ही यह प्रदर्शन किया। इसलिए कहना पड़ता है कि यही

'सत्' वस्तुतः यथार्थ है, प्रकृत है। जो 'असत्' रूप बाहर से दिखाई देता है वह उसी का आवरण है, उसी भस्म में वह तेजस्वी शिव छिपा है, उसी कलेवर में वह रत्न सुरक्षित है। संक्षेप में साहित्य के अंतर्गत सनातन, चिरंतन और अद्यतन तीनों का समाहार होता है। सनातन और चिरंतन आदर्श हैं—अँगरेजी के अनुसार अप्राप्य हैं, अद्यतन वर्तमान यथार्थ है, प्राप्त है। दोनों का समन्वय ही साहित्य का साध्य है। पहला आवृत अंतरित यथार्थ ही है, दूसरा बाह्य प्रत्यक्ष है। अद्यतन में सनातन और चिरंतन उसी प्रकार रहते हैं जैसे क्षीर में नवनीत। बाह्य यथार्थ में अंतरित यथार्थ की भी यही स्थिति है।

अब एकांकी नाटकों की नाटकीयता का भी विचार कर लीजिए। अधिकतर एकांकी नाटक कहानी के संवादमात्र होते हैं। नाटक और कहानी में केवल ढाँचे का अंतर नहीं है। इनमें कुछ और भी अंतर है। आज तो छोटी कहानी में कथावस्तु के विशिष्ट चयन और संघटन के कारण यह भी कहा जाने लगा है कि वह उपन्यास की अपेक्षा नाटक के अधिक निकट है। पर इसका कारण उनका ऊपरी ढाँचा या कथा का छाँटा हुआ रूप ही है। तत्त्वतः दोनों में अंतर है और रहना चाहिए। यह नहीं कि नाटक दृश्य है और कहानी श्रव्य। प्रत्युत नाटक में कार्यव्यापार का वैसा विधान अपेक्षित नहीं। नाटक में कार्यव्यापार की क्षिप्र गति चाहिए। संवाद और बातचीत में अंतर है। नाटक में संवाद का पर्यवसान कार्यव्यापार में और उस कार्यव्यापार का परिणमन उसकी क्षिप्रता में होता है। कहानी के लिए यह आवश्यक नहीं। कहानी में इसका न होना ही ठीक है। यों तो किसी कहानी की कथा से भी नाटक का निर्माण हो सकता है और किसी नाटक की कथावस्तु को कहानी का रूप दिया जा सकता है। पर दोनों की कथावस्तु दो भिन्न दृष्टियों से संकलित होती है। नाटककार का घटनाचक्र कार्यव्यापार की ओर प्रवर्तित होता है। कहानीकार का कार्यव्यापार घटनाचक्र की ओर उन्मुख होता है। कहानी घटना पर अधिक दृष्टि रखती है, वह घटनाओं की ओर पाठक को ले जाती है। उसके मस्तिष्क में घटनाएँ संचित होती हैं। नाटक का ध्यान कार्यव्यापार पर अधिक रहता है, वह दर्शक को कार्यव्यापार के दर्शन कराता है, उसकी स्मृति में कार्य की स्थापना होती है। कहानियों में जो चरित्रचित्रण के अभाव या अल्पभाव की बात कही जाती है वह उसकी सीमा की लघुता के कारण ही नहीं, उसकी साहित्यगत विशेषता के कारण भी। 'चरित्र' और 'कार्यव्यापार' में गूढ़ संबंध है। नाटक में 'चारित्र्य' का कुछ महत्त्व भारतीय दृष्टि ने भी स्वीकार किया है। नाटक के तीन तत्त्व वस्तु, नेता और रस माने गए हैं। इनमें एक के अनंतर दूसरे और दूसरे के पश्चात् तीसरे में प्रकर्ष है—तारतम्य है। नाटक में वस्तु से

अधिक विचारणीय 'नेता' और नेता से अधिक विचारणीय 'रस' है। भारतीय दृष्टि रस पर अधिक जोर देती है। पर 'नेता' पर भी उसकी दृष्टि रही है। नेता का विचार भी उसने रस के अनुसार ही किया है। 'नायक' के जो बँधे बँधाए साँचे धीरोदात्त आदि मिलते हैं वे 'रस' के ही कारण। 'रस' के स्थायी भाव पर विशेष जोर देने के ही कारण नायकों का 'स्वभाव' परिस्फुट नहीं हो सका है। पर 'नेता' का 'स्व-भाव' कुछ भी न हो ऐसा नहीं है। प्रबंधकाव्यों तक में 'स्व-भाव' परिस्फुट हुआ है। तुलसी के 'मानस' में ही राम, भरत और लक्ष्मण की प्रकृतिस्थ वृत्तियाँ पृथक् पृथक् और बहुत स्पष्ट हैं।

संप्रति कहानियों के जो भेद घटना-प्रधान आदि किए जाते हैं उनमें 'चरित्र-प्रधान' कहानियों का भेद वस्तुतः साहित्य की अन्य शाखा अर्थात् नाटक का विशेष प्रभाव पड़ने के कारण है। कहानियों में तथा उपन्यासों में नाटक से कुछ तत्त्व जोड़े गए हैं। 'संवाद' नाटक का ही तत्त्व है जो कहानी-उपन्यास में घुसा है। साहित्य की इस शाखा का—कहानी-उपन्यास का—विकास नाटक के विकास के उपरांत हुआ है। पहले कहानी ने सर्वत्र घटना-प्रधान रूप ही दिखाया। उसमें कविता का तत्त्व जिस प्रकार घुसा और भावप्रधान कहानियों के लिए अवकाश निकला, उसी प्रकार नाटक के चारित्र्य की योजना उसमें पीछे से की गई है। कहानी का आभोग बढ़ गया है। नाटक में घटनाप्रधान और चरित्रप्रधान भेदों की कल्पना सच पूछिए तो न होनी चाहिए और न अब तक हुई ही है। पर एकांकी नाटकों की छानबीन करने से पता चलेगा कि इनमें घटना-प्रधान रूप दिखाई दे रहा है। इसका कारण यही है कि एकांकी नाटक कहानी का ही संवादी-कृत रूप होने लगा है।

नाटक और कविता में जब दृश्य-श्रव्य भेद सही माना जाता था तब नाटक में वर्णनात्मक अवयव थोड़ा-बहुत लगा रहता था। भवभूति के उत्तररामचरित में दंडकारण्य का वर्णन है। भारतेंदु के सत्यहरिश्चंद्र में काशी और गंगा का वर्णन है। यह वस्तुतः कविता-तत्त्व की योजना ही है। पर ये वर्णन नाटक में उस परिमाण और व्यवस्था के साथ नहीं रहते थे जिसके साथ महाकाव्य या प्रबंध-काव्य में। आगे चलकर यह वर्णनात्मक अंश हट गया, पर पीठिका के रूप में विवरण कुछ कुछ रहने लगे—रंगनिर्देश की ओट में। व्यक्ति और स्थान के निरूपण का वर्णनात्मक या विवरणात्मक अंश कहानी में नाटक की अपेक्षा अधिक रहता है—अब भी। एकांकी नाटकों में रंगनिर्देश की ओट में जो विस्तार हो रहा है वह अधिकांश नाटककार के द्वारा अभिनेताओं की सहायता का व्याज मात्र है। वह होता है प्रायः कहानी का रूपांतर होने के ही कारण। अपवादों की बात नहीं

चलाई जा सकती। जैसे प्राचीन युग में नाटक खेले नहीं जाते थे, पर उनका निर्माण संख्या में बहुत होता था। वे दृश्यकाव्य न होकर 'पठ्य' काव्य ही हो गए थे। ठीक उसी प्रकार आज एकांकी नाटकों का निर्माण तो बहुत हो रहा है, पर उनके दृश्यत्व की जाँच कहाँ होती है, सब क्या उसमें के शतांश भी कहाँ खेले जाते हैं। अतः आज 'एकांकी नाटक' के बदले उनका नाम वस्तुतः अधिकतर स्थितियों में 'एकांकी कहानी' होना चाहिए।

इन नाटकों में हमारा जीवन भी प्रायः वही आता है जो नागरिक और बहुधा स्कूल-कालिज, सभा-सोसाइटी से संबंध रखता है। जिनके बीच रचना को प्रसार पाना है उनकी रुचि और रंजन ही निर्मातृ-पक्ष का लक्ष्य होता है। यह भी जीवन का छाँटा हुआ अंश या कोना मात्र है। इससे हमारे जीवन-दर्शन की छोटी परिधि का स्पष्ट संकेत मिलता है। पर इसके परिष्कार की ओर न तो कर्ताओं की दृष्टि जाती है और न समीक्षकों की। 'प्रगतिवाद' के द्वारा इसके संस्कार की संभावना हो सकती थी, पर वह भी मजदूरों से आगे बढ़ना नहीं चाहता। नगर में 'मजदूर' ही सामने दिखाई भी तो पड़ते हैं। गाँवों की पैदल यात्रा करे कौन— मोटर, टाँगा, रिक्शा वहाँ कहाँ, वही बैलगाड़ी विष्णुयुग की। पर भारत का जन-जीवन क्या उतना ही है जितना नगरों में नजर आता है? सच पूछिए तो 'वाद-ग्रस्त' और 'वातग्रस्त' में विशेष अंतर नहीं।

वक्रोक्ति और अभिव्यंजना

साहित्य वाणी का विलास है, वाङ्मय है। वाङ्मय द्विविध होता है—काव्य और शास्त्र। पहला प्रतिभा का उद्भव है, दूसरा प्रज्ञा की उपज—

द्वे वर्त्मनी गिरो देव्याः शास्त्रं च कविकर्म च।
प्रज्ञोपज्ञं तयोराद्यं प्रतिभोद्भवमंतिमम्॥

साहित्य में दोनों आते हैं। काव्य कविकर्म है—अविचारित रमणीय और शास्त्र कविकर्म का विचार है—सुविचारित सुस्थ। कविकर्म के अतिरिक्त अन्य प्रकार के क्रियाकलापों की विचारणा साहित्य के आभोग के बाह्य है। संप्रति 'शास्त्र' की मीमांसा प्रसंगप्राप्त नहीं, कविकर्म या काव्य का ही विवेचन अपेक्षित है।

काव्य के निर्माण में तीन कोण होते हैं, वह त्रिकोणात्मक है। एक कोण में काव्य का कर्ता रहता है, दूसरे में वर्ण्य और तीसरे में ग्रहीता। काव्य शब्द के वाच्य मुक्तक, प्रबंध, नाटक, कथा-कहानी सभी हैं। वर्ण्य को अलंकार्य, अनुकार्य भी कहते हैं। ग्रहीता श्रोता, दर्शक, पाठक आदि सबकी अभिधा है।

काव्य के नाम से जो देखा, सुना या पढ़ा जाता है वह वाणी है, कथन है, उक्ति है। पर वाणी दैनंदिन व्यवहार में भी देखी सुनी जाती है, किंतु उसकी संज्ञा काव्य नहीं। अतः स्पष्ट है कि सामान्य या साधारण कथन, वचन, उक्ति या वार्ता काव्य नहीं। असाधारण या विशेष उक्ति ही काव्य-पद-वाच्य है। इसी से कविकर्म के मीमांसकों ने काव्योक्ति की इस विशेषता का विचार सबसे पहले किया। उन्हें काव्य की उक्ति में सज्जा-संभार, आन-बान, गति-विधि की विशेषता दिखाई पड़ी। इसीलिए काव्य की यह विशेषता कहीं अलंकार, कहीं गुण, कहीं रीति मानी गई।

पर काव्य का यह विचार कुछ लोगों की दृष्टि से ऊपर-ऊपर से काव्य को देखना था। इससे काव्य का बाह्य ही स्पष्ट हुआ, अभ्यंतर नहीं। अलंकार, गुण, रीति में बीज रूप से जो विशेषता पाई जाती है वह आभ्यंतर है। काव्योक्ति की यह विशेषता उसकी अतिशयता है, उसकी वक्रता है। इस वक्रता को किसी ने अलंकार, किसी ने लक्षणा या भक्ति भी कहा। नाट्यशास्त्र के आचार्यों ने तो नाट्यलक्षणों को भी वक्रोक्ति-रूप कहा है—

समस्तार्थालंकारवर्गस्य बीजभूतास्चमत्काराः कथाशरीरवैचित्र्यदायिनो वक्रोक्तिरूपा लक्षणशब्देन व्यवह्रियन्ते । लक्षणानि गुणालंकारमहिमानमनपेक्ष्य स्वसौभाग्येनैव शोभन्ते । लक्षणं महापुरुषस्य पद्मादिरेखादिवत्काव्यशरीरस्य सौन्दर्यदायी ।

—अभिनवभारती, षोडशोऽध्यायानुबंध ।

३६ नाट्य-लक्षणों में सर्वप्रथम 'भूषण' आता है। इसकी व्याख्या में कहा गया है—

अलंकारैरिति भरतोक्तैरुपमादिभिर्गुणैश्च यत्र कथाशरीररचना समुल्लसिता तद्भूषणं नाम लक्षणम्। चित्रार्थैरिति विभावादिसामग्रीप्रत्यायकतया रसोद्योतकैरर्थविशेषैः मतान्तरे वक्रोक्तिरूपैः।..........भूषणाख्यलक्षणेन काव्यं सामान्यवचसो भिद्यते, 'तात्पर्यमेव वचसि ध्वनिरेवकाव्ये' 'यत्रालंकार वर्गोऽयं सर्वोऽप्यन्त र्भविष्यति'...इत्यादिना भोजकुन्तलकतोतादिभिरुक्तरीत्या गुणालंकारवर्गः सर्व एव लक्षणशब्देन परिगृहीतः। गुणालंकारैरेव यत्र कथारूपा वक्रोक्तिरतिशयिता तत्र भूषणम्।

अधिक प्रपंच न करके कहना यह है कि काव्योक्ति में वक्रता की विवेचना कृति या कर्ता को दृष्टि में रखकर की गई है। भारतीय साहित्यशास्त्र-मीमांसा में यह श्रव्यकाव्य के पक्ष से काव्योक्ति का निरूपण है। दृश्यकाव्य या रूपक में कर्ता के साथ अनुकर्ता का भी ध्यान रखना पड़ता है, नेता के साथ अभिनेता भी विचार-पथ में आता है। वहाँ काव्य या नाट्य का विचार उक्ति की दृष्टि से न होकर प्रभाव-परिणाम, चर्वणा-आस्वाद की दृष्टि से हुआ। श्रव्यकाव्य के मीमांसक 'वर्णना' को सामने रखते थे तो दृश्यकाव्य के विचारक चर्वणा को। इसका तात्पर्य यह नहीं कि 'वर्णना' वाले रस से अपरिचित थे या 'चर्वणा' वाले वक्रता का ध्यान ही नहीं रखते थे। 'वर्णना' वालों के लिए 'रस' गौण था। 'चर्वणा' वालों के लिए वक्रता गौण थी। एक काव्योक्ति का विचार करते थे, दूसरे काव्यार्थ का। दूसरों की दृष्टि में काव्यार्थ 'रस' था। पहले संघटना, सुषमा, सौंदर्य या चारुत्व की चर्चा करते थे दूसरे भोग या रमणीयता का उद्घोष। दोनों में स्पष्ट दृष्टिभेद है। रसवादियों के समक्ष कर्ता, अनुकर्ता, अनुकार्य और ग्रहीता चार थे। अतः 'रस कहाँ होता है' का उत्तर देते समय किसी ने उसे अनुकार्य में माना, किसी ने अनुकर्ता में और किसी ने ग्रहीता में। यहाँ इस झमेले में पड़ने की आवश्यकता नहीं कि 'रस' सचमुच कहाँ होता है। संकेत यह देना है कि रसवादियों ने 'कर्ता' का विचार एक प्रकार से छोड़ दिया है। हाँ, टीकाकारों ने, जैसे अभिनवगुप्त ने, सांगोपांग दृष्टांत देते हुए, 'कर्ता' का भी उल्लेख किया है—

यो मूलबीजस्थानीयात् कविगतो रसः। कविर्हि सामाजिकतुल्य एव। ततो वृक्ष-स्थानीयं काव्यम्। तत्र पुष्पादिस्थानीयोऽभिनयादिनटव्यापारः। तत्र फलस्थानीयः सामाजिकरसास्वादः। तेन रसमयमेव विश्वम्।

—अभिनवभारती, प्रथम खंड, पृष्ठ २९५।

पर इस वर्ग के आचार्य वस्तुतः समाज का ध्यान, सामाजिक का विचार मुख्य मानते हैं। कहना चाहें तो कह सकते हैं कि पहला वर्ग सौंदर्य का विचार करता है, कर्ता की व्यक्ति-दृष्टि से काव्य को देखता है। दूसरा वर्ग रमणीयता को लक्ष्य करता है, समाज या समष्टि की दृष्टि से काव्य को देखता है। पहला वर्ग इसी से अभिधा को ही प्रधान कहता है, उक्ति तक ही परिमित होने से उक्ति में ही अलंकार का चमत्कार बतलाते हैं। अभिधा में ही काव्य मानते हैं। इस प्रकार प्रथम वर्ग में, सुविधा के लिए जिसे 'वक्रोक्ति-वर्ग' कह सकते हैं, वे कुछ आवश्यक तत्त्व आ जाते हैं जो पश्चिम के 'अभिव्यंजनावाद' में आगे चलकर देखे जायेंगे। यहाँ वक्रोक्तिवाद के इन तत्त्वों की परिगणना कर लेनी चाहिए—

(१) काव्य की उक्ति सामान्य बातों से विशिष्ट होती है।

(२) अभिधा में, काव्य की उक्ति में, चमत्कार होता है।

(३) सौंदर्य ही 'अलंकार' है, सौंदर्य से ही काव्य की ग्राह्यता है।

(४) काव्य की उक्ति प्रतिभा की उद्भावना है।

पर 'रस' की चर्चा बढ़ने पर इनके द्वारा उसका तिरस्कार नहीं किया गया। वक्रोक्ति के प्रतिवाद में वस्तु के यथावत् वर्णन को 'स्वभावोक्ति' कहा गया। काव्य में स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति और रसोक्ति तीनों होती हैं, पर 'स्वभावोक्ति' को, वस्तु के यथावत् कथन को, काव्य मानने में इन्हें विप्रतिपत्ति थी।

यहीं पर एक बात और देखकर तब 'अभिव्यंजना' का पक्ष देखना चाहिए। रसवादियों में 'व्यंजना' का जो विचार हुआ उसमें 'व्यक्तिवादी' अभिनव गुप्त ने बहुत बड़ी और महत्त्वपूर्ण बात कही। उन्होंने कहा कि सामाजिक जिन भावों का आस्वाद लेता है वे किसी दूसरे के भाव नहीं होते उसके अपने ही होते हैं। जो भाव वासना-रूप में अव्यक्त पड़े रहते हैं वे ही काव्य के प्रदर्शन से व्यक्त हो जाते हैं। किसी दूसरे के भाव का आस्वाद दूसरा कैसे ले सकता है। इसलिए भोगने योग्य, भोगने का सामर्थ्य आदि की कल्पना में भोजकत्व और भावकत्व की उद्भावना व्यर्थ है। वासना-रूप में जहाँ कुछ न होगा, वहाँ आस्वाद भी न होगा। यह 'व्यक्ति' केवल सामाजिक में ही नहीं, कर्ता और अनुकर्ता में भी उनके अनुरूप होती है। कर्ता में वह 'बीज' रूप होती है। यदि 'बीज' न हो तो आस्वाद्य फल नहीं हो सकता। इस पक्ष का कथितव्य खतियाना चाहें तो यों कहेंगे—

(१) काव्य 'व्यंजना' है, व्यक्ति है। अभिव्यक्ति है।
(२) काव्यार्थ 'रस' होता है।
(३) रमणीयता के ही कारण काव्य की ग्राह्यता है।
(४) रमणीयता या आस्वाद अपने ही अव्यक्त भावों की व्यक्ति में होता है।

× × × ×

अब क्रोचे की 'अभिव्यंजना' पर आइए। इसे समझने के लिए और वक्रोक्ति से इसके मिलान के लिए यस्पर्सन की उक्ति को सबसे पहले ध्यान में लाना चाहिए। जगत् में हम जो कुछ देखते-सुनते हैं उसका अंतःसंस्कार या प्रभाव (इंप्रेशन) हमारे अंतःकरण पर पड़ता है। जब हम उसे प्रकट करना चाहते हैं तो वे सब प्रभाव परिमाण में अधिक, अस्पष्ट और संकुल होने के कारण ज्यों के त्यों बाहर नहीं आते। अतः उनका दबाव या दमन (सप्रेशन) होता है। इसके अनंतर अभिव्यक्ति (इक्सप्रेशन) होती है। इसके द्वारा उन प्रभावों की ओर संकेत (सज्जेशन) होता है। अभिव्यक्ति वही है जो उन प्रभावों को संकेतित कर सके। यह अभिव्यक्ति सामान्य जन और कवि या कलाकार दोनों की उक्ति में होती है। दोनों एक ही होती हैं या भिन्न यह एक प्रश्न है। कलाकार की अभिव्यक्ति किस प्रकार सामाजिक या पाठक को अनुरंजित करती है यह दूसरा प्रश्न है।

क्रोचे ने दो प्रकार के ज्ञान माने हैं—(१) कला-संबंधी ज्ञान है प्रातिभ ज्ञान (इंट्यूशन), कल्पना में उद्भूत ज्ञान, व्यक्ति का संकेतग्रह अर्थात् किसी एक वस्तु का ज्ञान। (२) तर्क-संबंधी ज्ञान है प्रमा (कंसेप्ट) 'निश्चयात्मिका बुद्धि द्वारा उपलब्ध ज्ञान', पृथक् पृथक् व्यक्तियों के पारस्परिक संबंध का ज्ञान अर्थात् [illegible] का संकेतग्रह।

प्रातिभ ज्ञान आत्मा की क्रिया है। मन पर पड़ी छाप या संस्कार या प्रभाव [illegible] जगत् के नाना रूपों-व्यापारों आदि के होते हैं, उपादान के रूप में कल्पना [illegible] में भरकर अपनी कृति को गोचर करती है। कला के क्षेत्र में [illegible] (फार्म) ही सब कुछ है, द्रव्य (मैटर) कुछ नहीं। प्रातिभ ज्ञान का साँचे में [illegible] व्यक्त होना कल्पना है और यही मूल अभिव्यंजना (एक्सप्रेशन) है। [illegible] है, उस उक्ति में उपादान के रूप में [illegible] व्यक्त गोचर प्रसार [illegible] में [illegible] नहीं।

[illegible] 'अभिव्यंजना' (एक्सप्रेशन) का जो [illegible] सामान्य या [illegible] अर्थ से भिन्न

है। उसने कला-संबंधी अभिव्यंजना (एक्सप्रेशन इन दि एस्थेटिक सेंस) को प्राकृत अभिव्यंजना (एक्सप्रेशन इन दि नेचुरलिस्टिक सेंस) से भिन्न कहा है। कला-संबंधी अभिव्यंजना सबमें हो सकती है और वह वर्ण, स्वर, रेखा, शब्द आदि में साकार होती है। अभिव्यंजना जब मूर्ति (इमेज) के रूप में होती है तभी वह कला-संबंधी अभिव्यंजना होती है। कला की अभिव्यंजना साँचे के रूप में होती है, जिसमें जागतिक वस्तुएँ उपादान का काम देती हैं। दूसरे शब्दों में प्राकृत अभिव्यंजना भौतिक होती है और कलात्मक अभिव्यंजना आत्मिक या मानसिक (स्पिरिचुअल)। संक्षेप में खतियाना चाहें तो क्रोचे के मतवाद को यों कहेंगे—

(१) कला-संबंधी ज्ञान प्रातिभ ज्ञान है।

(२) प्रातिभ ज्ञान ही की अभिव्यंजना होती है। प्रातिभ ज्ञान ही अभिव्यंजना है।

(३) सौंदर्य अभिव्यंजना में होता है, साँचे या आकृति (फार्म) का होता है; वस्तु (मैटर) में सौंदर्य नहीं होता।

(४) यदि भीतर अभिव्यंजना न होगी तो बाहर भी न होगी। मूलतः अभिव्यंजना आंतर होती है।

यद्यपि प्रतिभा और प्रातिभ ज्ञान की भारतीय धारणा से क्रोचे की धारणा भिन्न है, पर मिलान के लिए इन्हीं शब्दों का व्यवहार कर रहा हूँ। तुलना करने से स्पष्ट होगा कि क्रोचे की कुछ बातें तो वक्रोक्तिवादियों से मिलती हैं और कुछ रसवादियों से। किंतु वस्तुतः उसका मेल भारतीय साहित्यशास्त्र की मान्यता से कथमपि नहीं मिलता। क्रोचे के अनुसार—

(१) प्रातिभ ज्ञान = अभिव्यंजना = सौंदर्य।—तीनों अखंड हैं, एक हैं।

(२) साधारण जन की 'अभिव्यंजना' = कवि की 'अभिव्यंजना'। दोनों में स्वरूप-भेद नहीं।

(३) सौंदर्य कला में होता है। पर सौंदर्य कलाकार का कर्म नहीं।

(४) वस्तु में सौंदर्य नहीं होता।

भारतीय दृष्टि से प्रतिभा हेतु है, काव्य कार्य है। केवल प्रतिभा ही हेतु नहीं है, अभ्यास और निपुणता भी हेतु हैं। इसीसे मम्मटाचार्य ने कहा—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥

'हेतु' शब्द का एकवचन विचारणीय रहा है। कुछ लोगों को 'प्रतिभा' या शक्ति का विशेष आग्रह था। उन्होंने उसी (प्रतिभा) के दो भेद किए—सहजा और उत्पाद्या। उत्पाद्या में उन्होंने निपुणता और अभ्यास को अंतर्भुक्त किया। भारतीय दृष्टि से काव्य में कर्म या प्रयत्न की उपेक्षा नहीं की जा सकती। क्रोचे के अनुसार प्रतिभा या प्रातिभ ज्ञान या कल्पना ही काव्य (या कला) है। शक्ति के कारण कवि दूसरों से, सामान्य जनों से, भिन्न होते हैं, काव्योक्ति सामान्य उक्ति से भिन्न होती है। क्रोचे के अनुसार यह पार्थक्य नहीं हो सकता। भारतीय दृष्टि से अलंकारवादी भी अलंकार और अलंकार्य का भेद मानकर विचार करते हैं। वहाँ अलंकार्य (वस्तु) और अलंकार (अभिव्यंजना = फार्म) का अभेद है।

भारत में साहित्य को दर्शन कहकर भी और विभिन्न दार्शनिक संप्रदायों के अनुसार उसका विवेचन करते हुए भी, अलौकिक, लोकोत्तर आदि विशेषण देकर भी काव्य की मीमांसा में लौकिक पक्ष का, व्यावहारिक दृष्टि का, सांगोपांग विवेचन है। उसका आवश्यक संग्रह-त्याग भी है। पर क्रोचे के अनुसार कला में लौकिकता की चर्चा ही व्यर्थ है। क्रोचे के कथन में सबसे बड़ी असंगति यह है कि यदि कला की अभिव्यंजना किसी एक व्यक्ति की है तो दूसरा उस अभिव्यंजना का आनंद तद्वत् कैसे उठा सकता है, यदि अभिनव गुप्त की भाँति यह न माना जाय कि सामाजिक अपनी ही अव्यक्त वासना की व्यक्ति में आस्वाद पाता है। वक्रोक्तिवादियों से अभिव्यंजनावादी क्रोचे का इतना ही मेल है कि दोनों काव्योक्ति में सौंदर्य मानते हैं। दूसरे शब्दों में दोनों में कर्तृत्व-पक्ष से ही विचार किया गया है। पर पहला तो कर्तृत्व कर्ता का मानता है, और दूसरा कर्ता का कर्तृत्व मानता ही नहीं। रसवादियों के ग्रहीता या सामाजिक का पक्ष क्रोचे ने निरर्थक माना है। कला में वह 'सुंदर' को ही मानता है, 'रमणीय' को नहीं। रसवादियों के अनुसार 'सुंदर' के आगे 'रमणीय' है। यह रमणीयता काव्य की ऐसी विशेषता है जो उसे सबसे पृथक् करती है। कदाचित् कला या ललित कला के भीतर ही काव्य का विचार करने के कारण पश्चिमी विचारक 'सुंदर' या सौंदर्यानुभूति से आगे नहीं बढ़ पाते, रसानुभूति का महत्त्व नहीं समझ पाते। भारत में 'कला' काव्य से नीची कोटि की समझी जाती है, केवल सौंदर्यानुभूति तक ही ग्राहक को पहुँचाने के कारण।

भारत में, विशेषतया हिंदी में, यह समझा जाता है कि क्रोचे की दार्शनिकता से अभिभूत पश्चिमी विचारक उसका एकस्वर से समर्थन करते हैं। पर ऐसी स्थिति नहीं है। क्रोचे के मत का, उसकी असंगतियों का, स्पष्ट विरोध भी बराबर होता रहा है। डुकास ने अपने ग्रंथ 'फिलासफी आव् आर्ट' में औरों के मतों के

परीक्षण के साथ साथ क्रोचे के मत की भी परीक्षा की है और उसे अत्यंत असंगत बताया है। उसने स्पष्ट कहा है कि क्रोचे के मत से अभिव्यंजना और प्रातिभ ज्ञान के संबंध या एकरूपता की विवेचना सिद्धांततः अस्पष्ट एवम् भ्रामक है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी उसने प्रातिभ ज्ञान और अभिव्यंजना में जो संबंध-स्थापना की है वह नितांत अशुद्ध है। कला की भौतिक कृति के स्वरूप-निर्धारण में भी उससे भ्रांति हुई है और उसने सौंदर्य के स्वरूप की जो कल्पना की है वह भी तिरस्करणीय है।

अतः हिंदी में भारतीय साहित्यशास्त्र की परंपरा का कुछ भी ज्ञान न रखते हुए केवल अँगरेजी-ज्ञान के भरोसे जो महानुभाव क्रोचे की अभिव्यंजना का प्रशस्ति-पाठ करते नहीं थकते उन्हें अब अपना व्यापार बंद कर देना चाहिए। हिंदीवालों में अब समझ आ गई है और वे क्रोचे की हकीकत जान गए हैं। क्रोचे की मान्यता भारतीय परंपरा में खप नहीं सकती। भारतीय काव्यमीमांसा में वह कुछ जोड़ती भी नहीं। वह इतनी असंगत है कि काव्य-मीमांसा में उसका यहाँ कभी कोई स्थान नहीं हो सकता। यह सब इसलिए कहना पड़ा कि स्वर्गीय आचार्य रामचंद्रजी शुक्ल ने जब से यह कह दिया कि भारतीय वक्रोक्तिवाद का ही विलायती उत्थान क्रोचे का अभिव्यंजनावाद है तबसे कुछ समीक्षक क्रोचे के ग्रंथ से इतस्ततः के वाक्यखंड उद्धृत करके यह सिद्ध करने में लगे कि क्रोचे को शुक्लजी ने समझा ही नहीं। दूसरे लोग उनकी आलोक्ति को स्वीकार करके यह मानने लगे कि वक्रोक्ति और अभिव्यंजना एक ही वस्तु के देशगत दो भिन्न रूप हैं। परमार्थतः यह स्थिति नहीं है। इसीसे उक्त निवेदन की अपेक्षा समझी गई।

'हेतु' शब्द का एकवचन विचारणीय रहा है। कुछ लोगों को 'प्रतिभा' या शक्ति का विशेष आग्रह था। उन्होंने उसी (प्रतिभा) के दो भेद किए—सहजा और उत्पाद्या। उत्पाद्या में उन्होंने निपुणता और अभ्यास को अंतर्भुक्त किया। भारतीय दृष्टि से काव्य में कर्म या प्रयत्न की उपेक्षा नहीं की जा सकती। क्रोचे के अनुसार प्रतिभा या प्रातिभ ज्ञान या कल्पना ही काव्य (या कला) है। शक्ति के कारण कवि दूसरों से, सामान्य जनों से, भिन्न होते हैं, काव्योक्ति सामान्य उक्ति से भिन्न होती है। क्रोचे के अनुसार यह पार्थक्य नहीं हो सकता। भारतीय दृष्टि से अलंकारवादी भी अलंकार और अलंकार्य का भेद मानकर विचार करते हैं। वहाँ अलंकार्य (वस्तु) और अलंकार (अभिव्यंजना = फार्म) का अभेद है।

भारत में साहित्य को दर्शन कहकर भी और विभिन्न दार्शनिक संप्रदायों के अनुसार उसका विवेचन करते हुए भी, अलौकिक, लोकोत्तर आदि विशेषण देकर भी काव्य की मीमांसा में लौकिक पक्ष का, व्यावहारिक दृष्टि का, सांगोपांग विवेचन है। उसका आवश्यक संग्रह-त्याग भी है। पर क्रोचे के अनुसार कला में लौकिकता की चर्चा ही व्यर्थ है। क्रोचे के कथन में सबसे बड़ी असंगति यह है कि यदि कला की अभिव्यंजना किसी एक व्यक्ति की है तो दूसरा उस अभिव्यंजना का आनंद तद्वत् कैसे उठा सकता है, यदि अभिनव गुप्त की भाँति यह न माना जाय कि सामाजिक अपनी ही अव्यक्त वासना की व्यक्ति में आस्वाद पाता है। वक्रोक्तिवादियों से अभिव्यंजनावादी क्रोचे का इतना ही मेल है कि दोनों काव्योक्ति में सौंदर्य मानते हैं। दूसरे शब्दों में दोनों में कर्तृत्व-पक्ष से ही विचार किया गया है। पर पहला तो कर्तृत्व कर्ता का मानता है, और दूसरा कर्ता का कर्तृत्व मानता ही नहीं। रसवादियों के ग्रहीता या सामाजिक का पक्ष क्रोचे ने निरर्थक माना है। कला में वह 'सुंदर' को ही मानता है, 'रमणीय' को नहीं। रसवादियों के अनुसार 'सुंदर' के आगे 'रमणीय' है। यह रमणीयता काव्य की ऐसी विशेषता है जो उसे सबसे पृथक् करती है। कदाचित् कला या ललित कला के भीतर ही काव्य का विचार करने के कारण पश्चिमी विचारक 'सुंदर' या सौंदर्यानुभूति से आगे नहीं बढ़ पाते, रसानुभूति का महत्त्व नहीं समझ पाते। भारत में 'कला' काव्य से नीची कोटि की समझी जाती है, केवल सौंदर्यानुभूति तक ही ग्राहक को पहुँचाने के कारण।

भारत में, विशेषतया हिंदी में, यह समझा जाता है कि क्रोचे की दार्शनिकता से अभिभूत पश्चिमी विचारक उसका एकस्वर से समर्थन करते हैं। पर ऐसी स्थिति नहीं है। क्रोचे के मत का, उसकी असंगतियों का, स्पष्ट विरोध भी बराबर होता रहा है। डुकासे ने अपने ग्रंथ 'फिलासफी आव् आर्ट' में औरों के मतों के

परीक्षण के साथ साथ क्रोचे के मत की भी परीक्षा की है और उसे अत्यंत असंगत बताया है। उसने स्पष्ट कहा है कि क्रोचे के मत से अभिव्यंजना और प्रातिभ ज्ञान के संबंध या एकरूपता की विवेचना सिद्धांततः अस्पष्ट एवम् भ्रामक है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी उसने प्रातिभ ज्ञान और अभिव्यंजना में जो संबंध-स्थापना की है वह नितांत अशुद्ध है। कला की भौतिक कृति के स्वरूप-निर्धारण में भी उससे भ्रांति हुई है और उसने सौंदर्य के स्वरूप की जो कल्पना की है वह भी तिरस्करणीय है।

अतः हिंदी में भारतीय साहित्यशास्त्र की परंपरा का कुछ भी ज्ञान न रखते हुए केवल अँगरेजी-ज्ञान के भरोसे जो महानुभाव क्रोचे की अभिव्यंजना का प्रशस्ति-पाठ करते नहीं थकते उन्हें अब अपना व्यापार बंद कर देना चाहिए। हिंदीवालों में अब समझ आ गई है और वे क्रोचे की हकीकत जान गए हैं। क्रोचे की मान्यता भारतीय परंपरा में खप नहीं सकती। भारतीय काव्यमीमांसा में वह कुछ जोड़ती भी नहीं। वह इतनी असंगत है कि काव्य-मीमांसा में उसका यहाँ कभी कोई स्थान नहीं हो सकता। यह सब इसलिए कहना पड़ा कि स्वर्गीय आचार्य रामचंद्रजी शुक्ल ने जब से यह कह दिया कि भारतीय वक्रोक्तिवाद का ही विलायती उत्थान क्रोचे का अभिव्यंजनावाद है तबसे कुछ समीक्षक क्रोचे के ग्रंथ से इतस्ततः के वाक्यखंड उद्धृत करके यह सिद्ध करने में लगे कि क्रोचे को शुक्लजी ने समझा ही नहीं। दूसरे लोग उनकी आप्तोक्ति को स्वीकार करके यह मानने लगे कि वक्रोक्ति और अभिव्यंजना एक ही वस्तु के देशगत दो भिन्न रूप हैं। परमार्थतः यह स्थिति नहीं है। इसीसे उक्त निवेदन की अपेक्षा समझी गई।

———

निबंध

साहित्य की सर्जना के अनेक मार्ग, पद्धतियाँ, शैलियाँ, शाखाएँ आदि निकल आए हैं। कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, आलोचना और निबंध प्रमुख शाखाएँ हैं। इनमें से प्रत्येक में अनेक रूप, प्रकार, भेद हो गए हैं और होते जाते हैं। ऐसी स्थिति में साहित्य के इन विविध स्वरूपों का लक्षण, परिभाषा, इनके पार्थक्य की भेदक रेखा का अंकन आवश्यक है। इस विविधता के भेदक तत्त्व तीन हैं—भाव, वस्तु और विचार। कविता में भाव या अनुभूति का प्राधान्य रहता है, नाटक में भाव और वस्तु का तुल्यप्राधान्य रहता है। उपन्यास-कहानी में वस्तु या कथा का प्राधान्य रहता है तथा आलोचना-निबंध में विचार का प्राधान्य रहता है। इन तत्त्वों का संबंध अंतःकरण की वृत्तियों से है। मन या हृदय का संबंध भाव या अनुभूति से, चित्त का संबंध वस्तु या कथा से और बुद्धि का संबंध विचार से है। 'अहंकार' सर्वनिष्ठ रहता है। विषय या वर्ण्य का संबंध भी सभी शाखाओं से है। कभी कोई कर्ता अहंकार के प्रदर्शन में अधिक प्रवृत्त होता है तो कभी विषय के दर्शन में। कहीं विषयी और कहीं विषय प्रधान रूप से लक्ष्य रहता है। इसी से वैविध्य हो जाता है। यही नहीं साहित्य-सर्जना में केवल विषय-विषयी ही नहीं रहते उस सर्जना का ग्रहीता भी सामने आता है। कर्ता, वर्ण्य और ग्रहीता के कारण भी दृष्टिभेद, स्वरूप-भेद होता है। ग्रहीता लोक का, समाज का प्रतिनिधि रहता है, वह सहृदय या सामाजिक होता है। दृश्य, श्रव्य, पाठ्य होने से भी साहित्य की अनेकता होती है। उसकी दृष्टि से ग्रहीता दर्शक, श्रोता या पाठक हो जाता है। इस प्रकार साहित्य का विस्तार हो गया है।

यहाँ साहित्य की केवल उसी निबंधना का विचार करना है जिसे निबंध-प्रबंध या लेख कहते हैं। विषय-विषयी, पाठक-ग्राहक के साथ ही इसके तत्त्व 'विचार' का भी विवेचन अपेक्षित है। हिंदी को निबंध-लेख लिखने की प्रेरणा अँगरेजी-साहित्य के संपर्क के कारण मिली है इससे यहाँ निबंध का विवेचन करते समय प्रायः पश्चिमी आलोचकों की दुहाई दी जाती है। अँगरेजी के आलोचकों

ने अपने साहित्य में जिस प्रकार के निबंध या लेख देखे उसी के अनुसार उनका विचार किया। यदि हिंदी में केवल अँगरेजी के निबंध-लेखकों की अनुकृति हो तो भी यह आवश्यक नहीं कि उसके आलोचकों का अनुधावन यहाँ का समीक्षक भी करे, फिर भी इस प्रसंग में उनके निष्कर्षों, निर्णयों और मान्यताओं की परीक्षा की जा सकती है। निबंध (एसे) को प्रबंध (ट्रेटीज) से पृथक् किया गया है। सबसे पहली बात यह कही गई है कि निबंध का आकार या परिमाण या लंबाई छोटी होती है, प्रबंध की इसकी अपेक्षा बड़ी। दूसरी यह कि निबंध में शैथिल्य रहता है और प्रबंध में कसावट। तीसरी यह कि पहले में व्यक्ति या विषयी का प्राधान्य रहता है और दूसरे में विषय का। आकार की छुटाई-बड़ाई चलन की दृष्टि से है। प्रायः लोग आकार में छोटे ही निबंध लिखते हैं, इसी से यह विशेषता अंकित की गई है। कोई प्रबंध भी चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो अनेक शीर्षकों में, अध्यायों में विभाजित रहता है। मनुष्य जो भी सोचता है उसकी छोटी-छोटी युतियाँ कहीं थोड़ी और कहीं अधिक संबद्ध होकर उसका आकार बढ़ाती हैं। छोटा सा घर या विशाल भवन ईंट के छोटे छोटे टुकड़ों से ही अपना आकार पाता है। इसलिए छुटाई-बड़ाई का भेद कोई तात्त्विक भेद नहीं है।

अब निबंध के शैथिल्य और प्रबंध की सुबद्धता का विचार कीजिए। निबंध में शैथिल्य होने का हेतु क्या है। पहले कहा जा चुका है कि साहित्य अंतःकरण का विहार है। अंतःकरण की विभिन्न दशाएँ होती हैं। कभी तो वह क्षिप्त रहता है और कभी एकाग्र। क्षिप्त दशा में वह कहीं देर तक टिकना नहीं चाहता, वह जिस मार्ग से चलता है उससे हटकर इधर-उधर बिखर जाना चाहता है। वह अनेकाग्र रहता है। इसी से जिस विषय पर उसकी दौड़ होती है उससे वह हटता रहता है। इसे यों भी कह सकते हैं कि अंतःकरण की कई वृत्तियों में से जब मन का योग होता है या वह वृत्ति प्रबल रहती है तभी वह चंचल रहता है, क्षिप्त रहता है। बुद्धि विषय के प्रसार के बीच मार्ग निकालती चलती है, पर मन बहककर इधर-उधर चंक्रमण करने और रुककर अपनी तरंग में लहराने लगता है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह बुद्धि द्वारा गृहीत विचारों का त्याग ही कर देता हो। विचार की सरणि से संलग्न पगडंडियों पर ही वह इतस्ततः आता जाता है। इसीलिए वह निबंध ही बना रहता है। मन को अपनी दौड़ के लिए जहाँ पूरा मैदान मिल जाएगा वहाँ वह निबंध का क्षेत्र छोड़कर कविता के क्षेत्र में प्रवेश करेगा। कविता में मनोवेग ही अंगी होता है। निबंध में विचार या बुद्धिवेग अंगी होता है। पर ऐसा वहाँ भी हो सकता है जिसे प्रबंध कहते हैं।

प्रबंधों का निर्माण प्रायः विशेष प्रयोजन से होता है। कहीं अनुसंधान, कहीं विषय-बोध पर विशेष ध्यान रखना पड़ता है, इसी से मन को दौड़ लगाने या इधर-उधर विचरण करने से बरबस रोका जाता है। फिर भी मनचले लोग जब प्रबंध लिखते हैं तो अपनी प्रकृति के अनुसार उसपर रंग चढ़ाए बिना नहीं मानते। ठीक इसी प्रकार निबंध लिखने में भी ऐसा हो सकता है कि मन की लगाम ढीली न की जाय। जो मनोनिग्रहपूर्वक निबंध लिखते हैं उनके निबंधों में ऐसा स्पष्ट दिखाई देता है। अतः यह भेदकता वस्तुतः लेखक-वर्ग के द्वारा निश्चित दृष्टि मानकर चलने के कारण हो गई है। इसके कारण स्वरूप-भेद दिखाई तो देता है, पर यह भिन्न धर्म नहीं है।

अब तीसरी बात पर आइए, निबंध का विषयी-प्रधान होना और प्रबंध का विषय-प्रधान होना। निबंध-प्रबंध के भेद के लिए जहाँ तक इस भेदकता का विचार है यही कहा जा सकता है कि यह भी प्रयोग-बाहुल्य और परंपरा-पालन के कारण है। पर इस भेदकता को बढ़ाकर जब यह कहा जाता है कि एक रचना (निबंध) निर्बंध होती है और दूसरी (प्रबंध) दृढ़बंध और फलतः पहली में विषय का त्याग कर दिया जाता है, तो कहना पड़ता है कि यह दृष्टि सुविचारित दृष्टि नहीं है। निबंध हो या प्रबंध, वह विषय-प्रधान हो या व्यक्ति-प्रधान, पर ऐसा नहीं हो सकता कि विषय को त्यागकर कोई निबंद्धा इतनी दूर चला जाय कि विषय उसके हाथ से छूट जाय। यदि ऐसा हो जाय कि वह विषय से बाहर की ही बातचीत करे तो उस विषय का शीर्षक ही निरर्थक हो जायगा। विषय की बद्धता किसी निबंध या प्रबंध के लिए आवश्यक हो, हुआ करे; पर निर्बद्धता नहीं हो सकती। विषय की प्रधानता न हो यह ठीक हो सकता है, विषय से दूर हो जाना भी संभव है, पर विषय से कोई लगाव ही न रह जाय यह नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकला कि निबंध और प्रबंध का स्वरूप-भेद दृष्टि-भेद के कारण है और सबसे मुख्य बात यह है कि उसका जो वास्तविक तत्त्व 'विचार' है उसकी दृष्टि से विचार न करने के कारण निर्णय में या निष्कर्ष निकालने में असंगति उत्पन्न होती है। छुटाई-बड़ाई कोई तात्त्विक अंतर नहीं। इसलिए कि यदि दूसरी बात किसी लेख या रचना में मिलेगी और वहाँ 'बड़ाई' न होगी तो भी कोई लेख कसावट के कारण 'प्रबंध' ही कहा जायगा। वस्तुतः 'बंध' भी निबंध या प्रबंध का लक्षण है, हिंदी-नामों में प्रयुक्त 'बंध' पद के कारण नहीं। अँगरेजी के 'एसे' भी निर्बंध नहीं होते। वस्तुतः बात यह है कि जैसे साहित्य के अन्य क्षेत्रों में मन की दौड़ के लिए अवकाश निकाले गए उसी प्रकार निबंध और आलोचना के क्षेत्र में भी। प्रायः किसी विषय पर विचार करने के लिए पहले से कुछ न कुछ

'विमर्श' करके लिखने से निबंध लिखना श्रम-साध्य हो गया। यही बात आलोचना के क्षेत्र में भी हुई। केवल कर्ता की दृष्टि से ही नहीं, ग्रहीता की दृष्टि से भी इसके ग्रहण में श्रम होने लगा। बौद्धिक श्रम को हलका करने के विचार से लेखक ऐसे हलके-फुलके निबंध लिख चले और पाठक पढ़ चले। ऐसे निबंधों या प्रबंधों और आलोचनाओं से 'रंजन' हो सकता है, पर बुद्धि को बोध की सामग्री नहीं मिल सकती। यदि रंजन के उद्देश्य से निबंधों के ऐसे रूप चलते रहें तो प्रकार-भेद के कारण कोई घाटा नहीं, लाभ ही है; पर ऐसे निबंधों की हिमायत में यह कहना कि यही निबंध का प्रकृत रूप है या यही आलोचना का ठीक मार्ग है भ्रांत धारणा है और भ्रांति उत्पन्न करनेवाली है। निबंध सुविचारित न होकर विचारित हो, यहाँ तक तो मान्य हो सकता है, पर वह 'अविचारित रमणीय' हो तो क्षेत्र-भेद हो जायगा। कौन सा प्रकार उत्तम या मध्यम है इसका निर्णय देने की कोई आवश्यकता नहीं। भिन्न-भिन्न दृष्टि और अपेक्षा से दोनों ही अपने स्थान पर ठीक हैं। हाँ, इतना अवश्य कहना पड़ता है कि निबंध वही कहा जा सकता है जो विचार को उत्तेजना दे; कम दे या अधिक दे, मात्रा-भेद हो सकता है। पर उसका संबंध विचार से है इसे कर्ता को भी ध्यान में रखना होगा और ग्राहक को भी। अन्यथा कर्ता का न कोई कर्तृत्व होगा और न ग्राहक के पल्ले ही कुछ पड़ेगा।

निबंधों के जो विचारात्मक, भावात्मक, वर्णनात्मक, कथात्मक आदि भेद किए गए हैं सो 'विचार' को अंगी न मानने के कारण। पर भावात्मक निबंध में यदि विचार न हो तो वह कविता हो जायगा। वर्णनात्मक में यदि विचार को अवकाश न मिले तो उसे भूगोल के खाते में डालना पड़ेगा। कथात्मक को यदि विचार के साथ न प्रस्तुत किया जाय तो उसे इतिहास के हवाले करना होगा। 'विचार' का तात्पर्य है 'बुद्धि का विचरण'। बुद्धि का विचरण या विहार इसलिए कि वह बुद्धि का ज्ञान अथवा जानकारी भर न बढ़ाए, उसको उद्बुद्ध करे, उस पर शान चढ़ाए, उसे तीव्र करे। भूगोल या इतिहास से जानकारी बढ़ सकती है, बुद्धि को उत्तेजना नहीं मिल सकती। यदि कहीं उत्तेजना मिले तो उसे साहित्य में बेखटके रखा जा सकेगा। तात्पर्य यह कि 'रंजन' मात्र साहित्य का धर्म नहीं है। जानकारी मात्र साहित्य का लक्ष्य नहीं है। इनके अतिरिक्त भी कुछ है। यदि शाखा-भेद से साहित्य का लक्ष्य-भेद करना हो तो कविता में रिरंसा या रमणीयता, कथा-कहानी में जिज्ञासा और निबंध-आलोचना में मीमांसा को साध्य मानना होगा। यह मीमांसा हलकी-फुलकी भी हो सकती है और गुरु-गंभीर भी हो सकती है। सरल सुबोध भी हो सकती है और कठिन-दुर्बोध भी हो सकती है। गुरु-गंभीर या कठिन दुर्बोध होने के कारण किसी मीमांसा को साहित्य के क्षेत्र से बाहर नहीं कर सकते।

इसी प्रकार हलकी-फुलकी या सरल-सुबोध होने के कारण उसे मध्यम या निकृष्ट भी नहीं कह सकते।

यह सब इसलिए कहा गया कि निबंध का स्वरूप-लक्षण, हो सके। इसका यह तात्पर्य नहीं कि कहीं सांकर्य नहीं होता। सांकर्य मात्र से किसी शाखा का प्रकृत स्वरूप थोड़े ही तिरोहित हो जाता है। जीवन की जटिलता के कारण उसकी अभिव्यंजना में भी जटिलता, उलझन आदि होती रहती है। उसकी अनेकता के कारण उसकी अभिव्यंजना में भी अनेकता या विविधता होती रहती है। उसके सांकर्य के कारण उसके वाग्विधान में भी सांकर्य होता रहता है। जीवन के प्रसार के ही अनुरूप साहित्य का प्रसार भी है। व्यक्त प्रसार के समान ही अंतःकरण और वाणी का प्रसार भी अनेकरूपात्मक है। अतः कोई यह नहीं कह सकता कि इतनी ही या यहीं तक सीमा है। प्रत्येक लेखक को अपने ढंग से लिखने और विचार करने की स्वच्छंदता है। प्रत्येक आलोचक को अपने ढंग से देखने की स्वतंत्रता है। पर यह अपनापन ऐसा न होना चाहिए कि उसे दूसरे सकार न सकें। लेखक की साखी जब पाठक भरे तभी उसके लिखने का माहात्म्य है। यदि ऐसा न होगा तो उसका लेख खेल-तमाशा हो जायगा। आलोचक के देखने का महत्त्व इसी में है कि वह दूसरों को दिखा सके, दूसरों को समझा सके। अन्यथा आकाशभाषित या अरण्यरोदन हो जायगा उसका वाग्विसर्ग। अलमतिविस्तरेण।

त्रिविध रूप

हिंदी राष्ट्रभाषा है इसे हठधर्मियों और कठहुज्जतियों के अतिरिक्त सबने स्वीकार कर लिया है। पर भारत के पढ़े-लिखे मुसलमान भाइयों ने अपने लिए एक नई भाषा इसी की हड्डी का ढाँचा लेकर बनानी आरंभ की, आज से लगभग ढाई सौ वर्ष पहले से। मुसलमानों ने क्या, शाही मुगलों ने अपने व्यवहार के लिए अरबी-फारसी मिली भाषा बनाई थी। मुगल राज्य में फारसी राजभाषा थी और हिंदी राष्ट्रभाषा। अँगरेजी राज्य में आकर अँगरेजी राजभाषा हो गई, हिंदी राष्ट्रभाषा या जन भाषा बनी रही। फारसी का स्थान उर्दू ने लेना चाहा और अँगरेजों के षड्यंत्र से उर्दू हिंदुस्तानी के नाम पर दफ्तरों-कचहरियों में चल निकली। उर्दू अरबी और फारसी विदेशी भाषाओं के साथ ही चलती रही, वह देश की जन-भाषा से दूर हो गई। उसने जनता का साथ नहीं दिया, राजवर्ग की चाटुकारिता में अलबत्त लगी रही। पर उर्दू वस्तुतः इस भरतखंड में कहीं की जनभाषा नहीं है। उसमें राष्ट्रभाषा हिंदी के कुछ क्रियापद, विभक्तिचिह्न आदि जो शेष रह गए हैं उन्हें ही चाहे आप जनभाषा का मूल रूप कह लें, पर अब अपने अरबी-फारसी आवरण में घिरी वह जनभाषा कहीं की भी नहीं है। वह सब मुसलमानों की भी भाषा नहीं हैं। जिन प्रांतों में जो मुसलमान जन्में हैं उन प्रांतों और प्रदेशों की ही बोलियाँ या भाषाएँ उनकी जनभाषाएँ अथवा मातृ-भाषाएँ हैं। उर्दू अपने वर्तमान रूप में पुस्तकी भाषा है और कचहरियों में फारसी की बाँदी होने के कारण वहाँ की भाषा समझी जाती है। कुछ मुसलमानों के कहने से, सिखाने से अँगरेजों ने हिंदुस्तानी की ओट में उर्दू को देश की लोक-भाषा मान लिया और हिंदी को राजभाषा का पद न मिले इसलिए यह कहना आरंभ किया कि उर्दू मुसलमानों की भाषा है।

आगे चलकर फल यह हुआ कि लोग उर्दू को मुसलमानों की भाषा और हिंदी को हिंदुओं की भाषा मानने, कहने और पुकारने लगे। हमारे देश के नेताओं को यही भ्रम हो गया। वे यह समझते रहे कि कि उर्दू मुसलमानों की

इसी प्रकार हलकी-फुलकी या सरल-सुबोध होने के कारण उसे मध्यम या निकृष्ट भी नहीं कह सकते।

यह सब इसलिए कहा गया कि निबंध का स्वरूप-लक्षण, हो सके। इसका यह तात्पर्य नहीं कि कहीं सांकर्य नहीं होता। सांकर्य मात्र से किसी शाखा का प्रकृत स्वरूप थोड़े ही तिरोहित हो जाता है। जीवन की जटिलता के कारण उसकी अभिव्यंजना में भी जटिलता, उलझन आदि होती रहती है। उसकी अनेकता के कारण उसकी अभिव्यंजना में भी अनेकता या विविधता होती रहती है। उसके सांकर्य के कारण उसके वाग्विधान में भी सांकर्य होता रहता है। जीवन के प्रसार के ही अनुरूप साहित्य का प्रसार भी है। व्यक्त प्रसार के समान ही अंतःकरण और वाणी का प्रसार भी अनेकरूपात्मक है। अतः कोई यह नहीं कह सकता कि इतनी ही या यहीं तक सीमा है। प्रत्येक लेखक को अपने ढंग से लिखने और विचार करने की स्वच्छंदता है। प्रत्येक आलोचक को अपने ढंग से देखने की स्वतंत्रता है। पर यह अपनापन ऐसा न होना चाहिए कि उसे दूसरे सकार न सकें। लेखक की साखी जब पाठक भरे तभी उसके लिखने का माहात्म्य है। यदि ऐसा न होगा तो उसका लेख खेल-तमाशा हो जायगा। आलोचक के देखने का महत्त्व इसी में है कि वह दूसरों को दिखा सके, दूसरों को समझा सके। अन्यथा आकाशभाषित या अरण्यरोदन हो जायगा उसका वाग्विसर्ग। अलमतिविस्तरेण।

हिंदी भाषा

त्रिविध रूप

हिंदी राष्ट्रभाषा है इसे हठधार्मियों और कठहुज्जतियों के अतिरिक्त सबने स्वीकार कर लिया है। पर भारत के पढ़े-लिखे मुसलमान भाइयों ने अपने लिए एक नई भाषा इसी की हड्डी का ढाँचा लेकर बनानी आरंभ की, आज से लगभग ढाई सौ वर्ष पहले से। मुसलमानों ने क्या, शाही मुगलों ने अपने व्यवहार के लिए अरबी-फारसी मिली भाषा बनाई थी। मुगल राज्य में फारसी राजभाषा थी और हिंदी राष्ट्रभाषा। अँगरेजी राज्य में आकर अँगरेजी राजभाषा हो गई, हिंदी राष्ट्रभाषा या जन भाषा बनी रही। फारसी का स्थान उर्दू ने लेना चाहा और अँगरेजों के षड्यंत्र से उर्दू हिंदुस्तानी के नाम पर दफ्तरों-कचहरियों में चल निकली। उर्दू अरबी और फारसी विदेशी भाषाओं के साथ ही चलती रही, वह देश की जन-भाषा से दूर हो गई। उसने जनता का साथ नहीं दिया, राजवर्ग की चाटुकारिता में अलबत्त लगी रही। पर उर्दू वस्तुतः इस भरतखंड में कहीं की जनभाषा नहीं है। उसमें राष्ट्रभाषा हिंदी के कुछ क्रियापद, विभक्तिचिह्न आदि जो शेष रह गए हैं उन्हें ही चाहे आप जनभाषा का मूल रूप कह लें, पर अब अपने अरबी-फारसी आवरण में घिरी वह जनभाषा कहीं की भी नहीं है। वह सब मुसलमानों की भी भाषा नहीं है। जिन प्रांतों में जो मुसलमान जन्मे हैं उन प्रांतों और प्रदेशों की ही बोलियाँ या भाषाएँ उनकी जनभाषाएँ अथवा मातृभाषाएँ हैं। उर्दू अपने वर्तमान रूप में पुस्तकी भाषा है और कचहरियों में फारसी की बाँदी होने के कारण वहाँ की भाषा समझी जाती है। कुछ मुसलमानों के कहने से, सिखाने से अँगरेजों ने हिंदुस्तानी की ओट में उर्दू को देश की लोक-भाषा मान लिया और हिंदी को राजभाषा का पद न मिले इसलिए यह कहना आरंभ किया कि उर्दू मुसलमानों की भाषा है।

आगे चलकर फल यह हुआ कि लोग उर्दू को मुसलमानों की भाषा और हिंदी को हिंदुओं की भाषा मानने, कहने और पुकारने लगे। हमारे देश के नेताओं को यही भ्रम हो गया। वे यह समझते रहे कि कि उर्दू मुसलमानों की

भाषा है और हिंदी हिंदुओं की। पर यह बात असत्य है। उर्दू भले ही मुसलमानों की भाषा हो और उसमें भारतीय प्रवृत्ति से भले ही दूर हटने की वृत्ति हो, पर हिंदी हिंदुओं की ही भाषा नहीं है, वह हिंद की भाषा है। जो हिंदी को हिंदुओं की भाषा कहते हैं वे किस मुँह से हिंद की राजभाषा को हिंदुस्तानी नाम देना चाहते हैं। 'हिंदुस्तानी' में तो 'हिंदू' बैठा है। 'हिंदी' में 'हिंदू' है? 'हिंद' में हिंदू, सिख, पारसी, ईसाई, मुसलमान आदि सब हैं। 'हिंदुस्तानी' तो एकता का सूत्र उन्हीं की रीति-नीति से नहीं हो सकती जो हिंदू और मुसलमान को अलग-अलग मानकर फिर उन्हें जोड़ना चाहते हैं। हिंदुस्तानी की पुकार मचानेवालों की अभेद-नीति का पता इतने से ही ज्ञात हो जाता है कि भाषा का नाम तो एक रखने की सलाह दी जाती है—नाम रखा जाय हिंदुस्तानी, पर लिपियाँ दो रखना चाहते हैं—नागरी और फारसी। 'लिपि' नहीं, 'लिपियाँ' क्यों। चाहे आप नागरी रखिए या फारसी, लिपि तो एक ही होनी चाहिए। लिपि के दो रूपों से 'हिंदुस्तानी' शब्द के आग्रह का रहस्य स्पष्ट हो जाता है। हिंदुस्तानी का अर्थ एक भाषा, कम से कम इस नाम का आग्रह करनेवाले और इसके लिए दो लिपियों की आवश्यकता बतलाने वाले के मस्तिष्क में, नहीं है। 'हिंदुस्तानी' में हिंदी और उर्दू दो भाषाएँ छिपाई जाती हैं और यह मानकर छिपाई जाती हैं कि हिंदी तो हिंदुओं की भाषा है और उर्दू मुसलमानों की। हिंदीवालों ने कभी अपनी भाषा को हिंदुस्तानी नहीं कहा, इस देश के उन लोगों ने जिनकी मातृभाषा कोई प्रांतीय भाषा है उन्होंने कभी कभी हिंदी को 'हिंदुस्थानी' अवश्य कह दिया है। पर उर्दूवालों ने उर्दू को डंके की चोट हिंदुस्तानी कहना आरंभ कर दिया और हिंदुस्तानी की ओट लेकर उसका दफ्तरों और कचहरियों में तुरंत प्रचार कर लिया। विदेशी कोशों में हिंदुस्तानी का अर्थ दिया गया हिंदुस्तान के विजेता मुसलमानों की भाषा। अँगरेजी की प्रसिद्ध विश्वव्यापी डिक्शनरी—कंसाइज आक्सफर्ड डिक्शनरी—संसार को यही अर्थ बतलाती है, पर हिंदुस्तानी के हिमायती हिंदीवालों को यह दिखाना चाहते हैं कि हिंदुस्तानी का अर्थ न हिंदी है, न उर्दू।

यदि वे 'हिंदू' से भड़कते हैं तो ठीक है, वह साम्प्रदायिक हो सकता है, भले ही वह कभी अराष्ट्रीय नहीं हो सकता। पर 'हिंदी' से तो वे व्यर्थ चौंकते हैं। हिंदी न कभी सांप्रदायिक हुई है न कभी अराष्ट्रीय। न उससे कभी ऐसी संभावना ही है। यह कहना कि संयुक्त प्रांत (उत्तर प्रदेश) की भाषा हिंदुस्तानी हो, भारत (या अब भारतीय संघ) की भाषा हिंदुस्तानी हो स्पष्ट बतलाता है कि संयुक्त प्रांत और सारे देश की भाषा का एक ही स्वरूप उस व्यक्ति को भी मान्य है जो ऐसा कहता है। पर स्मरण रखना चाहिए कि संयुक्त प्रांत की भाषा हिंदी ही रही है, है और रहेगी।

इसका वास्तविक कारण यह है कि यहाँ की बोली, प्रांतीय या प्रादेशिक भाषा और राष्ट्रभाषा में सीधा संबंध चला आया है, अथवा यों कहिए कि हिंदी के कम से कम तीन रूप हैं। हिंदी बोली, हिंदी प्रांतभाषा और हिंदी राष्ट्रभाषा। वर्तमान समय में हिंदी बोली का नाम 'खड़ी बोली' है, वह संयुक्त प्रांत के पश्चिमी भाग में बोलचाल में चलती है, वही जनभाषा है, जिसे कुछ लोग 'जनपदीय' नाम देकर पृथक् करते हैं। जनपद, प्रांत या प्रदेश और राष्ट्र की दृष्टि से हिंदी के जो तीन रूप हैं उनमें से जनपदीय बोली उसका आधार है। जनपदीय बोली और हिंदी भाषा (प्रांतभाषा) में जो एकता है वह खड़ी बोली और उर्दू में अब नहीं रह गई। न जाने कितनी काट-छाँट करके उस पर अरबी-फ़ारसी का लबादा डाल दिया गया। भला आज की भाषा उर्दू कैसे हो सकती है। जीवित भाषा वही कही जाती है जो बोलचाल में चलती हो। इस अर्थ में खड़ी बोली—पछाहीं भाइयों के शब्दों में नागरी—ही जीवित भाषा है। बोलचाल की नागरी भाषा में ठेठ शब्दों का व्यवहार होता है, उसका रूप प्राकृत ही बना है। पर प्रांतभाषा, जिसमें साहित्य का निर्माण होने लगा, परिष्कृत और संस्कृत रूप लेने लगी, जैसे बंगाली, गुजराती और मराठी में परिष्कृत और संस्कृत रूप चलने लगे। जो हिंदी साहित्य में प्रयुक्त हो रही है वह संस्कृत शब्दों से युक्त है, जैसे अन्य प्रांतों की भाषाएँ संस्कृत शब्दों से युक्त हैं। स्मरण रखिए कि भारत की कोई भी आर्यभाषा जब साहित्य का निर्माण करने लगी तो उसमें संस्कृत शब्दों का मेल सदा से होता आया है, यह कोई नई बात नहीं है। यही दशा प्राकृत-काल में थी, यही अपभ्रंश-काल में थी और यही देशीभाषा-काल में भी है। अतः युक्तप्रांत की भाषा स्वभावतः वही भाषा है जो उच्च हिंदी या विशुद्ध हिंदी या संस्कृतबहुला हिंदी कहलाती है। मध्यप्रांत और बिहार की भाषा भी वही उच्च हिंदी है। साहित्यिक संबंध के कारण प्रांतीय भाषा की दृष्टि में युक्त-प्रांत, मध्यप्रांत और बिहार प्रांत में कोई स्वरूप-भेद नहीं है।

राष्ट्रभाषा हिंदी में संस्कृत का प्राधान्य रहे या न रहे इसमें विवाद हो सकता है, पर राष्ट्रभाषा हिंदी में ही बंगाली, मराठी और गुजराती के तथा तेलगू आदि के शब्द आ मिले हैं और चलते हैं। देश भर में घूमनेवाले व्याख्यानदाताओं, व्यासों नेताओं आदि की भाषा में भिन्न-भिन्न प्रांतों की जनपदीय बोली के कुछ शब्द और प्रयोग भी मिले रहते हैं। पर साहित्य की भाषा के रूप में प्रयुक्त भाषा स्वभावतः अन्य प्रांतीय शब्दों का व्यवहार नहीं करती, भक्तों ने जब रचना की है तो उन्होंने देश भर का विचार करके अन्य प्रांत के शब्दों का भी क्वचित् व्यवहार किया है। समाचारपत्र देश भर का विचार करके अन्य प्रांत के शब्दों का प्रयोग करते हैं।

उनकी भाषा राष्ट्रभाषा है। इनमें साहित्यिक लोगों के लेख भी छपते हैं। अतः विशुद्ध हिंदी के दर्शन भी हुआ करते हैं। इसलिए सारे देश की भाषा—चाहे राष्ट्रभाषा हो या राजभाषा—वह हिंदी है, उसमें मिश्रण होता है और हो सकता है, पर प्रांत की भाषा युक्तप्रांत (उत्तर प्रदेश) की भाषा तो विशुद्ध हिंदी ही है, उसमें बाहरी मिश्रण नहीं है और न होना चाहिए। चाहे वह प्रांत की जन भाषा हो चाहे राजभाषा।

अंतःप्रांतीयता का प्रश्न

देश की स्वतंत्रता के साथ ही देशी भाषा की स्वतंत्रता का प्रश्न भी लगा है। जब तक भारत परतंत्र था तब तक विदेशी भाषा भी उस पर शासन कर रही थी, किंतु अब विदेशी शासन के साथ ही साथ विदेशी भाषा का शासन भी हटना चाहिए, इसे प्रत्येक विचारशील स्वीकार करता है। इस देशमें विदेशी भाषाएँ यदि रह सकती हैं तो शासित के रूप में ही। भारत के लिए अँगरेजी ही विदेशी भाषा नहीं है, फारसी और अरबी भी विदेशी भाषाएँ हैं। अब यदि इन्हें या इनके शासन अथवा अनुशासन में चलनेवाली भाषाओं को शासिता के रूप में स्वीकृत किया जाय तो प्रश्न यह उपस्थित होता है कि शासिका भाषा कौन हो ! 'भारत' की 'अमरभारती' (संस्कृत) को यदि ज्यों का त्यों शासिका भाषा के रूप में ग्रहण करें तो भाषाविज्ञान की दृष्टि से वह अब कहीं की बोलचाल की भाषा न होने के कारण जनता के लिए कठिन और दुरूह हो गई है। पर यह निश्चित है कि जो भी भाषा भारत की लोकभाषा राष्ट्रभाषा या राजभाषा है या होगी उसके लिए अमरभारती (संस्कृत) की *प्रकृति ही नहीं प्रवृत्ति भी ग्रहण करनी होगी।* इस दृष्टि से जब देश की राजभाषा का विचार किया जाता है तो उर्दू और तमिल-समूह की भाषाओं को छोड़कर भारत की सभी साहित्यारूढ़ भाषाएँ संस्कृत की प्रकृति और प्रवृत्ति से युक्त दिखाई देती हैं। किंतु बँगला, मराठी, गुजराती, पंजाबी आदि प्रांतीय भाषाएँ वस्तुतः प्रांतीय भाषाओं के रूप में ही विकसित हुई हैं, इसलिए वे अपने-अपने प्रांत की भाषाएँ तो हो सकती हैं, पर उनमें से कोई एक सारे देश की भाषा नहीं बनाई जा सकती। उर्दू की प्रकृति देशी अवश्य है पर उसकी प्रवृत्ति विदेशी है अर्थात् उसका झुकाव अरबी, फारसी और तुर्की की ओर है। भाषाविज्ञान के विचार से तमिल-समूह की भाषाओं की प्रकृति संस्कृत से नहीं मिलती पर उनकी प्रवृत्ति संस्कृत की ही ओर है। उनकी प्रकृति चाहे 'अमर-भारती' (संस्कृत) से न मिले पर यह तो स्वीकार करना ही होगा कि उनकी प्रवृत्ति 'भारती' (देशी) अवश्य है। पर इन भाषाओं को भी प्रांतीय या प्रादेशिक

सीमा के भीतर ही रखा जा सकता है। अतः केवल हिंदी ही एक ऐसी भाषा बच जाती है जो संस्कृत से प्रकृति और प्रवृत्ति दोनों में औरों की अपेक्षा विशेष अनुकूल है और यही सारे देश के व्यवहार के काम में आ सकती है। प्राचीन काल में संस्कृत मूलतः मध्यदेश की भाषा थी और मध्यदेश की सीमा विभिन्न पौराणिक व्याख्याओं के अनुसार पूर्व-पश्चिम में दिल्ली से भागलपुर तक और उत्तर-दक्षिण में हिमालय से नर्मदा तक मानी गई है। इस प्रकार भारतीय संघ में पड़नेवाले दिल्ली, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रांत और बिहार की यही मूल भाषा थी। 'संस्कृत' का वह स्थान वर्तमान समय में 'हिंदी' को प्राप्त है और उक्त प्रांतों की वही आज वास्तविक भाषा है। जिस प्रकार संस्कृत मध्यदेश की भाषा होकर देश के शेष अंश उत्तर-दक्षिण पूर्व-पश्चिम में राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृत और गृहीत थी उसी प्रकार हिंदी भी है। सारे देश की व्यावहारिक भाषा का 'हिंदुस्तानी' नाम अँगरेजों का गढ़ा हुआ है और फोर्टविलियम कालिज की टकसाल में ढाला गया है। अँगरेजों के आने के पूर्व मुसलमानी शासन में राजभाषा के रूप में फारसी का व्यवहार होता था और मुगल दरबार के लाल किले में शाही व्यवहार के लिए अरबी और फारसी की छत्र-छाया में उर्दू का निर्माण कर लिया गया था। अँगरेजी शासन में भी बहुत दिनों तक फारसी भाषा ही राजभाषा के रूप में चलती रही। उसके स्थान पर देशी भाषा को राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए 'हिंदुस्तानी' नाम की कल्पना की गई और राजदरबार से सदा संलग्न रहनेवाले उर्दू के हिमायतियों ने उसके लिए 'हिंदुस्तानी' नाम सहर्ष स्वीकार कर लिया अथवा यों कहिए कि हिंदुस्तानी नाम की ओट में उन्होंने उर्दू को राजदरबारों और न्यायालयों में अधिष्ठित करा लिया। दूसरे शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि अँगरेजों के षड्यंत्र और उर्दूवालों की सलाम-साधना ने फारसी ज्यों की त्यों बनी रह गई। ग्रियर्सन साहब ने भी हिंदुस्तानी नाम का प्रयोग अपनी 'भारत की भाषाओं की जाँच-पड़ताल' में किया है और उसे उर्दू से पृथक् माना है। यही या ऐसी ही बात शासकों की ओर से जनता को समझा दी जाती थी, पर व्यवहार में 'हिंदुस्तानी' का अर्थ केवल उर्दू ही लिया जाता रहा है। आक्सफर्ड के प्रसिद्ध अँगरेजी कोश में 'हिंदुस्तानी' का अर्थ 'भारत के विजेता मुसलमानों की भाषा' लिखा गया है। अन्य विदेशी भाषाओं के कोशों में भी यही अर्थ दिया हुआ है। वर्तमान समय के देश के सर्वश्रेष्ठ नेता और संसार के सर्वश्रेष्ठ पुरुष महात्मा गांधी ने आरंभ में ही हिंदी की वास्तविकता को पहचाना और दक्षिण भारत में 'हिंदी-प्रचार' का आंदोलन खड़ा किया। 'हिंदी-प्रचार-सभा' की स्थापना हुई। यही नहीं, जहाँ जहाँ राष्ट्रभाषा हिंदी के समझने में लोगों को कुछ कठिनाई प्रतीत होती थी वहाँ वहाँ हिंदी का प्रचार किया गया। वे हिंदी-साहि-

त्य-सम्मेलन के सभापति बनाए गए और बने। किंतु अपने उदार हृदय के कारण उर्दू के राजसेवी व्यक्तियों के समझाने से वे 'हिंदी' के बदले 'हिंदुस्तानी' नाम की बात कुछ वर्षों से कहने लगे थे। पहले 'हिंदुस्तानी' के नाम पर शुद्ध 'उर्दू' सामने आती थी, उर्दू के विद्वानों के द्वारा व्यवस्थित होने के कारण उसका स्वरूप बहुत ही गठा हुआ और ग्राह्य होता था, पर इधर जिस 'हिंदुस्तानी' का प्रचार महात्मा गांधी की प्रेरणा से हुआ उसमें बेमेल खिचड़ी होती थी, इससे उसमें न तो हिंदी का प्राकृतिक सौंदर्य था और न उर्दू की स्वच्छता। वह भाषा इतनी कृत्रिम थी कि स्वतः उर्दू के विद्वान् उससे नाक-भौंह सिकोड़ते थे। ऐसी दशा में यदि 'हिंदुस्तानी' नाम की यही आधुनिक भाषा राजभाषा बनाई जाती तो वह देश के किसी प्रांत और किसी भाषाभाषी के काम की नहीं हो सकती थी। उर्दूवालों का काम भी उससे नहीं चल सकता था। भविष्य में इस नाम की ओट में फिर उर्दू अर्थात् फारसी का प्रसार इसलिए होता रहेगा कि राजकार्य और न्यायालय के लिए बहुत दिनों से लोगों ने अपनी जीविका के हेतु इसी भाषा को सीख रखा है। ऐसी परिस्थिति में हिंदी राजभाषा के रूप में दबी रहेगी इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। बात यहीं तक नहीं है। जिस प्रांतीय स्वतंत्रता का बीजारोपण नव भारतीय राज्यविधान में किया गया है और जिसे भावी युग में विधानपरिषद् भी बनाए रखेगी उसकी दृष्टि से प्रत्येक प्रांत को जैसे अन्य आंतरिक कार्य में स्वतंत्रता प्राप्त है उसी प्रकार भाषा के संबंध में भी। स्वभावतः प्रत्येक प्रांत में प्रांतीय भाषाओं के राजभाषा बनाए जाने पर जोर दिया जा रहा है और दिया जायगा। ऐसा होना भी चाहिए क्योंकि भारत की बँगला, मराठी, गुजराती आदि प्रांतीय भाषाएँ हैं, पर प्रांतों का कार्य इतने से ही संपन्न नहीं हो जाता। उन्हें अंतःप्रांतीय व्यवहार और देश की भाषा-गत सुलभता का विचार करके ऐसी एक भाषा को माध्यम के रूप में अवश्य स्वीकृत करना होगा जो प्रांतीय भाषा से भिन्न होगी। न्याय, सरलता, परंपरा, संस्कृति, व्यवहार आदि की दृष्टि से ऐसी अंतःप्रांतीय भाषा केवल हिंदी ही हो सकती है। इसलिए बंगाल, मद्रास, बंबई, मध्यप्रांत, उड़ीसा, असम आदि प्रांतों को अंतः-प्रांतीय व्यवहार के लिए हिंदी को ही स्वीकृत और घोषित करना चाहिए।

इधर यह भ्रम फैल गया या फैलाया गया है कि 'हिंदी' प्रांतीय भाषा है। अतः यदि एक प्रांतीय भाषा समग्र देश की भाषा या सर्वप्रांतीय अथवा अंतःप्रांतीय भाषा बनाई जाती है तो दूसरे प्रांत की भाषा को भी वही अधिकार प्राप्त है और होना चाहिए। बंगदेशीय भाइयों ने तो यहाँ तक कहना आरंभ कर दिया है कि बँगला भाषा अन्य सभी प्रांतीय भाषाओं में समृद्ध है और हिंदी की आधुनिक

प्रवृत्तियों को भी प्रभावित करनेवाली है इसलिए बँगला को ही राष्ट्रभाषा या अंतःप्रांतीय भाषा बनाना चाहिए। इस संबंध में यही कहना है कि हिंदी में आधुनिक साहित्य ही नहीं है, उसमें प्राचीन साहित्य भी है और उसकी समृद्धि के सामने संस्कृत को छोड़कर भारत में प्रचलित कोई भी भाषा टिक नहीं सकती। दूसरे उसका नाम ही बतलाता है कि किसी प्रांत से उसका संबंध नहीं है। बंगाली, गुजराती, मराठी, पंजाबी आदि नाम ही प्रांतीय स्वरूप के द्योतक हैं। 'हिंदी' नाम किसी 'हिंद' प्रांत से संबंध नहीं रखता। कुछ लोगों ने यही प्रांतीय भावना सामने रखकर यह कहना आरंभ किया था कि हिंदी संयुक्त प्रांत की भाषा है अतः इस प्रांत का नाम उलटे क्रम से चलकर 'हिंद' रख दिया जाय। पर ऊपर बताया जा चुका है कि हिंदी भाषा युक्त प्रांत मात्र की भाषा नहीं है उसके परिवेश के प्रांतों की भाषा भी है; आज से नहीं, मध्यकाल से। उसका नाम संस्कृत के 'अमरभारती' नाम से पृथक् करने के लिए कहीं-कहीं 'हिंदुस्थानी' मिलता है, 'हिंदुस्तानी' नहीं। उससे भी उसके सार्वदेशिक रूप का पता चलता है। 'युक्त प्रांत' नाम बतलाता है कि इसमें एक से अधिक प्रांत मिले हैं। इसके पुराने नाम में 'आगरा' और 'अवध' की उद्धरणी भी होती थी। ये ही दो प्रांत हैं जो इसमें मिले हैं। अवध प्रांत की भाषा अवधी है और आगरा प्रांत की भाषा मूलतः ब्रजभाषा है। हिंदी संयुक्त प्रांत की वैसी ही प्रांतीय भाषा है जैसे बिहार, मध्यप्रांत, दिल्ली आदि प्रांतों की। रजवाड़ों की चर्चा यहाँ जान-बूझकर नहीं की गई है। भारतीय संघ की भाषासंबंधी राजनीतिक समस्या के विचार से ही विषय-विमर्श किया जा रहा है। केवल युक्त प्रांत की स्थिति में अंतर यही है कि वर्तमान हिंदी का मूल आधार खड़ी बोली इस प्रांत के ब्रज अंश से भी संबद्ध है। वर्तमान हिंदी का बोली रूप किस प्रदेश में कहाँ से कहाँ तक फैला हुआ है इसका विचार-विमर्श स्वतंत्र निबंध की भूमि चाहता है। यहाँ यही कहा जा सकता है कि युक्त प्रांत के पश्चिमी अंचल में भी उसका बोली का रूप चलता है, पर वही और उतना ही उसका मूल स्थान है, ऐसी बात नहीं है। 'हिंदी' नाम के अंतर्गत जो वर्तमान भाषा आती है उसका आधार खड़ी बोली अवश्य है पर वह इस परिष्कृत या सा संस्कृत रूप में ज्यों की त्यों नहीं है। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए। वस्तुतः संस्कृत नाम के भीतर जैसे विभिन्न प्रवृत्तियों से युक्त उत्तरी, दक्षिणी, पूर्वी, पश्चिमी अंचलों की सभी भाषाओं का ग्रहण होता आया है वैसे ही 'हिंदी' नाम के अंतर्गत भी। संस्कृत यदि 'अमरभारती' है तो 'हिंदी' 'चलित भारती' है। उसका इसी से [illegible] में 'नागरी' नाम है। 'नागर' का अर्थ होता है संस्कृत-परिष्कृत। यदि 'हिंदी' नाम में प्रांतीयता नहीं तो उसके स्वरूप में कैसे प्रांतीयता हो सकती है,

और ऐसी स्थिति में जब कि यह नाम हिंदी भाषाभाषियों का रखा न होकर विदेशी मुसलमानों का रखा हुआ है। यदि हिंदी नाम प्रांतीय समझा जाय तो 'नागरी' नाम ग्रहण किया जाय। नागरी भाषा और नागरी लिपि दोनों में एकता हो जायगी। यदि यह भी स्वीकृत न हो तो 'अमरभारती' के अनुगमन पर 'भारती' ही नाम स्वीकृत हो, हिंदुस्तानी कदापि नहीं। हिंदुस्थानी भी नहीं, क्योंकि उसके द्वारा 'हिंदुस्तानी' का बोध ग्रहण होता रहेगा। 'हिंदुस्तानी' का अर्थ 'फारसी' और 'अरबी' लग गया है, उसका भाषा-क्षेत्र में 'भारती' अर्थ नहीं रहा।

साहित्यिक पलायनवादी क्यों ?

पहले तो 'प्रगतिवाद' के लिए स्थान करने की दृष्टि से प्रगतिवादी आलोचकों या प्रगतिवाद के हिमायतियों ने कविता-क्षेत्र में छाए हुए छायावाद या रहस्यवाद को लक्ष्य करके विलायती आलोचकों के 'सुर' में 'सुर' मिलाना या भरना आरंभ किया और कहा जाने लगा कि 'अनंत की सैर करनेवाले,' नैराश्य से सगाई रखनेवाले, 'मधु-मधु की पुकार मचानेवाले,' प्रेमपर बलिहार जानेवाले कवि पलायनवादी हैं, अर्थात् लोक की या देश की वर्तमान स्थिति से आँख मूँदकर ये अतींद्रिय जगत् की साकार कल्पना का स्वप्न देखनेवाले हैं, इनका देश-दुनिया से कोई लगाव नहीं। पर अब उनकी 'गुहार' का प्रभाव इतना संक्रामक होने लगा है कि विवेक से कार्य करनेवाले, नीति से काम निकालनेवाले राजनीतिक नेता केवल तल्लक्षण विशिष्ट कवियों को ही नहीं साहित्यिक मात्र को दबी जबान से पलायनवादी कहने लगे हैं। ऐसी परिस्थिति में यह आवश्यक नहीं अनिवार्य हो गया है कि छायावादी कवियों और साहित्यिकों के इस पलायन का विचार कर लिया जाय। अन्यथा साहित्यिक पलायनवादी ही नहीं और न जाने क्या क्या कहे जाने लगेंगे। पलायन के इस प्रपंच का विचार करने के लिए इस बात की आवश्यकता जान पड़ती है कि दोनों पक्षों की देश-दुनिया के संबंध में रहनेवाली दृष्टि का स्वरूप सामने कर लिया जाय।

प्रगतिवादी अपने अग्रज छायावादी को पलायनवादी या भगोड़ा इसलिए कहता है कि संसार में अर्थ के विभाजन का जो वैषम्य छाया हुआ है, उसके परिणाम-स्वरूप कुछ लोग तो चैन की बंसी बजा रहे हैं, गुलछर्रें उड़ा रहे हैं और कुछ ही नहीं बहुत से लोग प्राप्य जीवन-यापन-सामग्री के अपर्याप्त होने के कारण मर-पच रहे हैं, न पेट भर खाने को अन्न मिलता है और न तन भर ओढ़ने को वस्त्र। घोर श्रम करने पर भी अधिकतर जन अकेले अपना ही भरण-पोषण नहीं कर पाते, अपने आश्रितों और कुटुंबियों का समुचित लालन-पालन तो दूर की बात है, सपने की माया है। ऐसी क्रूरता से आँख मूँदकर यदि कवि अनंत के काल्पनिक राग गाता है, सुखी और समृद्ध जीवन के लिए उपलब्ध सामग्री और उपभोग्य जीवन के ही दर्शन कराता है तो वह जन-जीवन और लोकभूमि से परे की बातें उड़ाता है या उन्हीं कुछ लोगों के लिए काव्य का निर्माण करता है

अथवा उन्हीं कुछ लोगों का वह भी सगा भाई है, वह 'बुर्जुआ' है, सामंतवादी है, शोषक है। लोकसंघर्ष या जन-युद्ध का उसे ज्ञान नहीं, उसकी दृष्टि पथरा गई है। वह अंधा है अथवा भाग खड़ा हुआ है—सत्य की वास्तविक भूमि से। वह भगोड़ा है, कायर है, कच्चा है।

इसी से मिलता-जुलता पक्ष राजनीतिक प्रगतिवादी, जनवादी या राष्ट्रवादी का है। जिसे प्रगतिवादी जन-जीवन या लोक-लगन की दृष्टि से देखता है उसे राजनीतिक—आज का राजनीतिक—राष्ट्र या देश की दृष्टि से देखता है। पहला व्यक्ति श्रमजीवी की दृष्टि से देखता है, दूसरा मातृभूमि की–राज्यशासन की–दृष्टि से देखता है। पहला देश के अंतर्गत रहनेवाले वर्गों में से शोषित को शोषक की पराधीनता से मुक्त करना चाहता है और दूसरा देश पर ही छाए हुए विदेशी राजशासन से देश की पराधीनता को हटाना चाहता था। दोनों तत्तत् अस्वातंत्र्य की निवृत्ति चाहते हैं। उसमें प्रत्यक्ष योग न देनेवाले इनकी दृष्टि में पीठ दिखलानेवाले हैं; भले ही वे जनद्रोह या देशद्रोह करनेवाले नहीं, पर उनमें जनमोह या जनछोह और देशमोह या देशछोह वैसा नहीं जैसा होना चाहिए। वे अकर्मण्य हैं, आलसी हैं, निकम्मे हैं, साहसहीन हैं, लकीर पीटनेवाले हैं, आरामतलब हैं, कोरी भावुकता का स्वाँग रचनेवाले हैं, समय के साथ चलनेवाले नहीं हैं। यही नहीं वे दूसरों का छकड़ा भी कीचड़ में फँसा देनेवाले हैं, दूसरों को भी बहका ले जानेवाले हैं, आदि आदि।

ऊपर के निरूपण से पूर्व-पक्ष की ठीक ठीक स्थापना हो गई होगी। पर इसके साथ ही यह भी स्पष्ट हो गया होगा कि भले ही आगे चलकर प्रगतिवादी या राष्ट्रवादी इन लांछित लोगों के समक्ष अपनी-अपनी शाश्वत सिद्धांत-विशिष्ट दृष्टि स्पष्ट करें, किंतु संप्रति उनकी दृष्टि वर्तमान पर ही है, केवल समय के साथ है। अतः कहना चाहें तो कह सकते हैं कि ये अतीत, वर्तमान और भविष्यत् में से वर्तमान पर ही प्रधान दृष्टि रखनेवाले हैं और भविष्यत् पर यदि प्रधान नहीं तो गौण अवश्य। अथवा जो स्थिति ये चाहते हैं वह भविष्य के गर्भ में रहनेवाली उद्दिष्ट लोकस्थिति या देशस्थिति ही इनकी दृष्टि के समक्ष प्रमुख है और उसके प्रस्तुत करने में वर्तमान का योग आवश्यक है, अतः एक प्रकार से यही गौण है। वर्तमान से साधन का काम लिया जा रहा है, साध्य भविष्य ही है। वर्तमान कर्मभूमि है और भविष्य के गर्भ में भोगभूमि छिपी है। जो भी हो, वर्तमान और भविष्य पर ही इनकी दृष्टि है, यह तो निर्विवाद है। किस पर कैसी है, इससे कोई विशेष प्रयोजन भी नहीं। पर इनकी दृष्टि क्या अतीत पर भी है? कदापि नहीं। अर्थपरायण और राजपरायण या नीतिपरायण 'बीती ताहि बिसारि दे

आगे की सुधि लेय' ही कहा करते हैं। पुरानी बातें, पुरानी घातें, रूढ़ि, परंपरा उन्हें पसंद नहीं। केवल उतना ही पुरानापन उन्हें स्वीकृत हो सकता है, उतनी ही बीती बात उन्हें मान्य हो सकती है जितनी से आगे की सुधि सँभालने की घात लग सकती है। पुरानेपन को वे गड़ा मुर्दा कहते हैं। पर न तो 'मन' पुरानेपन को छोड़ पाता है और न मनोयोगविधायक साहित्य ही उससे नाता तोड़ पाता है। साहित्य यदि केवल नहीं तो प्रधान रूप से 'मन' का व्यापार करनेवाली पदार्थपरायण सत्ता है। शुद्ध बुद्धि का व्यवसाय उसमें न कभी 'केवल' रूप में हुआ है और न मन की भाव-भक्ति में लीन रहनेवाले उसके या उससे 'कैवल्य' की सिद्धि ही समझते हैं। हाँ, बुद्धि भावक्षेत्र के भीतर मनोरथ पर चढ़कर चाहे जहाँ की यात्रा करे, पर काव्य पर अधिकार बुद्धि का न रहेगा। वह चलेगा हृदय के ही आदेश पर, बुद्धि वहीं जाने की मनमानी कर सकती है, जो मन की मानी भूमि होगी। अनातोले फ्रांस ने ही कह दिया है कि तर्क या बुद्धि द्वारा सब कुछ सिद्ध हो सकता है, पर सत्य की उपलब्धि उससे संभव नहीं। वर्तमान समय में देश-विदेश के सभी महाकवि 'बुद्धि' या 'अकल' का यही 'दखल' दूर करने के प्रयास में लगे हैं। इसीलिए कि बुद्धि का ज्यों ज्यों प्राधान्य होता जायगा, लोक-जीवन उतना ही उलझता जायगा। वक्रता, गूढ़ता, कपट-छल आदि अनेक अभिनव वेश धारण करके सामने आने लगेंगे। साहित्य जीवन की इसी वक्रता को दूर करनेवाला है, उसका मार्ग ऋजु, सहज, स्वाभाविक है। वह कुटिल, विकृत और कृत्रिम का घोर विरोधी है।

साहित्य की राष्ट्रीयता क्या हो सकती है? वह उसके इस प्रकृत स्वरूप से बहुत स्पष्ट हो जाती है। साहित्य अपने वर्तमान स्वरूप तक पुराकालीन अनेक परंपराओं के बीच से होकर पहुँचता है, उसके इस स्वरूप में उसकी पुरानी परंपराएँ अपने पदचिह्न छोड़ जाती हैं। वह आगे बढ़ता हुआ, अपनी पुरानी धारा से अखंड, अविभाज्य रूप में नई धारा को मिलाते हुए बढ़ता है। ठीक इसी प्रकार उसकी दृष्टि जीवन के प्रति, राष्ट्र के प्रति, देश के प्रति भी होती है। या यों कहिए कि साहित्य जीवन और राष्ट्र को अखंड देखता है और अखंड दिखाना चाहता है। साहित्य का यह 'दर्शन' और उसका यह 'प्रदर्शन' जो नहीं समझ पाते, वे कभी-कभी उसके स्वरूप को भी पहचान नहीं पाते। यदि इस दृष्टि से देखें तो कह सकते हैं कि राजनीति बुद्धि को प्रभावित करके काम करना चाहती है और साहित्य हृदय को उल्लास, भावों को उद्बुद्ध करके कार्य-प्रवृत्त किया करता है। राजनीति साध्य के लिए बाहरी आधार खोजती फिरती है। वह प्रदर्शन, आंदोलन, हलचल, कोलाहल देखना-दिखाना चाहती है और साहित्य कहता है—

'मुखर कोलाहल कलह में मैं हृदय की बात रे मन !' वह दर्शन, मनन, भावन, चिंतन आदि में गंभीरतम स्तरों तक पहुँचना चाहता है। हलचल, कोलाहल उसमें न हो, ऐसा भी नहीं है। वह भीतर ही भीतर होता रहता है, भीतर ही भीतर उत्पन्न किया जाता है और उसका 'वेग' इतना तीव्र होता है कि यदि उसने विस्फोट किया या कराया तो उसे सँभालना कठिन होता है। साहित्य का विस्फोट हृदय की परिष्कृत वृत्तियों का विस्फोट होता है, उसका प्रभाव गहरा भी होता है और दूर तक भी। साहित्य का उद्देश्य गंभीर है, तुकबंदी, शब्द की तोड़-मरोड़ से बने लेखों, भाटों के कट-कर्र-टट आदि को या दरबारी लोगों की 'झुनझुन, टुनटुन', रंजन-गंजन-भंजन को ही जो साहित्य समझे बैठे हों उनकी बात निराली है। 'शब्द' मात्र काव्य नहीं है, उसमें 'रमणीय अर्थ' भी होना चाहिए।

राष्ट्र और देश पर आइए। 'राष्ट्र' सहसा नहीं खड़ा हो जाता। देश जादूगरों के छूमंतर से नहीं बना करता, वह अपनी अतीत-कालीन संस्कृति, अपनी भौगोलिक स्थिति और अपनी प्राकृतिक परिस्थिति भी साथ-साथ लिए रहता है। राष्ट्र में विभिन्न जातियाँ, विभिन्न भाषाएँ आदि हुआ करती हैं पर इसका यह तात्पर्य कभी नहीं होता कि केवल मत-वालों की हठधर्मी के लिए देश की संस्कृति, राष्ट्र की संस्कृति का विनाश कर दिया जाय। राम, कृष्ण, अर्जुन, महावीर, बुद्ध, नानक, रामदास, प्रताप, शिवाजी आदि वीरों या महात्माओं को भारत कैसे भूल सकता है। गंगा-यमुना, हिमालय-विंध्य, रसाल-बकुल, सरोज-कुमुद, कोयल-चातक उसके साहित्य के अविच्छिन्न अंग हैं। जो गेहूँ के पौदे को दस हाथ ऊँचा बताते हों, जो महुए का नाम सुनकर नाक-भौंह सिकोड़ते हों, जो घर की रखवाली करने के कारण कुत्ते को दो रोटियाँ दे देते हों, पर बंदर बिल्ली आदि के अपना हिस्सा ले भागने पर डंडा लेकर टूट पड़ते हों, जो घर के पनाले में लगे वासुदेव को ही न उखाड़ फेंकते हों ग्रीष्मकाल में सुखद छायाप्रद महापिप्पल को भी 'विष का घूँट' पिला-पिलाकर अपनी हवेली उठाने के लिए गिराते हों, जो किसानों से सभ्यता-भिमान के कारण बात करना तक पसंद न करते हों, मजदूरों की दुर्दशा पर बड़े-बड़े व्याख्यान दे देना चाहे उनका व्यवसाय ही क्यों न हो, वे केवल विलासी ही नहीं हैं, सच्चे भारतवासी भी नहीं हैं, और साहित्य की दृष्टि से, मन की दृष्टि से सच्चे मनुष्य भी नहीं हैं। साहित्य मन को मारकर बुद्धि को सिंहासन पर नहीं बिठाना चाहता, वह दोनों का योग चाहता है। 'समत्वं योग उच्यते' ही उसका भी सिद्धांत है। आज बुद्धि का व्यवसाय अधिक हो जाने से वह मन की साधना में लीन है। वह बुद्धि, तर्क, अहम् को उतना ही लेना चाहता है जिससे मन का वेग रुकने भी न पाए और प्रबल होकर 'प्रमाथी' भी न हो सके। अतः भारत का

साहित्यिक 'मन' को सन्तोष देने और वर्तमान कार्यप्रणाली में प्रवर्तन का उत्साह जगाने के लिए उसे उस अतीत की सैर कराता है जिसमें भारत स्वतंत्र था, सभ्यतम नहीं तो सभ्यतर अवश्य था। जो वर्तमान जीवन की कल्पना परंपरा से संघटित रूप के आधार पर न करके, थोड़े दिनों से सभ्य बनकर सारे विश्व का शासन करने की अहंता की भावना में मरने-पचनेवाली जातियों की अनुकृति मात्र से बने जीवन को सब कुछ समझते हैं उनकी बात उठाना व्यर्थ है, पर जिन्हें अपनी प्राचीन सभ्यता का अभिमान है, जो समझते हैं कि विज्ञान के क्षेत्र में न सही, ज्ञान के क्षेत्र में दूसरों को देने के लिए हमारे पास बहुत सामग्री है, हमारा अपना भी स्वरूप है या यदि वह विकारग्रस्त हो गया है तो अपने ढंग से, अपने परंपरागत रूप से उसे फिर ठीक कर सकते हैं, वे कभी नहीं कह सकते कि साहित्यिक पलायनवादी हैं ?

जो वर्तमान जीवन को ही साहित्य में संग्रथित करना उद्देश्य समझते हैं, जो अपने देश की जानकारी केवल अर्थ के नाम पर कराना चाहते हैं, उसकी एक एक विभूति के दर्शन द्वारा उसका परिचय कराना नहीं, वे हमारे जीवन को खंडित क्या, खंड-खंड कर देना चाहते हैं। हिमालय को वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भवभूति ने देखा, राम, अर्जुन, महावीर, बुद्ध, अशोक, चंद्रगुप्त ने निहारा, सूर, तुलसी आदि ने ताका, मुहम्मद तुगलक, अकबर आदि ने निरखा, भारतेंदु, दिनकर आदि ने पुकारा। क्या उसके साथ इतनी भावनाएँ लिपटी हुई किसी साहित्यिक के हृदय में नहीं आतीं ? जो सच्चा साहित्यिक है वह कभी अपनी इस अखंडता का त्याग नहीं कर सकता। रसखानि को जब हम यह कहते हुए सुनते हैं कि 'भागीरथी हम दोष-भरे पै भरोस यही कि परोस तिहारे' तो 'इन मुसलमान हरिजनन' पर 'कोटिन हिंदू वारिए' मुख से बरबस निकल पड़ता है। ये वचन साहित्य के क्षेत्र में भारत की आधुनिक राष्ट्रीयता की नीवँ देनेवाले भारतेंदु के हैं। हमें तो हिंदी अर्थात् हिंद की जन-जनव्यापिनी भाषा में निर्मित सारे साहित्य में चंदबरदाई से लेकर दिनकर तक राष्ट्रीयता के दर्शन होते हैं। कुछ थोड़े से रीतिकालीन शृंगारी कवियों की राष्ट्रीयता कुछ दब गई है, पर उनमें क्या राष्ट्रियता थी, इसका विचार फिर कभी किया जायगा। सर्वश्री द्विवेदीजी, बालमुकुंद गुप्त, प्रेमचंद्र, हरिऔध, श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, नवीन, प्रसाद, निराला, पंत, रामचंद्र शुक्ल, नंददुलारे वाजपेयी, दिनकर, जैनेंद्र, जहूरबख्श, नटवर आदि क्या पलायनवादी हैं ? यदि नहीं, तब फिर हम साहित्यिक पलायनवादी क्यों ?

साहित्य की सामाजिकता

रस-प्रक्रिया में 'सामाजिक' शब्द का प्रयोग बारंबार हुआ है। अभिनवगुप्त 'नाट्यशास्त्र' की टीका में लिखते हैं—

यो मूलबीजस्थानीयात् कविगतो रसः। कविर्हि सामाजिकतुल्य एव। ततो वृक्षस्थानीयं काव्यम्। तत्र पुष्पादिस्थानीयोऽभिनयादिनटव्यापारः। तत्र फलस्थानीयः सामाजिकरसास्वादः, तेन रसमयमेव विश्वम्।

—अभिनवभारती, पृष्ठ २९५।

दशरूपककार धनंजय लिखते हैं—

भावानुभावयन्तः सामाजिकान् सभ्रूविक्षेपकटाक्षादयो रसपोषकारिणोऽनुभावाः।

—दशरूपक, ४-३।

अन्यत्र, नाट्यशास्त्र ही नहीं काव्यशास्त्र के आचार्य भी कहते हैं—

स्थायिव्यभिचारलक्षणं चित्तवृत्तिविशेषं सामाजिकजनः अनुभवन् अनुभाव्यते साक्षात्कार्यते यैः ते अनुभावाः।

—काव्यानुशासन, २

सामाजिकेषु तदभावे तत्र चमत्कारानुभवविरोधात्। नच तज्ज्ञानमेव चमत्कारहेतुः।

—काव्यप्रदीप।

लक्षण-ग्रंथों में ही नहीं, लक्ष्य-ग्रंथों में भी इसकी चर्चा है—

तेन हि तत्प्रयोगादेवानुभवतः सामाजिकानुपास्महे।

—मालतीमाधव, १ इत्यादि।

संप्रति रस-प्रक्रिया की आधुनिक मीमांसा होने लगी है, पर 'सामाजिक' की ओर किसी की दृष्टि नहीं गई, समाजवादियों की भी नहीं। अच्छा तो 'सामाजिक' कौन? रस का आस्वाद लेनेवाला। ऊपर अभिनवगुप्तपादाचार्य ने 'रसमयं विश्वम्' कहते हुए फल-रूप में रस का आस्वाद लेनेवाले को 'सामाजिक' नाम से अभिहित किया है। यही क्यों! उन्होंने 'कविर्हि सामाजिकतुल्य एव' कहकर

कवि और सामाजिक की भी एकवाक्यता कर दी है, उन्हें समानधर्मा कह दिया है। कवि में 'रस' बीज-रूप में रहता है, सामाजिक के पास वह फलवत् आता है। रस की सफलता सामाजिक के कारण है, यह भी कहा जा सकता है। रस सफल होता है सामाजिक के निकट। रस-प्रक्रिया को आचार्यपाद ने सर्वत्र व्याप्त तो कह दिया पर उसकी परिपूर्णता सामाजिक में ही होती है। उसके विकास या परिपाक का चरम अधिष्ठान सामाजिक का हृदय है। अस्तु। यह 'सामाजिक' पद बना कैसे? 'समाज' ही से न? समाज क्या है। अमरकोश कहता है—

वृन्दभेदाः समैर्वर्गः संघसार्थौ तु जन्तुभिः।
सजातीयैः कुलं यूथं तिरश्चां पुंनपुंसकम्॥
पशूनां समजः अन्येषां समाजः अथ सधर्मिणाम्।
स्यान्निकायः........................॥

जंतुओं के वृंद का नाम संघ-सार्थ, तिर्यक्-वृंद का नाम यूथ, पशुओं का समज और अन्यों का समाज होता है। अन्यों में मनुष्य आदि हैं। तात्पर्य यह कि मनुष्य-समूह 'समाज' कहलाता है। इस समूह का ही, इस समाज का ही अंग 'सामाजिक' है। रस का आस्वाद लेनेवाला, समाज का प्राणी सामाजिक है। जो समाज का न होगा वह सामाजिक नहीं हो सकता। समाज की भावना से जो ओतप्रोत न हो, वह सामाजिक कैसा।

इस सामाजिक के लिए ग्रंथों में एक शब्द और आता है—सहृदय।

इत्युपदेशं कवेः सहृदयस्य च करोति।

—काव्यप्रकाश, १

परिष्कुर्वन्त्यन्ये सहृदयधुरीणाः कतिपये

—रसगंगाधर।

इत्यादि काव्येषु सहृदय-हृदय-सागरसमुच्चलद्राकामृगांकप्रतिबिंबेषु।

—अभिनवभारती, पृष्ठ २२३, आदि आदि।

अच्छा तो यह 'सहृदय' कौन है? श्रीभानुजी दीक्षित लिखते हैं—

'सहृदयः सह हृदयेन।'

जो हृदय के साथ हो। हृदय तो प्राणिमात्र में होता है अतः वे फिर लिखते हैं 'प्राणिमात्रस्य तथात्वादत्र प्रशस्तहृदयपरत्वं हृदयशब्दस्य'। सहृदय शब्द की व्याख्या में यह प्राशस्त्य या तो काम चलाना है अथवा प्राशस्त्य का अर्थ समानहृदयता है। 'प्रशस्तहृदयपरत्व' के बदले 'समानहृदयत्व' क्यों न मान जाय और 'प्रशस्तहृदयमस्य' के बदले 'समानं हृदयमस्य' क्यों न

जो आश्रय के हृदय से अपना हृदय मिला सके, जो अपने हृदय को दूसरे के हृदय से मिला सके, उसके हृदय की समानुभूति कर सके। समानुभूति के बिना सहृदयता किस काम की? इस प्रकार रस का आस्वाद लेनेवाले, फल चखनेवाले के दो नाम हुए—सामाजिक और सहृदय। समाज की भावना के अनुरूप आस्वाद लेनेवाला। दूसरे के हृदय में अपना हृदय डालकर समानुभूति करनेवाला। एक नाम बाह्यविषयत्व के कारण है, दूसरा आभ्यंतरिक गुण के कारण। दोनों की विशेषताएँ दो भिन्न दृष्टियों से हैं और दोनों के अर्थ एक दूसरे के पूरक हैं। 'सामाजिक' को 'सहृदय' होना चाहिए और 'सहृदय' को 'सामाजिक' होना चाहिए। कहाँ? रसचर्वणा में। संक्षेप में इसका तात्पर्य यह हुआ कि समाजगत भावना का तथा हृदयगत भावना का ग्राहक ही सहृदय-सामाजिक है। इसको विश्लिष्ट करके यों भी कह सकते हैं कि यदि काव्य में समाजगत अनुभूति की अभिव्यक्ति न हो, सर्वसामान्य अनुभूति की व्यंजना न हो, तो सामाजिक के लिए वह अग्राह्य हो सकती है, उद्वेगजनक चाहे न हो। 'अग्राह्य' कहने में भी बाधा हो तो कह सकते हैं कि पूर्णतया ग्राह्य नहीं हो सकती। व्यक्तिगत अनुभूति सामाजिक के आस्वाद में विघ्न नहीं तो अपरिपूर्णता तो ला ही सकती है। काव्य में कुछ ऐसे प्रसंग भी आया करते हैं जिन्हें 'रसाभास' कहा गया है। यह 'रसाभास' और कुछ नहीं है, जहाँ सामाजिक अनुभूति के विपरीत या अननुकूल वैयक्तिक अनुभूति काव्य में आ जाती है वहाँ रसाभास हो जाता है। जैसे समाज की मर्यादा के अनुसार किसी का पिता या गुरु आदर का भाजन होता है। यदि कहीं पिता या गुरु के प्रति अनादरव्यंजक आचरण हो तो वह रसाभास का हेतु होगा। यदि कोई पुत्र अपने पिता को पीट रहा हो और कवि इसका वर्णन करके पुत्र के क्रोध से रौद्र रस की व्यंजना कराना चाहे तो उसे सफलता न होगी। यहाँ रौद्र रस न होगा, उसका 'आभास' हो सकता है। इस बाधा का कारण क्या है? यही न कि पिता के प्रति पुत्र का क्रोध उचित नहीं है! क्रोध के औचित्य में हेतु क्या है? समाज की मर्यादा। 'समाज' ही वस्तुतः रस-विधान का, उसके औचित्य का साधक है। रस-भंग का कारण अनौचित्य होता है, असामाजिकता होती है। इसी से सामाजिक रस का पूर्ण या ठीक अनुभव नहीं कर पाता। तो यह क्यों न कहा जाय कि 'रस-प्रक्रिया' में सामाजिकता ही प्रमुख है। 'औचित्य-विचार' का दूसरा नाम 'सामाजिकता-विचार' है। केवल किसी की चित्तवृत्ति का प्रतिपादन ही काव्य नहीं है, वस्तुतः काव्य में सामाजिकता-विधायक निर्माण अपेक्षित है। यदि यह न माना जायगा तो सभी वक्ता कवि हो जायँगे। अभिनवगुप्त पादाचार्य कहते हैं—

न तु सर्वो वक्ता कविरित्यतिप्रसंगलक्ष्यमाणप्रबंधबंधुरं काव्यनिर्मातृत्वं हि कवित्वं, न चित्तवृत्तिप्रतिपादकत्वम्।

—अभिनवभारती, २ पृ० २२।

औचित्यानौचित्य का सारा विचार उन्होंने सामाजिकता की ही दृष्टि से किया है। रीति-बद्ध कविता रचनेवाले कितने ही कृतियों ने औचित्य का विचार किए बिना ही अलंकारों की योजना कर दी है। यदि कोई करुण प्रसंग में यमक की कारीगरी दिखाने बैठे तो क्या कहा जायगा? यही न कि कविजी सामाजिकता से कोसों दूर हैं! 'यम' के प्रसंग में 'यमक' न लाना ही बुद्धिमानी है; यथार्थ से, सामाजिक व्यवहार से, इसका मेल नहीं। इसीसे अभिनवगुप्तजी कहते हैं—

अनौचित्यनिबंधस्तु करुणविप्रलंभादौ यमकस्य।

—अभिनवभारती, २, २९९।

कोई अद्यतन समाजसेवी यदि कहे—'माना कि रस में सामाजिकता है, पर संप्रति समाज-सेवा का जो उदात्त भाव चारों ओर फैला है, क्या उसकी भी समाई रस-प्रक्रिया में है? शृंगारादि के साथ शांत की चर्चा करके जगद्विरागविषयक शांत की स्थापना तो रसाचार्यों ने कर दी, पर इस उदात्त सामाजिकता, राष्ट्रीयता आदि का भी कोई विचार हुआ या हो सकता है?' तो उसे भी निराश न होना चाहिए। महामहिम आचार्यों ने उसकी भी चर्चा की है। रसतरंगिणीकार भानुदत्त बड़े ही तार्किक और स्वच्छदृष्टि-संपन्न रसविमर्शक हो गए हैं। उन्होंने शांत की प्रतिद्वंद्विता में एक रस की विलक्षण कल्पना की है, उसमें अद्यतन सामाजिक व्यवहार की पूरी समाई हो सकती है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार निवृत्तिमूलक शांत रस होता है उसी प्रकार प्रवृत्तिमूलक रस भी हो सकता है—

चित्तवृत्तिर्द्विधा प्रवृत्तिर्निवृत्तिश्च। निवृत्तौ यथा शांतरसस्तथा प्रवृत्तौ मायारस इति प्रतिभाति। एकत्र रसोत्पत्तिरपरत्र न इति वक्तुमशक्यत्वात्।

यदि कोई कहे कि अन्य रसों में ही इसका अंतर्भाव क्यों नहीं कर देते, तो उसका उत्तर देते हुए वे कहते हैं—

न च स रतिरेव। तर्हि स कस्यास्तु व्यभिचारी। न शृंगारस्य तद्वैरिणो बीभत्सस्यापि। न हास्यस्य। तद्वैरिणः करुणस्यापि तत्र सत्त्वात्। अतएव न करुणस्यापि। न भयानकस्यापि रौद्रस्य तद्वैरिणोऽद्भुतस्यापि तत्र सत्त्वात्। अतएव नाद्भुतस्यापि। न वीरस्य। तद्वैरिणो तत्र सत्त्वात्। अतएव न भयानकस्यापि। नापि शान्तस्य तद्विरोधित्वात्।

यदि यह कहा जाय कि रस सामान्य नाम है, शृंगार आदि उसके विशेष रूप हैं, तो वे कहते हैं कि यह भी ठीक नहीं—

न च सामान्य एव रत्यादिरेषां इतरे भवन्तीति । शान्तरसस्य तर्हि रसाभा-मास्ते । किन्तु विशुद्ध एव । रतिहासशोकक्रोधोत्साहभयजुगुप्साविस्मयाल्लसन्तो विलीयन्ते च । तेन सर्वे ते व्यभिचारिभावा इति ।

माया रस का पेट बहुत बड़ा है । शृंगारादि रसों के स्थायी भाव उसमें संचारी का काम करते हैं । वस्तुतः शृंगारादि अन्य रसों में विभावादि व्यक्तिरूप में रहते हैं । आश्रय का आलंबन व्यक्तिबद्ध भूमि पर स्थित रहता है, पर माया रस में सारा समाज आलंबन हो जाता है, अतः उसकी परिसीमा बृहत् है । इसके अन्य अंगों का भी उन्होंने उल्लेख किया है—

लक्षणं च मद्धमिथ्याज्ञानवासना मायारस इति । मिथ्याज्ञानमस्य स्थायिभावः । विभावाः मातापितृलोकार्थ पर्यालोचनाः । अनुभावाः पुत्रकलत्रविषय-सत्कारादयः ।

इसमें 'विषयसत्कारादयः' विशेष ध्यान देने योग्य है । इनसे माया रस की स्थिति स्पष्ट हो जाती है । कांग्रेस दल, संघशासन के रूप में जो समाज-सेवा-पर लोककार्य चल रहे हैं वे 'माया रस' की सीमा के भीतर आते हैं । आधुनिक समाज-सेवियों को इसमें दो बातें अच्छी न लगेंगी । एक तो इस रस को 'माया' कहना तथा इसके 'स्थायिभाव' को मिथ्याज्ञान मानना । यह नाम किसी को न रुचे तो वह रस का नाम 'समाज रस' रख ले । स्थायीभाव 'लोकज्ञान' कह ले । समझना तो यह है कि पुराने आचार्यों ने समाज और लोक-भावनात्मक अनुभूति को भी रस की सीमा तक जानेवाला माना है, उसकी महत्ता, उसकी व्याप्ति स्वीकार की है ।

शृंगारादि रसों का आस्वाद लेनेवाला 'सामाजिक' ही था, साथ ही सामाजिक प्रवृत्ति की अनुभूति भी रसात्मक मानी गई । प्रगतिवादी बंधु आलोचना के क्षेत्र में चाहें तो 'समाज-रस' की घोषणा करके नूतन आलोचना को रस की पुरानी दृष्टि से भी पोषित कर सकते हैं । भारतीय आचार्यों की परंपरा नवीनोद्भावना, नवीन स्थापना में साहसपूर्वक अग्रसर होती रही है । उसमें सामाजिक समाजोन्मुखी वृत्ति के बीज आरंभ से ही थे । जनता की दृष्टि से ही साहित्य की अवतारणा हुई । साहित्य-साधना रूढ़ि से बँधकर चलनेवाली न थी । उसे बाँध दिया कुछ रूढ़ि-प्रेमियों ने । स्वच्छंदता का मार्ग किस प्रकार साहित्य ने पकड़ा या आधुनिक शब्दावली में कहें तो कह सकते हैं कि 'कैसी क्रांति की' इसका संकेत भरत मुनि के नाट्यवेद की उद्भावना से ही मिल जाता है—

न वेदव्यवहारोऽयं संश्राव्यः शूद्रजातिषु । तस्मात् सृजापरं वेदं पंचमं सार्ववर्णिकम् ॥

'शूद्रजातिषु' का पक्ष लेकर साहित्य-सर्जना की गई, पर 'सार्ववर्णिक' ।

साहित्य एकांगदर्शी नहीं माना गया। भारत रूढ़ियों का त्याग सामाजिक-सार्वभौम दृष्टि से निरंतर करता आया, अन्यत्र चाहे जो हो साहित्य न वर्गभेद मानता है, न स्त्रीपुंनपुंसकादि का लिंग-भेद, जहाँ तक उसकी रस-प्रक्रिया का संबंध है; क्योंकि वह सामाजिकता के साधारणीकरण के साम्यभाव पर टिकी है। जो अपने अज्ञान, अशक्ति, आलस्य, स्वार्थ आदि से उसका आलोड़न-मंथन करना ही त्याग दें उनकी 'प्रगति' 'सद्‌गति' नहीं कही जा सकती। 'नव नव' की पुकार बहुत मच रही है, पर 'प्राचीन' में क्या 'नव' है इसे देखने का साहस भी कोई नहीं करता।

यहाँ एक बात और कह देनी है। साहित्य की सामाजिकता की व्याप्ति कुछ अधिक दूर तक है। समाज में रहनेवाले मानव-वृंद तक ही नहीं, वह पशुओं के 'समज' और पक्षियों के 'यूथ' तक जाती है। आदिकवि महर्षि वाल्मीकि का 'शोक' 'श्लोकत्व' में परिणत हुआ क्यों? क्रौंच-वध से। जो अपने 'मद' में केवल व्याध और वाल्मीकि को देख पाते हैं, और अपने अज्ञान से व्याध तथा वाल्मीकि को विभिन्न वर्गों का प्रतीक कह बैठते हैं उन्हें ऐतिह्य का मनन करना चाहिए। वाल्मीकि भी पहले व्याध ही थे। उन्होंने शूद्रक-वध के पूर्व रावण-वध भी कराया था। क्यों? सामाजिकता की साधना के लिए। सीता-त्याग भी इसीलिए। भव-भूति का 'आराधनाय लोकस्य' का स्मरण कर लीजिए। वह सामाजिकता किसी को आदर्श न जान पड़े, यह दूसरी बात है। पर हुआ सब सामाजिकता की ही दृष्टि से, 'स्व' के स्थान पर 'पर' का विशेष ध्यान रखनेवाली सामाजिकता की नीति से।

निष्कर्ष यह कि जो रस-प्रक्रिया को आत्मपर्यवसायी मानते हैं उन्हें उसकी विश्वविषयता या सामाजिकता का ध्यान करना चाहिए। जो कहते हैं कि प्राचीन रस-प्रक्रिया समाज के काम की नहीं उन्हें उसको समझने का अभ्यास डालना चाहिए। साहित्य में 'बाल-वचन' नहीं 'बुध-वचन' की साधना होती है। 'बाल-वचन' अनर्थ भी होते हैं, उनसे अनर्थ भी होता है। पर 'बुध-वचन' सार्थक ही होते हैं, उनसे अर्थसिद्धि ही होती है। इसी से अभिनवगुप्त पादाचार्य के उन वचनों की ओर फिर चलना चाहिए—

'कवि में रस बीजवत् रहता है। कवि सामाजिक के तुल्य ही है। काव्य रस का थाला होता है। नटों के कार्य फूल होते हैं। सामाजिक का रसास्वाद फल होता है। सारा विश्व रसमय है।'

यहाँ यह भी कह दें कि आचार्यपाद की यह व्याख्या कोई अलौकिक व्याख्या नहीं। सब कुछ लौकिक है। रस वृक्ष का यह विचार लौकिक दृष्टि से, सांप्रतिक

दृष्टि से बड़े काम का है। इसमें सामाजिकता का स्थान सर्वोपरि है। सारी सरसता उसी में है। अभिनव तथा पण्डितराज आचार्यों ने रसप्रक्रिया को चाहे दार्शनिक दृष्टि से अलौकिक कहा हो, कहें। पर नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरत ने उसे लौकिक ही कहा है, कहीं अलौकिक शब्द का उल्लेख नहीं। क्योंकि उन्हें साहित्य में लौकिकता या सामाजिकता का ही विचार करना था। समाजवादी, साम्यवादी और प्रगतिवादी साहित्य में इस सामाजिकता का भी कुछ विचार करें।

साहित्य में व्यष्टि और समष्टि

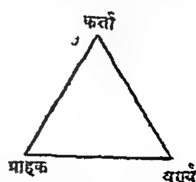
इस 'प्रश्न' का 'उत्तर' देने के लिए सबसे पहले 'साहित्य' की निरुक्ति आवश्यक है। 'साहित्य' शब्द 'सहित' से बना है। 'सहित' पद का प्रयोग आरंभ में 'शब्द' और 'अर्थ' के सहितत्व के लिए हुआ। 'शब्द' का तात्पर्य है 'ध्वनि' 'उच्चरित वर्ण' या 'पद' और 'अर्थ' का तात्पर्य है वह 'पदार्थ' या 'वस्तु' जिसके लिए वह 'ध्वनि' की गई है। 'पदार्थ' की व्युत्पत्ति ही इसको बतलाती है कि 'पद' का 'अर्थ', लक्ष्य, बोध्य। इससे स्पष्ट हुआ कि 'साहित्य' में 'शब्द' या 'पद' और 'अर्थ' या 'बोध्य' वा 'वस्तु' का माहात्म्य है। संसार का सारा वाङ्मय 'शब्द' और 'अर्थ' के ही ग्रहण से स्वीकार्य होता है। वह चाहे शास्त्र हो, चाहे इतिहास और चाहे काव्य। पर सर्वत्र 'शब्द' और 'अर्थ' की एक सी स्थिति नहीं होती। शास्त्र या वेद में शब्द की प्रधानता रहती है, उसका शब्द बदला और अर्थ का अनर्थ हुआ। वेद के लिए शब्द का कितना महत्त्व है, 'स्वरतोऽपराधान्मृत्युः' की कथा का स्मरण कर लें। 'इंद्रशत्रु' शब्द का अशुद्ध उच्चारण करके वृत्रासुर के पुरोहित ने 'वृत्र' को मार ही डाला। वेदों के ही लिए 'शब्द-प्रामाण्य' माना गया। वेदों की आज्ञा स्वामी की आज्ञा है, जो शब्द उच्चरित हुआ उसका अक्षरशः पालन होना चाहिए। वह प्रभुसंमित होता है।

इतिहास-पुराण में 'शब्द' नहीं 'अर्थ' की महत्ता है। शब्द कुछ भी हो, उसका तात्पर्य उसका बोध्य ही काम का होता है। पुराणों में एक ही बात भिन्न भिन्न स्थानों और भिन्न भिन्न रूपों में आई है, कहीं कहीं परस्पर विरोध भी होता है। कहीं सज्जनों की महिमा होगी तो कहा जायगा कि सज्जन दुर्जनों को भी बदल देते हैं, कहीं दुर्जनों की लघिमा होगी तो कहा जायगा कि दुर्जन कभी बदल नहीं सकते। ऐसी परस्पर विरोधी बातें, यदि शब्द को मुख्य माना जाय तो, कभी ठीक न मानी जायँगी। इसी से पुराणेतिहास के तात्पर्य-निर्णय में 'अर्थवाद' का महत्त्व है। एक स्थान पर सज्जन की महत्ता साध्य है, दूसरे पर दुर्जन की बृहत्ता या लघुता। एक सज्जनता की पराकाष्ठा के लिए, दूसरा दुर्जनता की परावधि के लिए।

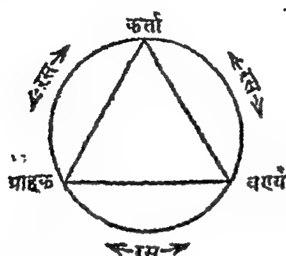
है, यहाँ शब्द कुछ नहीं, अर्थ ही सब कुछ है। वेद-शास्त्रों का 'शब्दवाद' यहाँ नहीं, यहाँ 'अर्थवाद' है। अर्थ प्रधान है। सुहृद् की भाँति ये कोई अर्थ समझाना चाहते हैं, अपने शब्दों के अक्षरशः पालन पर जोर नहीं देते।

किंतु 'साहित्य' में शब्द और अर्थ का सहितत्व यह है कि इसमें शब्द भी प्रधान और अर्थ भी प्रमुख। साहित्य न शब्द को छोड़ सकता है न अर्थ को। इसमें दोनों का तुल्य-बल होता है। इसमें वेद के 'शब्दवाद' और पुराण के 'अर्थवाद' का सांकर्य है, संश्लेष नहीं, दोनों नीरक्षीर की भाँति मिले हैं, तिल-तंदुल की भाँति नहीं। दोनों शिव-शक्ति की भाँति संपृक्त हैं गिरीश-गिरिश की भाँति संयुक्त नहीं। दोनों जल-तरंग की भाँति भिन्नाभिन्न हैं जल-तट की भाँति श्लिष्टाश्लिष्ट नहीं। कविता रमणी है जिसका बाह्य और अभ्यंतर दोनों रमणीय होते हैं। काव्य न रमणीय अर्थ है, न अर्थ का प्रतिपादक शब्दमात्र। वस्तुतः 'साहितौ शब्दार्थौ काव्यम्' ही ठीक है। 'साहित्य' के 'सहित' का विशेष अर्थ है। पर 'साहित्य' का विच्छेद केवल 'सहितस्य भावः या सहितयोः भावः' करके रह जाना घोर संकुचित सीमा में उसे घेर देना है। 'सहितानां भावः' भी साहित्य ही है। साहित्य की इसी व्याप्ति के कारण राजशेखर ने कहा कि ऐसी कोई विद्या, कला, शास्त्र नहीं जो 'साहित्य' में 'सहित' न हो सके। संक्षेप में यह कि साहित्य की व्याप्ति संसार की सभी प्रकार की विद्याओं से अधिक है। साहित्य का पेट बहुत बड़ा है,. साहित्य का पेटा बहुत लंबा है और साहित्य की पेटी बहुत भारी है। जो लोग साहित्य को किसी विद्या या नीति का अंग माने बैठे हैं उन्हें आँखें गड़ाकर इसका स्वरूप देख और समझ लेना चाहिए। यह कोई आधुनिक व्याख्या नहीं है। पुराने भारतीय आचार्य ऐसा ही मानते आए हैं। कोई उनकी न सुनकर बहक जाय तो इसमें बहकनेवाले का दोष है, बहकानेवाले का लोभ है; न साहित्य का अवगुण, न साहित्य के आचार्यों का स्वार्थ।

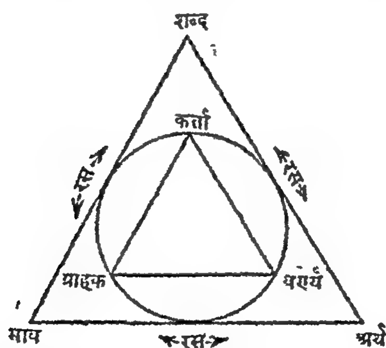
अब साहित्य की निरुक्ति के अनंतर उसके निर्माण की सीमाओं का अंकन कीजिए। साहित्य का निर्माता, अपना निर्माण त्रिकोणात्मक करता है। एक शीर्ष पर वह रहता है दूसरे पर वर्ण्य और तीसरे पर ग्राहक। साहित्य या काव्य के निर्माण में कर्ता वर्ण्य की जिन अनुभूतियों का अनुभव सामने रखता है ग्राहक उनका ग्रहणकरता है। अनुभूतिया भाव की धारा तीनों में से प्रवाहित होती है। वर्ण्य की जिस भाव-धारा का प्रवाह कर्ता की वाणी से



फूटता है वह ग्राहक के हृदय-प्रदेश में प्रवाहित होकर एक वृत्त बनाता है। भारतीय आचार्य इसे ही 'रस' कहते हैं। इस प्रकार ऊपर का त्रिकोण वृत्त का परिधिव्यापी अंतःस्थ त्रिकोण है—

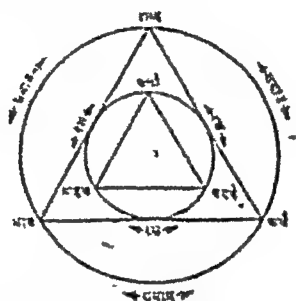


रसमीमांसा में भारतीय आचार्यों ने 'अर्थ' का बोध्य केवल 'वस्तु' को न मानकर 'भाव' को माना है। शास्त्रीय शब्दों में वस्तु-व्यंजना के स्थान पर भाव-व्यंजना का महत्त्व स्वीकार किया है। भाव-व्यंजना से ही रस संभव है। वस्तु-व्यंजना रह सकती है, पर साहित्य की, रस की प्रक्रिया में 'भाव' उसका चरम लक्ष्य है। इस प्रकार इसके लिए शब्द, अर्थ और भाव तीनों का महत्त्व है। शब्द का सीधा संबंध कर्ता से, अर्थ का वर्ण्य से और भाव का ग्राहक से होता है। शब्द, अर्थ और भाव के त्रिकोण में ही इसका वृत्त अवस्थित है—



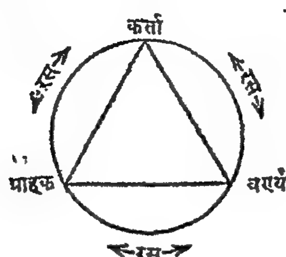
कर्ता में शब्द कहाँ से आता है। परा, पश्यंती, मध्यमा और वैखरी से मेरा तात्पर्य नहीं। जंगलों में रहनेवाला भी इन चतुर्विध वाणी के स्वरूपों का अभिज्ञान हो सकता है, पर साहित्य में जिस वाणी का व्यवहार होता है वह समाज की देन है। भाषण की शक्ति नहीं, भाषा का ज्ञान ही सही। यही स्थिति 'अर्थ' या वस्तु की है। हमारे अंतःकरण में जो रूपसागर लहराता रहता है वह समाज का ही देना है। समाज के ही नाना रूप मानस में संचित होते रहते हैं और वे

ही वाणी के द्वारा अभिव्यक्त होते हैं। हमारे भीतर जो कुछ संचित होता है सब बाहर का, समाज का होता है। जो भाव उठते हैं वे भी उन्हीं रूपों के कारण जो बाहर या समाज में या समाज के होते हैं। यदि समाज न हो तो साहित्य भी न होगा। यदि साहित्य हो तो समाज भी होगा। समष्टि ही साहित्य में अभिव्यंजित है अतः साहित्य और समाज का वृत्त शब्दार्थ-भाव के त्रिकोण को आवृत किए हुए है। रेखा चित्र के विधान से देखिए—

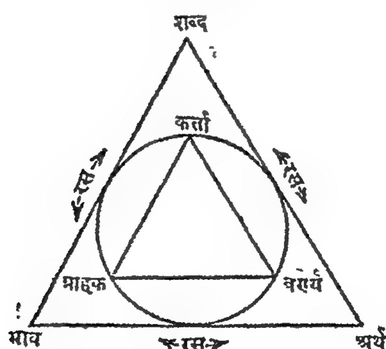


इस प्रकार साहित्य में समाज (समष्टि) का महत्त्व स्पष्ट है। पर साहित्य का निर्माण किसी व्यक्ति के द्वारा होता है। यदि एक ही विषय का वर्णन भिन्न-भिन्न व्यक्ति करें तो उनमें भिन्नता होगी। प्रश्न होता है कि साहित्य में इस भिन्नता का महत्त्व माना जाय या समष्टि की अभिन्नता का। भिन्नता या व्यक्ति का संबंध केवल कर्ता से नहीं, ग्राहक से भी है, वर्ण्य से भी है। जैसे कहनेवाला व्यक्ति, वैसे ही कहा जानेवाला व्यक्ति, वैसे ही सुननेवाले या देखनेवाले, समझनेवाले या ग्रहण करनेवाले, पढ़नेवाले श्रोता, दर्शक, प्रेक्षक, सहृदय, ग्राहक या पाठक व्यक्ति। राम, सीता व्यक्ति, तुलसीदास व्यक्ति, हम-आप व्यक्ति अथवा विशेष। बिना विशेष के न साहित्य बन सकता है, न समाज। फिर व्यक्ति का महत्त्व है या जाति का। विशेष का महत्त्व है या साधारण का। इसका उत्तर यही है कि राम, सीता की अनुभूति न तुलसी की हो सकती है, न तुलसी की अनुभूति हमारी आपकी हो सकती है। कोई यदि सर्वसामान्य भावना न हो तो राम, तुलसी और हम आपका एकीकरण नहीं हो सकता। इसी से कहा जाता है कि साहित्य में विभावादिकों की साधारणीकृति होती है। राम राम न रहकर मनुष्य रह जाते हैं। तुलसी तुलसी न रहकर मनुष्य रह जाते हैं। हम आप हम आप न रहकर मनुष्य रह जाते हैं। इसी प्रकार जितने भी पदार्थ या अवयव हैं सभी असाधारण या विशेष न रहकर साधारण हो जाते हैं। साहित्य में 'विशेष' व्यवहार के लिए है, उसके स्वरूप का पता साधारण से चलता है। यदि कोई कर्ता ऐसा भाव

फूटता है वह ग्राहक के हृदय-प्रदेश में प्रवाहित होकर एक वृत्त बनाता है। भारतीय आचार्य इसे ही 'रस' कहते हैं। इस प्रकार ऊपर का त्रिकोण वृत्त का परिधिव्यापी अंतःस्थ त्रिकोण है—

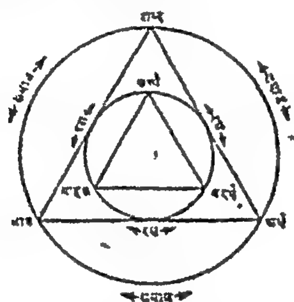


रसमीमांसा में भारतीय आचार्यों ने 'अर्थ' का बोध्य केवल 'वस्तु' को न मानकर 'भाव' को माना है। शास्त्रीय शब्दों में वस्तु-व्यंजना के स्थान पर भाव-व्यंजना का महत्त्व स्वीकार किया है। भाव-व्यंजना से ही रस संभव है। वस्तु-व्यंजना रह सकती है, पर साहित्य की, रस की प्रक्रिया में 'भाव' उसका चरम लक्ष्य है। इस प्रकार इसके लिए शब्द, अर्थ और भाव तीनों का महत्त्व है। शब्द का सीधा संबंध कर्ता से, अर्थ का वर्ण्य से और भाव का ग्राहक से होता है। शब्द, अर्थ और भाव के त्रिकोण में ही इसका वृत्त अवस्थित है—



कर्ता में शब्द कहाँ से आता है। परा, पश्यंती, मध्यमा और वैखरी से मेरा तात्पर्य नहीं। जंगलों में रहनेवाला भी इन चतुर्विध वाणी के स्वरूपों का अभिधान हो सकता है, पर साहित्य में जिस वाणी का व्यवहार होता है वह समाज की देन है। भाषण की शक्ति नहीं, भाषा का ज्ञान ही सही। यही स्थिति 'अर्थ' या वस्तु की है। हमारे अंतःकरण में जो रूपसागर लहराता रहता है वह समाज का ही देना है। समाज के ही नाना रूप मानस में संचित होते रहते हैं और वे

ही वाणी के द्वारा अभिव्यक्त होते हैं। हमारे भीतर जो कुछ संचित होता है सब बाहर का, समाज का होता है। जो भाव उठते हैं वे भी उन्हीं रूपों के कारण जो बाहर या समाज में या समाज के होते हैं। यदि समाज न हो तो साहित्य भी न होगा। यदि साहित्य हो तो समाज भी होगा। समष्टि ही साहित्य में अभिव्यंजित है अतः साहित्य और समाज का वृत्त शब्दार्थ-भाव के त्रिकोण को आवृत किए हुए है। रेखा चित्र के विधान से देखिए—



इस प्रकार साहित्य में समाज (समष्टि) का महत्त्व स्पष्ट है। पर साहित्य का निर्माण किसी व्यक्ति के द्वारा होता है। यदि एक ही विषय का वर्णन भिन्न-भिन्न व्यक्ति करें तो उनमें भिन्नता होगी। प्रश्न होता है कि साहित्य में इस भिन्नता का महत्त्व माना जाय या समष्टि की अभिन्नता का। भिन्नता या व्यक्ति का संबंध केवल कर्ता से नहीं, ग्राहक से भी है, वर्ण्य से भी है। जैसे कहनेवाला व्यक्ति, वैसे ही कहा जानेवाला व्यक्ति, वैसे ही सुननेवाले या देखनेवाले, समझने-वाले या ग्रहण करनेवाले, पढ़नेवाले श्रोता, दर्शक, प्रेक्षक, सहृदय, ग्राहक या पाठक व्यक्ति। राम, सीता व्यक्ति, तुलसीदास व्यक्ति, हम-आप व्यक्ति अथवा विशेष। बिना विशेष के न साहित्य बन सकता है, न समाज। फिर व्यक्ति का महत्त्व है या जाति का। विशेष का महत्त्व है या साधारण का। इसका उत्तर यही है कि राम, सीता की अनुभूति न तुलसी की हो सकती है, न तुलसी की अनुभूति हमारी आपकी हो सकती है। कोई यदि सर्वसामान्य भावना न हो तो राम, तुलसी और हम आपका एकीकरण नहीं हो सकता। इसी से कहा जाता है कि साहित्य में विभावादिकों की साधारणीकृति होती है। राम राम न रहकर मनुष्य रह जाते हैं। तुलसी तुलसी न रहकर मनुष्य रह जाते हैं। हम आप हम आप न रहकर मनुष्य रह जाते हैं। इसी प्रकार जितने भी पदार्थ या अवयव हैं सभी असाधारण या विशेष न रहकर साधारण हो जाते हैं। साहित्य में 'विशेष' व्यवहार के लिए है, उसके स्वरूप का पता साधारण से चलता है। यदि कोई कर्ता ऐसा भाव

साहित्य में लाए जिसका वर्ण्य में होना संभव न हो, ग्राहक के द्वारा जिसका ग्रहण संभव न हो तो वह किसी सर्वनिष्ठ या सर्वव्यापी वृत्त के घेरे में न आ सकेगा। यदि कोई कर्ता अपनी ऐसी अनुभूति सामने लाता है जिसकी सीमा उसका परिवार या घर या प्रिय है, उसकी यह अनुभूति यदि सर्वव्यापी समाज या सामाजिक से उसका लगाव नहीं रख सकती तो वह साहित्य के काम की नहीं हो सकती, कर्ता के ही काम की हो सकती है। कर्ता दूसरों की अनुभूति, रूप आदि का ग्रहण प्रतिबिंब के रूप में करता है। राम आदि के भाव बिंब हैं। तुलसी आदि रामकाव्य लिखनेवालों के हृदय में उस बिंब का प्रतिबिंब रहता है। ग्राहक उस प्रतिबिंब को अपने मानस में प्रतिबिंबित करता है। इस प्रकार उनका एकीकरण हो जाता है। साहित्य की सत्ता, प्रातिबिंबिक सत्ता है, प्रातिभासिक नहीं। साहित्य सत् का प्रतिबिंब है, असत् का भ्रम नहीं। जो साहित्य को असत् कहकर उसकी अवहेलना करते हैं उन्हें उसकी इस सत्ता को समझने का अभ्यास करना चाहिए।

इस प्रकार स्पष्ट हो गया होगा कि साहित्य की व्याप्ति के लिए समष्टि को व्यापक और व्यक्ति को व्याप्य मानना चाहिए। व्याप्ति के लिए व्यापक को माना जाय या व्याप्य को इसका निर्णय कोई भी तार्किक या नैयायिक कर सकता है। वस्तुतः व्यक्ति का महत्त्व पश्चिमी देशों की अनुकृति के कारण बारंबार सामने किया जाता है, जहाँ साहित्य का लक्ष्य मनोरंजन है और जहाँ साहित्य कला है। भारत में साहित्य का लक्ष्य मनोरंजन नहीं, रसानुभूति या मनोमुक्ति है। जिसके अनुसार रंजन (रजोगुण) और स्वार्थ (तमोगुण) का अत्यंताभाव हो जाता है तथा असत् के स्थान पर केवल सत् का, सत्य का उद्रेक हो जाता है, व्यक्तित्व का—विशेष का—समष्टि या साधारण में लय हो जाता है। वह 'भग्नावरण चित्' रह जाता है। 'अहंता' का 'समष्टि' में लय यह भारतीय सूत्र है, 'समष्टि' से 'अहंता' का पार्थक्य यह विदेशी प्रक्रिया है। पर-भाव में स्व-भाव का लोप यह यहाँ का साहित्य कहता है। स्वभाव का चित्रण यह पश्चिमी साहित्य चाहता है। एक द्वैत या भिन्नता से अद्वैत या अभिन्नता की ओर जाता है, दूसरा अद्वैत और अभिन्नता से द्वैत और भिन्नता की ओर बढ़ता है। द्वैत के बिना जगत् की, 'अहम्' की अभिव्यक्ति नहीं, अद्वैत के बिना सत् की, रस की प्राप्ति नहीं। इसी से 'रसो वै सः' भारत मानता आया है। उसके लिए इदम् (जगत्) और अहम् (व्यक्ति) के कारण कोई बाधा नहीं, वह 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' भी मानता है और 'अहं ब्रह्मास्मि' का भी उद्घोष करता है। संक्षेप में यों कह सकते हैं कि ज्ञानयोग, राजयोग की भाँति साहित्य का भी 'भावयोग' है। यह व्यक्ति या व्यष्टि

या समष्टि में लोप मानता है। यहाँ साध्य समष्टि है, साधक व्यक्ति है, साहित्य भाव-साधना है। समाज लक्ष्य है, सामाजिक ग्राहक है और सामाजिकता साहित्य-धर्म है। इसी से पश्चिमी साहित्य उचितानुचित का विचार न करे, न करे। पर यहाँ साहित्य को, सामाजिक को उचित का विचार करना पड़ता है। यहाँ औचित्य का विचार साहित्य में आवश्यक है, मर्यादा उसके लिए अपेक्षित और अनिवार्य है। व्यक्ति अपने 'स्व' के भीतर उचित का विचार न करे, न करे; पर समाज के विचार में 'पर' का विचार आवश्यक है। यहाँ, 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' की विधि से 'स्व' को 'पर' तक जाना पड़ेगा। यहाँ 'औचित्य' का विचार प्रधान है, 'वक्रोक्ति' का नहीं—

औचित्यादृते नान्यत् रसभंगस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषद् परा॥

साहित्य इसी से यहाँ वह 'कला' नहीं जहाँ व्यक्तित्व का प्राधान्य मान्य हो सकता है। कला को यहाँ उपविद्या माना गया है, वह साहित्य-क्रिया में सहायता कर सकती है। साहित्य को व्यक्तित्व-प्रधान मानना भारतीय दृष्टि से उसे नीचे गिराना है, स्वामी को सहायक बना देना है। साहित्य में कौन सी दृष्टि संमान्य हो भारतीय समष्टि-दृष्टि या पश्चिमी व्यष्टि-दृष्टि इसका निर्णय आपसे आप हो सकता है। साहित्य की व्याप्ति दूर तक करनी हो तो समष्टि को मानिए। उसकी व्याप्ति अपने घर, गाँव, प्रांत आदि तक ही करनी हो तो विशेष या व्यक्ति को मानिए। साहित्य में रहेंगे दोनों ही। व्यक्ति की प्रधानता होगी तो वह 'मैं, मैं' चिल्लाता रहेगा, सब उसकी बातें सुनें चाहे न सुनें। समष्टि की प्रधानता होगी तो सब उसकी सुनेंगे, भले ही यह भूल जायँ कि किसकी सुन रहे हैं।
